आचार्य अभिनवगुप्त का लोचन-एक समालोचनात्मक मूल्यांकन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

शोधकर्त्री

कु० अञ्जलि अष्ठाना

निर्देशक

डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल डी० लिट्०

रीडर संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१९७९ ई०

दुर्धरं ज्ञानविज्ञानवां भव्यकूपारपारगम् ।
वन्देऽभिनवगुप्ताख्यं ज्ञानवारिधिमुद्धरम् ॥

प्राक्कथन

काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का आविर्भाव वैसे ही हुआ है जैसे रजनी और दिवस के मध्य प्रभातारुण का। विविध मत के अंधेरों के प्रकाश से झिलमिलाती साहित्यशास्त्र की विभावरी एकाएक आनन्द वरणीयय से चमक उठी। समस्त तमिस्रा विगलित हो गई और सर्वत्र प्रकाश-पुंज पसर गया। तदनन्तर प्रारम्भ हुआ साहित्यशास्त्र के अभिनव दिवस का, जिसमें काव्य का कोई कोना मणी-मणिक सिरजे बिना नहीं बचा। उसका प्रत्यंग अपनी सहज सुषमा से चमक उठा और उसका वास्तविक स्वरूप, जो अदृश्य-दृश्य में केवल कल्पना के रूप में था, प्रत्यक्ष प्रकट हो गया।

ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व का काव्यशास्त्रीय चिंतन जैसे आनन्दवर्धन के अवतार की पूर्व पीठिका थी, अथवा उनकी श्यामल परछाईं, उसके बाद का चिंतन उन्हीं का प्रतिबिम्ब-मात्र अथवा उस दीपशिखा का प्रकाश। पूर्ववर्ती आचार्य जिस व्यंग्य-अर्थ को मणी-मणिति, अथवा लक्षणोक्ति, आक्षेप, अनक्ति इत्यादि अलंकारों में ही देख रहे थे, उस व्यंग्यार्थ-रूपी वाङ्मय के वास्तविक वैशिष्ट्य को आनन्द-वर्धन की तत्त्वान्वेषिणी सूक्ष्म दृष्टि ने ही पहचाना। व्यंग्य-अर्थ को अपनी उक्ति का सर्वस्व बनाकर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों ने अपनी काव्य-साधना की थी। वह उनकी काव्य-प्रतिभा का मूल बीज था। उसे उस रूप में नहीं समझने के कारण परवर्ती आचार्य महाकवियों की काव्योक्तियों का सही स्वरूप निर्धारण ही नहीं कर सके। दुर्भाग्य से ये महाकवि स्वयं आचार्य नहीं थे कि अपनी कविता की मीमांसा में काव्यशास्त्र-ग्रन्थ लिखकर उसका वास्तविक परिचय देते। परिणामतः शताब्दियों तक अटकल पच्चियाँ चलती रहीं और केवल आनन्दवर्धन की लेखनी के साथ वह तत्त्व वास्तविक रूप में अदृश्य लोक से प्रगट हो सका, जो इन महाकवियों की काव्य-साधना का मूल बीज था और कविता-कामिनी का सर्वस्व लावण्य था। काव्य में व्यंग्य-अर्थ को सभी आचार्यों ने पहचाना था, किन्तु उसकी प्रत्यभिज्ञा आनन्दवर्धन को ही हुई - उसका

वास्तविक स्वरूप आनन्दवर्धन की प्रज्ञा ने ही बताया --'काव्यस्य प्रत्यभिज्ञेयौ तौ ध्वन्यार्थौ प्रकाशयतः'। और उन्होंने इस व्यंग्य अर्थ को प्रधान-रूप से अभिव्यक्त करने वाले काव्य को ध्वनि संज्ञा दी। विरुद्ध भावनाओं के होते हुए भी आनन्दवर्धन का सिद्धान्त विद्वानों के मध्य मान्य हुआ। यहां तक कि उनके प्रकाश को कौन अस्वीकार कर सकता है। ध्वनि-सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप प्रकाश में आ जाने पर, यही काव्यशास्त्र का केन्द्र बन गया।

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की रचना के साथ ही उसकी टीका टिप्पणी प्रारम्भ हुई। कुछ टीकाकार मुख्य रूप से उसके विरोध के लिए प्रवृत्त हुए, और कुछ ने अपनी अपरिपक्व अथवा अतीव बुद्धि के नाते उसके सिद्धान्तों का ग्राह्य परिचय किया। फलतः ध्वनि के विषय में न केवल विशेष अपितु उपहासात्मक विरोध प्रारम्भ हुआ, और यह आंधी तब समाप्त हुई, जब लगभग १५० वर्ष पश्चात् 'लोचन' टीका की रचना हुई। इससे ध्वनि के केन्द्र गूढ़ तत्व स्पष्ट हो गए। किन्तु, आनन्दवर्धन का चिंतन गूढ़ होते हुए भी प्रभु उन्हीं में था, जब कि अभिनव गुप्त की प्रखर प्रतिभा ने अपने 'लोचन' को इतना सम्पन्न बनाया कि वह तरह-तरह से बौद्धिक हो गया और साधारण पेटुच्य के पाठकों के लिए दुराकृष्य बन गया। 'लोचन' में जब वे अपना मालेख देते हैं तब वह साधारणतः पकड़ में नहीं आता और ऐसा प्रतीत होता है कि यही मूलानुसारी व्याख्यान है, कुछ भी उत्कूल नहीं। ऐसे अनेक स्थल हैं, और वे स्थल इतने मार्मिक एवं महत्व के हैं कि वहां अपना मत रखकर अभिनव गुप्त ने पूरे सिद्धान्त का स्वरूप ही बदल दिया और यह ध्वनि-सिद्धान्त आनन्दवर्धन का नहीं, अभिनव गुप्त का-सा हो गया। वर्धित ही राजा बन गया। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में लोचन-व्याख्यान में निहित स्वतन्त्र मतों को इंगित करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत समीक्षा पांच अध्यायों में विभक्त हो गई है :- प्रथम अध्याय- विषय-प्रवेश। द्वितीय अध्याय- सिद्धान्तपक्ष। तृतीय अध्याय- दार्शनिक विवेचन। चतुर्थ अध्याय- ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में लोचन का मूल्यांकन। पंचम अध्याय- लोचन का परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय पर प्रभाव।

प्रस्तुत शोध कार्य में प्रवृत्त करने का श्रेय मुख्य मुख्यतः डा० पद्मिका प्रसाद शुक्ल जी को है। श्रेय मुख्यतः का अर्थ है यह आंशिक रहा है - बौद्धिक दासता

के परिवेश में उसका मुक्त रूपकर एवं विभिन्न कोणों से उसका अध्ययन करना । उन्हीं के निर्देशानुसार प्रस्तुत अध्ययन किया है । यह-प्रयास कहां तक सफल हुआ है उसके लिए विद्वान् सहृदयजन ही प्रमाण हैं ।

शोध कार्य की वास्तविक प्रेरणा देने वाले तथा छात्रों के प्रति सारल्यपूर्ण व्यवहार करने वाले श्रद्धेय गुरुवर्य डा० आचार्यप्रवर श्रिव के प्रति मुझे सुख होता है, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उन्हीं के आशीर्वाद का एक मूर्त रूप है । मुझमें साहित्यिक चेतना को जागरित करने वाले परम आदरणीय गुरुवर्य डा० पद्मिनीप्रसाद शुक्ल जी के सम्मुख श्रद्धावनत हूं, उन्हीं के स्नेह एवं उपदेश से यह शोध-प्रबन्ध सम्पन्न हो सका । व्याख्यिसिद्धान्त पर उच्च अनेक ग्रन्थरत्न लिखे गए हैं । मैंने यत्किंचित् प्रयत्न किया है कि उनमें दृष्टिगत विचार-मणियों का पूर्ण उपयोग करूं तथा उनके आदर्श मार्ग का यथासम्भव अनुसरण करूं । अतः मैं इन गौरव ग्रन्थों तथा उनके मनीषी लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूं ।

गंगानाथ झा-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट के प्रति आभारी हूं, जहां से पुस्तकें सुलभ होती रहीं । प्रयाग विश्वविद्यालय-पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने लेखों, पत्रिकाओं एवं दुर्लभ पुस्तकों को देने की व्यवस्था की । श्री गंगाधर तिवारी ने प्रस्तुत प्रबन्ध को यथाशक्ति अल्प समय में टंकित किया है, उसके लिए अत्यन्त आभारी हूं । टंकण कार्य में जो अनिवार्य असुविधाएं रह गई हैं, उनके लिए विनय पूर्वक क्षमाप्रार्थी हूं ।

व्याख्या-गौरव विद्वानों के कर कमलों में श्रद्धा समर्पित करते हुए मुझे कविकुल गुरु की यह पंक्ति बराबर याद आ रही है -

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवे ।
हेतुः संजायते कोऽपि वाग्विशेषः स्वयम्भुवः ।।

विनीता

अंजलि अग्रवाल

विषयानुक्रमणी

प्राक्कथन १-३

प्रथम अध्याय

(पृष्ठ १-२१

विषय प्रवेश

१- संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का स्थान -१
२- ध्वन्यालोक की टीका लोचन -६
३- लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त -७
क. जीवनवृत्त -७
ख. कृतियाँ -९
ग. आचार्य अभिनवगुप्त एक आलोचक और व्याख्याकार -१०
४- विषय की उपयोगिता तथा उसका महत्व -१५
५- अवतन कृतियों का आकलन -१६
क. ध्वन्यालोक लोचन के संस्करण -१६
ख. उपलब्ध आलोचनात्मक कृत्यों का आकलन -१८

द्वितीय अध्याय

(पृष्ठ २२-१३०)

सिद्धान्त पक्ष

ध्वन्यालोक में विषय योजना -२२
१- ध्वनि के विरोधी मतों का पूर्वपक्ष और उनका समाधान -२३
क. अभावादी -२३
ख. लक्षणावादी -२५
ग. अभिधेयतावादी -२६
घ. ध्वनि विरोधी मतों का समाधान -२७

२. काव्य से पृथक् व्यंग्य अर्थ की सत्ता एवं महत्ता -३१
३. काव्य भेद -३६
४- ध्वनिकाव्य -४०
ध्वनि काव्य के भेद -४१
क. असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यत्व अविवक्षितवाच्य -४१
क.१. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य -४२
क.२. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य -४३
ख. विवक्षितान्यवाच्य -४४
ख. १. असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य -४४
रसभेद -४५
रसपुनरुक्ति -४६
ख. २. क्रमानुरणनरूपव्यंग्य -४८
शब्दशक्तिमूलक -४८
पदपक्षाश्रय अलंकाररूपव्यंग्य
वाक्यपक्षाश्रय अलंकाररूपव्यंग्य
अर्थशक्तिमूलक - ५८
वस्तुव्यंग्य
कविप्रौढोक्तिसिद्ध
स्वतःसम्भवि
अलंकारव्यंग्य
अलंकारपक्षाश्रय
वस्तुपक्षाश्रय
५- गुणीभूतव्यंग्य काव्य - ६६
गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेद -६६
तिरस्कृतवाच्य - ६६
अतिरस्कृतवाच्य -६७
असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य -६८
रसादिअलंकार
क्रमानुरणनरूपव्यंग्य -७०
वस्तु रूप -७०
अलंकाररूप -७१

काव्य के वाच्यत्व गुणीभूतव्यंग्य -७२
६. व्यंग्यों का प्राधान्याप्राधान्य विवेक -७३
७. ध्वनि सम्मिलण -७४
संकर : अनुग्राह्यानुग्राहकभाव -७४
सन्देह -७५
स्वतंत्रतानुप्रवेश -७५
८. चित्रकाव्य -७६
९. शब्द व्यापार -७८
क. वाचकत्व -७९
ख. गुणवृत्ति -७९
ग. व्यंजकत्व -८२
ग. १. वाचकत्व और व्यंजकत्व -८२-८०
ग. २. वैयाकरण और व्यंजकत्व -८५
ग. ३. गुणवृत्ति और व्यंजकत्व -८६
ग. ४. अनुमान और व्यंजकत्व -८७
१०- गुण
माधुर्य -९१
ओज् -९१
प्रसाद -९२
११- अलंकार -९३
ध्वनि काव्य में अलंकार -योजना -९५
१२. संघटना का स्वरूप और ध्वनि काव्य में उसका महत्व. -९८
१३. ध्वनि काव्य में वृत्ति तत्व -१०३
१४. दोष -१०४
१५. कविशिक्षा -१०५
रसों का विरोध अविरोध विचार -१०५
रस योजना -१०६
प्रबन्ध में रस-योजना -११३
प्रबन्ध में विरोधी रस की योजना के उपाय -११४

प्रबन्ध रचना में प्रतिभावान् कवि की भीवृद्धि -११६
१. अवस्था भेद से नवीनता -१२२
२. देश भेद से नवीनता -१२४
३. काल भेद से नवीनता -१२५
४. स्वातन्त्र्यवन्त्र्य से नवीनता -१२६
५. शक्ति वैचित्र्य से नवीनता -१२६
६. भाषा वैचित्र्य से नवीनता -१२६
उपसंहार -१२८
प्रतिबिम्बवत् -१२८
आलेख्याकारवत् -१२९
तुल्यदेहिवत् -१२९

तृतीय अध्याय

(पृष्ठ १३१ - १५९)

दार्शनिक विवेचन

१. काश्मीरी शैव दर्शन -१३१
क. प्रत्यभिज्ञादर्शन के तीन तत्वों का विवेचन -१३२
ख. चिन्मय सामरस्य की अवस्था -१३७
ग. अभेदवाद, आभासवाद -१३८
घ. तन्मयता -१३९
ङ. आनन्दवाद -१३९
२. काव्य तत्व और अभिनवगुप्त की शैव दर्शनाश्रित दृष्टि -१४०
क. रस तत्व और शैव दर्शन से उसका सम्बन्ध -१४१
क.१. शक्तितत्व और रसतत्व -१४३
क.२. आभासवाद और रसाभिव्यक्ति -१४३
क.३. तन्मयता और साधारणीकरण -१४४
क.४. ब्रह्मानन्द और रसानन्द -१४५

क. ५ रस की अलौकिकता -१५७
क. ६ आनन्दवाद और आनन्दस्वरूप रस -१५९

चतुर्थ अध्याय

(पृष्ठ १५६ -२५६)

विवेचन और विश्लेषण

१- ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में लोचन का मूल्यांकन -१५६
क. आत्मा पद के विभिन्न अर्थ -१५७
ख. ध्वनि और प्रतीयमानार्थ का पार्थक्य -१६०
ग. प्रतीयमानार्थ के भेद -१६१
घ. रसादि का महत्त्व -१६३
ङ. ध्वनि का प्रमाण -१६६
च. ध्वनि के पांच अंग -१६६
छ. ध्वनि के विरोधी -१७०
ज. आनन्दवर्धन का ध्वनिविरोधियों को उत्तर -१७०
क'. ध्वनि काव्य भेद -१७२
क'-१ अविवक्षितवाच्य ध्वनि -१७२
क'१. १. अर्थान्तर संक्रमितवाच्य -१७३
क'१.२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य -१७३
क'.२ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि -१७६
क' २.१. असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य -१७८
अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त -१८०
भावव्यंग्य -१८५
आभास -१८५
भावशबलादि -१८६
असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में अलंकार -१८६
क'२. २.असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य -१८६
क' २.२.१. शब्दशक्तिमूलक

फ. २. २. २.अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनोपमव्यंग्य ध्वनि -१८६
.अर्थशक्त्युद्भवअनुरणनोपमव्यंग्यध्वनि के भेद-१९१
ब. प्रबन्ध के व्यंजकत्व का निबन्धन सकिंचक -१९१
छीछा -१९५
ट. वृत्तिसंघटनाकालक्षणादि से रसद्योतन -१९६
ठ. वर्णों का रसद्योतन -२०१
ड. संघटना का रसाभिव्यंजकत्व -२०१
ढ. तात्पर्यवृत्ति की स्थापना -२०३
ण. शान्त रस -२०५
शान्त रस का स्थायी भाव -२०६
छीछा -२१६
त. शृंगार रस में विरोध अविरोध का निरूपण -२१७
थ. काकु से अवान्तर प्रतीति के स्थल में गुणीभूतव्यंग्यत्व- २१६
द. ध्वनि सम्मिलन -२२१
ध. ध्वनि भेद संख्या -२२६
ङ - छोचन व्याख्यान में आए हुए मामह,उद्भट,वामन प्रभृति आचार्यों
की दृष्टि में रखते हुए विश्लेषण -२२७
क. मामह
ख. उद्भट
ग. वामन
ग. कारिका और वृत्तिकार -२५५
भिन्नकर्तृकत्व -२५६
अभिन्नकर्तृकत्व -२५६
निष्कर्ष -२६०

पंचम अध्याय

(पृष्ठ २६२-३०३)
छोचन का परवर्ती ध्वनि सम्प्रदाय पर प्रभाव -२६२
१. व्यंग्य अर्थ और ध्वनि में ऐक्य की भ्रान्ति -२६२

२. रस प्रक्रिया -२५६
३- रस संख्या -२७४
शान्त रस -२७६
४- वृत्ति शक्तियाँ -२७७
अभिधा शक्ति -२७७
लक्षणा शक्ति -२८१
(वाक्य की) तात्पर्यशक्ति -२८२
व्यंजना शक्ति -२९०
अभिधामूला शाब्दी व्यंजना -२९१
आर्थी व्यंजना -२९५
५- ध्वनि काव्य भेद -२९७
६- काव्य भेद -३०१
७- उपसंहार -३०३
८- परिशिष्ट : -३०४

----:o:----

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का स्थान :-

कविता सभी भाषा साहित्य मानव की सांस्कृतिक चेतना के साथ प्रकट हुई, और तभी से वह उस मन को आनन्दलोक में विचरण करती रही । उसमें अलंकार तो सभी आचार्य मानते रहे, किन्तु उसके स्वरूप का निरूपण भारतीय आचार्यों का उद्देश्यविशेष रहा । संस्कृत में, आचार्य भरत से लेकर बाद तक जितने भी प्रमुख प्रसिद्ध आचार्य हुए, सभी ने अपने अपने बुद्धि-कौशल से काव्य के स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण किया ।

अलंकार (जो एक काव्य में भेद ही है) में रस की अनिवार्यता प्रतिपादित करने वाले आचार्य भरत ने - 'रसः काव्यार्थः' एवं 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ' द्वारा काव्य में रस का महत्व बताया । परन्तु, भामह उद्भटादि ने काव्य रचना का द्वारा सौन्दर्य अलंकारों में पाया और यही काव्य का उद्देश्य निर्णीत हुआ । इनकी दृष्टि में 'रस' एक प्रकार का अलंकार बना रहा । वामन ने 'रीति' सिद्धान्त के प्रसंग में 'गुण' को काव्य का प्रधान तत्व बताया तब भरत द्वारा प्रतिपादित 'रस' यहाँ एक प्रकार का गुण बन गया । इस प्रकार भरत द्वारा प्रतिपादित रस कहीं अलंकार कहलाया कहीं गुण । इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसे अर्थ रूप की उपमा माना गया । आचार्य भरत ने उसे व्यापक माना था, किन्तु , अलंकार और गुण वादियों ने इधर ध्यान नहीं दिया ।

यही स्थिति 'व्यंग्य-अर्थ' की भी हुई । आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों की बुद्धि में यह व्यंग्य अर्थ और व्यंजावृत्ति अस्पष्ट रूप से स्फुरित तो रही थी , तथापि ये आचार्य उसे किन्हीं अलंकारों के अन्तर्गत काव्य के उपस्कारक रूप में ही मानते रहे । यथा -

भामह ने समासोक्ति अलंकार के उदाहरण में कहा— 'जहां समान विशेषणों के द्वारा अन्य अर्थ कथ्य हो, वहां समासोक्ति अलंकार है'।[1] इस प्रकार भामह ने अर्थान्तर की सम्भावना के द्वारा काव्य से भिन्न व्यंग्यार्थ की ओर स्पष्ट संकेत किया है। यथासंख्य अलंकार में 'अन्येन प्रकारेणाभिधीयते'[2] द्वारा यद्यपि स्पष्ट से व्यंजनावृत्ति की ओर ही संकेत है। दण्डी ने भी उदात्त अलंकार के प्रसंग में 'व्यंजित'[3] पद का प्रयोग भी किया है। और पर्यायोक्त अलंकार के उदाहरण में 'प्रकारान्तरात्मना'[4] द्वारा व्यंजनावृत्ति की ओर संकेत किया। उन्होंने उत्प्रेक्षा के व्यंजक शब्दों को गिनाते हुए 'व्यञ्जकै'[5] पद का प्रयोग भी किया है।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यंग्य-अर्थ पूर्ववर्ती आचार्यों को ज्ञात था। किन्तु, वे काव्य में उसके महत्व का उचित आकलन नहीं कर पाए। भामहादि आचार्य शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों में ही काव्य का सारा सौन्दर्य खोजते रहे। क्योंकि शब्दार्थ ही काव्य के विधायक तत्व या शरीर हैं। उनकी दृष्टि काव्य के बाह्यालंकरण मात्र तक ही सीमित थी, उसी दृष्टि से वे महाकवियों के काव्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते रहे। उन्होंने अलंकार गुण, रीति आदि के पटखरों से महाकवियों के काव्य को तौलना चाहा था, और उसी का प्रतिपादन करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। किन्तु उन्होंने काव्य और शरीर के भीतर की काव्यात्मा को न पहचाना और न पहचानने का प्रयत्न किया। व्यंग्य-अर्थ से परिचित होते हुए भी उसकी पृथक् सत्ता एवं महत्ता का प्रतिपादन करना इस प्रकार से पूर्वप्रतिष्ठित आचार्यों की मान्यताओं को चुनौती देना था, जिसका उनमें साहस नहीं था, क्योंकि व्यंग्य

१- काव्यालंकार २।७९

२- वही ३।८

३- पूर्वनिपातनाधात्म्यसाम्यगम्यगुणक्रियम् ।
तुल्योक्तिरिति पूर्वोक्तमुदाहरणमत्र यत्।। काव्यादर्श २।१०३

४- वही २।२९१

५- वही २।२७७

अर्थ को पृथक् स्वीकार करने पर, ध्वनीतत्व आधार की भी कल्पना करनी पड़ती। वाच्य तथा उपादान के अतिरिक्त कोई अन्य आधार सुना नहीं गया था। इसलिए आचार्यों ने रस को भी कभी कभी वाच्य अर्थ रूप अथवा अर्थ गुण रूप तक ही मान कर सन्तोष किया। किन्तु, महाकवियों के काव्य में चमकने वाले उस सूक्ष्म विशेष --'व्यंग्य-अर्थ' को प्रान्तरती आचार्य आनन्दवर्धन ने पहचाना, जो महाकवियों के काव्य का प्राण तत्व था। इसी व्यंग्य-अर्थ की दृष्टि से आनन्दवर्धन ने काव्य-स्वरूप का विवेचन किया। उसने काव्य के वाच्य अर्थ(उपमादि) प्रकारों से अलग किया। पूर्ववर्ती आचार्यों ने उसका बहुत आख्यान किया था, अतः आनन्दवर्धन ने उस बहुचर्चित तथ्य की पुनरावृत्ति नहीं की, उपयोगानुसार उसका संकेत मात्र करके छोड़ दिया। केवल व्यंग्य-अर्थ के स्वरूप का अलग नूतन दृष्टि से निरूपण किया और व्यंग्य के साथ उसके प्रतिपादक व्यंजक की भी अनिवार्य प्रतिष्ठा की। ये दोनों तत्व ध्वनि-सम्प्रदाय के आधारभूत हैं।

यह व्यंग्य-अर्थ प्रतिभा सम्पन्न महाकवियों की वाणी में स्फुरित होता है[२] और केवल काव्यार्थ के तत्वज्ञों द्वारा जाना जाता है।[३] वह वस्तु, अलंकार और रस रूप होता है। काव्य में व्यंग्य-अर्थ की सर्वोपरि महत्ता दी गई और इसी दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन किया। विविध व्यंग्य-अर्थों में विशेष महत्व 'रसव्यंग्य' को दिया। जिसका प्रतिपादन भरत से किया था, उसका उचित स्वरूप परिचय एवं मूल्यांकन आनन्दवर्धन ने किया -

> व्यंग्यव्यंजनयोर्ऽभिन्नविषये सम्यक्त्वपि।
> रसादिरूप एवैकः कविः व्यापारवान् ॥[४]

१- ध्व० १।३
२- ध्व० १।४
३- ध्व० १।७
४- ध्व० ४।५

और, यह रस रूप व्यंग्य-अर्थ न केवल सहृदयों को अलौकिक चमत्कार आनन्द देता है, अपितु कवियों को काव्य-रचना के लिए असीम स्वातन्त्र्य एवं मौलिकता के प्रकाश का अनन्य अवसर प्रदान करता है। क्योंकि, रस के सम्बन्ध में वर्णन करने पर वे वर्ण्य की सीमा लाँघ जाते हैं, जिसका पूर्व के कवियों ने बहुत[1] वर्णन किया है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने व्यंग्य-अर्थ की वकालत में बहुमत की बाँधी काव्यदृष्टि में अवधारणा की और बहुतरा व्यंग्य के समावेश के साथ ही काव्य की वक्रोक्ति अलंकार और गुण रूपी कोकिल तथा बहुतरों के गुंजारों से गूंज उठा। अपराई में जीवन आ गया। आदि काव्य-रामायण से लेकर सारी लौकिक काव्य परम्परा का प्राण तत्व संस्कृत की नहीं, विश्व के साहित्य का विशेष सहृदयों को व्यंग्य अर्थ प्रतीत होने लगा। और ऐसा लगा कि अब तक काव्य के विषय में दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पाई थी। वह काव्य तत्व कवियों को स्पष्ट था, किन्तु, वे आचार्य न थे अतः उन्होंने सहृदयों को उसका परिचय शास्त्र रूप में न दिया। केवल काव्य में उसका प्रयोग करते रहे। आनन्दवर्धन को लगा कि 'व्यंजना' ही काव्य का कारण है और व्यंग्य-व्यंजक का उचित प्रयोग करने की काव्य रचना साधक बन सकती है। उन[2] व्यंग्य-अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करने वाले काव्य को 'ध्वनि' संज्ञा दी।[3] और काव्य का एक ही प्रकार माना -'ध्वनि'।[4] व्यंग्य अर्थ के अप्रधान रहने पर - 'गुणीभूतव्यंग्य' नाम रहा। यह गुणीभूतव्यंग्यकाव्य ध्वनि-विश्वन्मूल ही है।[5]

१- वृद्धेतिहासाधि सूक्तानि: काव्ये रसादिस्फुरत्।
सर्वं नवा रसमाश्रित्य निबन्धे रस पुनः ॥ ध्व० १।५

२- ध्व० १।१।

३- (१) ध्वनिरेव काव्यम्।
(२) काव्यस्य आत्मभूते ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यभेदभिन्ने द्वैविध्येनैव व्यवस्थापिते त्रिप्रकारो मार्गस्तेषां व्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। ध्व० ४।३

४- ध्व० ३।३०

५- ध्व० ३।३०

अतः यह भी 'ध्वनि-काव्य' ही है। व्यंग्य-अर्थ के अभाव में तो चित्रकाव्य काव्य का चित्राभास ही हुआ, काव्य नहीं।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने चित्र ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की यह उस युग - रामायण, महाभारत आदि में तो उसका प्रचुर प्रचलन होता ही था, अनुष्टुप छन्द में लिखी आचार्यों के ग्रन्थों में भी उसी छाया दृष्टिगत होने लगी थी।[2] किन्तु, आनन्दवर्धन की तत्त्वान्वेषिणी सूक्ष्म दृष्टि ने ही उस तत्त्व को पूर्ण चार्य सहित रूप में पहचाना और उसकी सुव्यवस्थित सुव्यवस्थित रूप से स्थापना की। आनन्दवर्धन ने यद्यपि पुरानी बात को ही कहा, किन्तु उनकी सूक्ष्म एवं सही दृष्टि है। कवि वाणी के मूल अर्थ को विभूत कर उन्होंने विशुद्ध काव्य-सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। और अलंकार-शास्त्र की गति बदल डाली।[3]

इस प्रकार ईसा की नवमी सदी तक संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार, रीति, गुण, आदि पृथक सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गए थे। उसी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सम्प्रदाय चलाया तथा सम्प्रदाय खोड़ा, जिसमें समस्त काव्यांगों - रस, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति आदि को ध्वनि-काव्य रूपी कल्पवृक्ष की छाया में समाविष्ट करने का सफल प्रयास किया।

निःसन्देह ध्वन्यालोक परवर्ती युग के लिए एक आलोक स्तम्भ है, जो काव्य के समस्त आभ्यन्तर तत्वों को आलोकित कर रहा है और कवियों के लिए अनन्त, असीम काव्यलोक प्रस्तुत करता है। क्योंकि ध्वनि के सहारे कवि प्राचीन तथ्यों का भी उसका सूक्ष्म दृष्टि से प्रस्तुतीकरण कर सकते हैं। इस प्रकार 'ध्वनि' कविता कामिनी का अलंकार बनकर सदैव स्थिर सुन्दर बना।

१- ध्व० ३।४२

२- रामायणमहाभारतबृहत्कथादिषु तथैव प्रसिद्धव्यवहारं दर्शयद्भिः। ध्वन्यालो०३।

३- इत्थं चैतत्काव्यतत्त्वमिदमुच्यते -
तत्त्वं ध्वनेस्तु परिवर्तसहिष्णु यावत्॥ ध्व० पृ० ४४२

४- ध्वनिप्रधानमार्गेऽस्मिन्नलंकारतरणिः अवतारितः - रस गंगाधर।

अतो ध्वन्यालोकेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पुराधिष्ठितवत्यपि ।।[१]

ध्वन्यालोक की टीका - लोचन:

'लोचन' के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त हैं । इन्हों अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तृत व्याख्यान किया है । अपने 'लोचन' का महत्व प्रतिपादित करते हुए स्वयं अभिनवगुप्त कहते हैं -'यें लोचनं विना-लोकौ नालं सम्पूर्णतायै हि'[२] । विद्वानों ने भी ध्वन्यालोक के अध्ययन में लोचन का वही महत्व बताया है, जो व्याकरण में पतंजलि के महाभाष्य का अथवा वेदान्तसूत्रों के अध्ययन में शंकराचार्य के भाष्य का । इन उक्तियों में कुछ दूर तक अत्युक्ति है तथापि ये अतिशयोक्तिपूर्ण हैं ।

'लोचन' में अभिनवगुप्त का अत्यन्त पाण्डित्य अभिव्यक्त है । जैन पक्षी के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने जो धाक जमा रखी थी उसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में उनकी 'अभिनवभारती' और 'लोचन' दोनों कृतियों को पूर्वोक्त प्रतिष्ठा प्राप्त हो । आचार्य ने मानसरूप लोचन साहित्य-शास्त्र में अभिनव की इन दोनों टीकाओं के माध्यम से नहीं नई उक्तियों को प्रमाण माना और प्राय: किसी ने उनके कथन की प्रमाणिकता की अवहेलना करना भी उचित न समझा । उसका विवेचन पृथक्[३] रूपसे करेंगे ।

१- ध्व० १।२

२-(१) लो० पृष्ठ १६४

(२) आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में अनेक स्थलों पर 'सम्पूर्णा' इस टीका का नाम दिया है जिससे स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक पर 'लोचन' टीका के पूर्व 'सम्पूर्णा' टीका भी लिखी गई थी , जिसके रचयिता सम्भवत: अभिनवगुप्त के ही पूर्वज थे ।

ग्रंथकार आचार्य अभिनवगुप्त

१ जीवनवृत्त-

आचार्य अभिनवगुप्त[1] को साहित्य जगत् में 'अभिनवभारतीकार' एवं 'लोचनकार' के नाम से प्रसिद्धि है, यद्यपि भाषणाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' में निर्दिष्ट नाट्यशास्त्रकार नामक पैतृकादी अभिनवगुप्त से भिन्न हैं। अभिनवगुप्त काश्मीरीय ब्राह्मण थे। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में अपने पूर्वज अत्रिगुप्त का वर्णन करते हुए लिखा है कि किसी कारणवश कश्मीर राजा ललितादित्य ने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। उस समय कन्नौज के राजा यशोवर्मा थे, इस युद्ध में यशोवर्मा पराजित हो गए। यशोवर्मा के यहां अत्रिगुप्त नाम के एक बहुत बड़े विद्वान थे। कश्मीर के राजा ललितादित्य अत्रिगुप्त को अपने यहां ले आए, और वहीं तन्त्रानुकूल उन्हें रखा।[2] इन्हीं अत्रिगुप्त के वंश में लगभग २०० वर्ष बाद अभिनवगुप्त उत्पन्न हुए।

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में अपने पितामह वराहगुप्त, पिता नरसिंहगुप्त (चुखुल) का वर्णन किया है। इन्हीं नरसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे। अभिनव की माँ का नाम विमला था।[3] अभिनव के कुल पूर्वज पहले शिव भक्त थे। पितामह वराहगुप्त को तो अभिनव ने शिव का ही अवतार कहा है।[4] पिता

१- सम्पूर्ण विवेचन का आधार ग्रन्थ - डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का अभिनवगुप्तपर्व।

२- अथान्यत्रापि भाषणाचार्याभिनवोपबृंहितम् ।
अत्रिगुप्त इति ख्यातो नाट्यशास्त्रकृदेव यः।।ललितादित्यभक्त्या यं काश्मीरेष्वानयत्पुरा।
अत्रिगुप्तो ललितादित्यो राजा निर्वं परस्वापहृत्प्रणवरत्वात् काश्मीराख्यं विषादमगमत्।(तन्त्रालोक आह्निक-३७)

३- निःशैवशास्त्रसदनं त्रिक मन्त्रवीरसन्तानजात मुनिराज्यश्रियो विकल्पा।
को ऽप्यत्रिगुप्त इति नाम विलक्षणोग्रःशास्त्राम्बुनिर्मलधियस्तदभूत्पुरोग्र्यः।।
अथ ललितादित्यो राजा निर्वं परस्वापहृत्प्रणवरत्वात् काश्मीराख्यं विषादमगमत्।(तन्त्रालोक आह्निक-३७)

४- अथ हि गुप्ताः वराहनृसिंहाख्यौ पितरौ इति- तन्त्रालोक १।१५

५- तत्रान्त्यो नवति को ऽपि वराहगुप्तनामा भूत भगवान् स्वयम्भवाख्ये ।
गीर्वाणसिन्धुवहनिर्जितामृतार्थी यत्नाकरोत् पयसमुद्रमनाद्यनेन ।।
तत्सम्भवः सुचुखुलेति यो ऽभिधत्ते नृसिंहगुप्तो वरसिंहगुप्तः।।
यं कौलिकाग्रगणनाद्गुरुमित्थं भाषेश्वरी परमसंमुखतो ऽभ्यधत्त ।।
(तन्त्रालोक - २७।२३ ।

नरसिंहगुप्त 'बालादित्य' परमगुरु[१] एवं 'शिवचन्द्र'[२] थे। माता विष्णु की शिवभक्त थीं। अतः अभिनवगुप्त पर भी इन वातावरण का प्रभाव पड़ा और वे भी शैव दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् हुए।

अभिनवगुप्त ने बाल्यकाल प्रारम्भ का पालन किया, क्योंकि बाल्यकाल में ही माता के मर जाने पर, पिता नरसिंहगुप्त भी अन्तर्मुखी हो गए। परिणाम यह हुआ कि अभिनव को सांसारिक जीवन के प्रति आकर्षण देने वाला कोई न रहा। फलतः वे सांसारिक जीवन से सर्वथा विरक्त हो गए। वे एक मात्र शिवभक्ति और दार्शनिक विषयों के अध्ययन में लग गए। उन्होंने शैव-दर्शन को आत्मसात् कर लिया तथा उसे पुनः अपने जीवन में व्यवहृत करने का प्रयत्न किया। आज, उनकी अमर विचारधाराएं शैव दर्शन पर ही आधृत हैं। अभिनव ने अपना सम्पूर्ण जीवन दार्शनिक चिन्तन, मनन में एवं साहित्यलेखन में ही लगा दिया।

अभिनव ने किसी एक गुरु से ज्ञान नहीं प्राप्त किया था। उन्होंने स्वयं लिखा है-

'नानागुरुकुलपरम्परागतविद्याबलाधिरूढरोकविकाशिनेक्षिणीः'

अर्थात् इनके भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न-भिन्न गुरु थे, जिनकी सूची भिन्न लिखित है -

पिता नरसिंह गुप्त(पृथ्वी)[४] से आत्मगुरुज्ञान, भूतिराज से प्रत्यभिज्ञा भूतिराजाख्य से क्रमज्ञान, वामनाथ से शिवाद्वैतज्ञान[५] तथा लक्ष्मण गुप्त से

१,२- परात्रिंशिका विवरण पृष्ठ - १२

३- 'बालादित्यस्तुरकोत्तरतो गवेक्षकस्या स्वयंग्रहणचुलिका मुदीच:।
स तन्त्रवीयुद्य च लोकवीमवीगणत् कामपि केवट पुत: ।।
तदीयसम्भोगविधूदये पुरा करोति दास्यं मुनेरस्तु स्वयम् ।

४- पिता च श्रीमान् पृथ्वीसिंहेति ख्यातिः ।

५- अथोऽस्मै भूतिराजा ख्यः प्रत्यभिज्ञादिनी ।
शिवः श्रीभूतिराजो वामनाथस्तं क्रमनाथवत् ।

६- श्रीमान्लक्ष्मणगुप्ताख्यस्तत्रभिज्ञः श्रीभूतिराजाख्यः स्वशिष्यप्रवरः ।

७- वामनाथस्तथाभिनवगुप्तादिकवीश्वरः सदाशिवैकपरात्मकवामनाथः । तन्त्रालोक 37/60 - 62

शिवलीला विलास[1], मद्वेन्दुराव से ज्ञानसिद्धान्त[2], तथा मद्भवेश से गाङ्गवाक्य[3] का अध्ययन किया।

इन सात गुरुओं का तो अभिनव ने शास्त्र के अधिक उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त १३ अन्य गुरुओं का भी उल्लेख इस श्लोक में इस प्रकार किया है -

'शीघन्मूलभिक्षणशिवाक्षशीगानन्दाभिनन्दशिवक्षशिविभिक्षनाथः।
अन्येऽपि भीशिवभाषनकोमुदीमुद्गोनाकण्ठमुखमुद्रा महान्तः॥'

ख- वृत्तियाँ -

अभिनवगुप्त के ४२ से अधिक ऐसे ग्रन्थ हैं, जो उन पर की विभिन्न शाखाओं पर लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त अन्यशास्त्रों पर स्वतन्त्र और मूल से गाङ्गवाक्य पर लिखी अभिनवगुप्त की टीकाएं शास्त्रीय वृत्तियाँ हैं। इनके ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है -

१- शीघर्मसंग्रहिका, २- मालिनीविजयवार्तिक, ३- परात्रिंशिकाविवृति, ४- तन्त्रालोक, ५- तन्त्रसार, ६- तन्त्रवटधानिका, ७- अन्यालोकलोचन, ८- अभिनव-भारती, ९- मालवृत्तिसार-संग्रह, १०-परमार्थसार, ११-ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, १२- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, १३- घर्मसंग्रहणिका, १४-घटकर्परकुलक-विवृति, १५- कुलस्तोत्र, १६-देहस्थदेवताचक्र-स्तोत्र, १७-भैरवस्तोत्र, १८-परमार्थद्वादशिका, १९-परमार्थसार, २०-लघीघर्मसंग्रहणिका, २१-अनुत्तराष्टिका, २२- अनुभवनिवेदन, २३-रहस्यघर्मसंग्रहणिका, २४-तन्त्रोच्चय, २५-पुरश्चर्याविधार, २६-कुलेटि, २७-शिवदृष्ट्या-लोचन, २८- पूर्वपंचिका, २९-पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, ३०-कुलीनविधिविवरण, ३१- कुलक्रमविवरण, ३२-काश्मीरकुलविवरण, ३३-क्रमस्तुतिलेख, ३४-तन्त्री-वृत्तिया,

---

१- देवीपंचशतिकेऽपि तत्र श्रीशोभानन्दपादैश्च: प्रभृति शिवलीलाविलासैरुपरि:।
शैवनयकुलसारसर्वस्वश्रीमदानन्दनाथोत्पलललनगुप्तनाथ:।
२- मद्वेन्दुराजचरणाम्बुजषट्पदेनाभिनवगुप्तपादेनेयं इति (तो०वृ०२)
३- इतिश्रीशिवदर्शनाचार्यश्रीमदानन्दनाथपादशिष्याभिनवगुप्तविरचितो:॥

इतिगाङ्गवाक्यवृत्तिः समाप्ता।

१९- भैरवाद्वय विवरण, २०- देवीस्तोत्रविवरण, २१- तत्त्वाध्वप्रकाशिका,
२२-शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र, २३-विम्बप्रतिविम्बवाद, २४- परमार्थसंग्रह,
२५- अनुत्तरस्तव, २६-कुरुकुलस्तोत्र, २७-नाटकचक्रदीपन, २८- अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी ।

अभिनवगुप्त की समस्त कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु उपलब्ध कृतियों से यह स्पष्ट है कि वे उच्चकोटि के शैव दार्शनिक।

अभिनवगुप्त को उनके शिष्य शैव और शिव का अवतार मानते थे। एक शिष्य ने अपने गुरु अभिनवगुप्त की वन्दना करते हुए लिखा है :-

अभिनवगुप्तावतारवसतापीक्षत्री विपश्चिदीश्वरे ।
तत्पुण्डरीकपुरे निवसति नियमेन मोक्षलक्ष्मीर्यः ।।

इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी अभिनव को अपना साहित्य गुरु बताया है, और उन्हें 'बोधवारिधि' अर्थात् ज्ञानसागर कहा है -

गुरुणाभिनवगुप्तेन साहित्यं बोधवारिधेः । (क्षेमेन्द्र वृत्तकथाकोहरी पृ०२६०)

अतः इसमें सन्देह नहीं कि अभिनवगुप्त एक महान् शैवाचार्य के साथ ही महान् दार्शनिक भी थे ।

यह प्रसिद्धि है कि अभिनवगुप्त ने बारह सौ शिष्य तथा शिष्याओं के साथ कश्मीर की सीमापर और गुप्तगंगा के पास सीमा नाम से प्रसिद्ध गाँव की , इसी नाम से आज भी विख्यात है भैरव गुप्त में भैरवस्तोत्र का पाठ करते हुए प्रवेश किया और वहीं अनन्त काल के लिए समाधि ले ली ।

विद्वानों ने अनेक प्रामाणिक पड़ताल के पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त का काल ९५० ई० से लेकर १०२० ई० तक निश्चित किया है ।

४- आचार्य अभिनवगुप्त: एक महान् टीकाकार -

अभिनवगुप्त ने साहित्यशास्त्र पर कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा, जैसा पहले कहा जा चुका है , उनकी केवल दो साहित्य-कृतियाँ हैं - अभिनवभारती और लोचन और दोनों टीका ग्रन्थ हैं । टीकाकार होते हुए भी शंकराचार्य के

१- (१) कु० अभिनवगुप्त पृ० २४ ।
(२) भैरवस्तोत्र का पाठ करते हुए गुफा में प्रवेश की बात डा० काणे ने लिखी है ।

उनका अभिनवगुप्त आचार्य पद पर अभिषिक्त हैं। यहां स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि किन कारणों से उन्हें आचार्यत्व पद की प्राप्ति मिली। इस प्राप्ति के मिलने के अनेक कारण हो सकते हैं यथा- पहले-पहल उनका बहुमुखीय ज्ञान, बहुआयाम-ज्ञान इत्यादि, किन्तु इन समस्त कारणों में से सर्व प्रमुख कारण उनका मौलिक एक-सिद्धान्त ही है। परवर्ती आचार्यों में मम्मट आदि ने इसी आधार पर अपने ग्रन्थ में एक-विचार उपस्थित किया। इस प्रक्रिया को लेकर अभिनवगुप्त इतने अधिक प्रसिद्ध हुए कि रससम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरत को भुला दिया गया।

अब, हमें लोचन में प्रतिबिम्बित होते हुए अभिनव के एक समालोचक और व्याख्याकार के व्यक्तित्व का परिचय करेंगे। साथ ही, यह देखेंगे कि अभिनव ने किस प्रकार आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और उसके एवं समीक्षात्मक का आश्रय लेकर किस प्रकार उन्होंने अपने दार्शनिक भावों और तार्किक प्रक्रिया का संयुक्त समन्वय साहित्य में किया है। इससे यह ज्ञात हो जायेगा कि काव्यशास्त्र को अभिनव गुप्त का क्या योगदान है और भारतीय समालोचना जगत् में अभिनव गुप्त का कौन सा स्थान है।

यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है कि लोचन में कौन सी व्याख्या पद्धति ही अपनाई गई है। अपनी कृति में कोई वैशिष्ट्य लाने के विचार से अभिनव ने किसी एक पद्धति का अवलम्बन करना उचित नहीं समझा। अपनी टीका को उच्चकोटि की मौलिक कृति सिद्ध करने के लिए विभिन्न व्याख्या पद्धतियों एक को एक साथ 'लोचन' टीका में स्थान देने का उन्होंने प्रयत्न किया जिससे अभिनव के व्याख्यान ने एक नया रूप ले लिया।

अभिनव गुप्त ने व्याख्यान की उस पद्धति को स्वाभाविक अपनाया है, जिसमें पहले भूमिका के रूप में प्रतिपक्षियों के मतों को उपस्थित करके, उनके प्रत्येक तथ्य का खण्डन करते हुए, अन्त में अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की जाती है। खण्डन-मण्डन करते हुए अभिनव गुप्त जब तर्क की चरम अवस्था पर पहुंच जाते हैं, तब उनका आवेश स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उपयुक्त शब्दों का चयन करते हुए जब वह मूलकार के सही भावों में प्रवृत्त होते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे

उनका उचित मूल्य की माप्ता के रूप में परिणत हो गया हो , वह माप्ता समीक्षा की माप्ता न रहकर एक नव काव्य बन गई हो । यह माप्ता अभिनव की मूल्य है और मौलिक माप्ता है, क्योंकि , लोचन में ही नहीं अभिनव भारती में भी, और अभिनव भारती में ही नहीं दार्शनिक ग्रन्थों की टीकाओं में भी वे ऐसी ही माप्ता का प्रयोग करते हैं ।

अभिनव को यह ऐसा-पद्धा का कैसे वरदान मिला हो । वह किसी एक विषय को लेकर चर्चा करना प्रारम्भ करते हैं तो माप्ता के विभिन्न स्तरों और अर्थ के विभिन्न दृष्टिकोणों से उस विषय का सविस्तार विवेचन करते हैं ।

अभिनव के व्याख्यान के महत्वपूर्ण होते हुए भी, पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली और अर्थ के विस्तार के कारण उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ा है । उनका व्याख्यान विभिन्न शास्त्रों से सम्बन्धित रहता है जैसे - दर्शन, तर्क, व्याकरण आदि । यही कारण है कि प्राय: उनके व्याख्यान के प्रवाह में व्यवधान की प्रतीति होती है । किसी बात को कहते-कहते बीच में कोई दूसरी बात ध्यान में आ गई तो उसे भी वे वहीं पर कह देते हैं । मानों उन्हें आशंका हो कि आगे अवसर मिलेगा या नहीं । फलत: वे कठिन अवबोध स्थलों को भी बड़ा कठोर बना देते हैं । अन्य ग्रन्थों का विवेचन करते हुए भी अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को यहां तक की व्यवस्था है, अधिकाधिक रूप में स्पष्ट करने की ही वे प्रयत्न करते हैं ।

आनन्दवर्धन के पूर्वोक्त मन्तव्य की अपनाते हुए अभिनवगुप्त उसका संक्षिप्तीकरण अवश्य करते हैं । यथा -

> ननु या मुख्यी शब्दार्थोपलभावः, सा च मुख्यव्यापारेण;
> तेन गुणार्थोऽप्यभिधीयमानोऽसौ स्वाभिधेयार्थसंगम विशेषणभावमनुभवन् -
> भाव । (लो० पृ०२२)

इस प्रकार और भी कई स्थल लोचन में मिलते हैं ।

अभिनवगुप्त व्यनि-सिद्धान्त को न स्वीकार करने वालों का विरोध करते हैं चाहे उन आलोचकों का क्षेत्र साहित्य, दर्शन या व्याकरण कुछ भी हो । इन विरोधियों के प्रति अभिनव की भाषा अत्यन्त कटु हो उठी है। यथा -

अतं गवीनादीनांनुवर्तने[१]। भीमांसक पर चिढ़ जाते हैं और लिखते हैं - नूनं भीमांसकस्य प्रतीमं प्रतिनैमित्तिकस्यनुमितम् अर्थात् भीमांसक अपने नाती को बाप मान रहा है। अभिनव अपने भाषुक स्वभाव के कारण ही ऐसा कह देते हैं। ये किसी पर अटूट श्रद्धा रखते हैं और किसी पर बहुत अधिक आक्रोश। आनन्दवर्धन पर इनकी बड़ी श्रद्धा है और उनके विरोधियों पर आक्रोश।

अभिनव मुख्य व्याख्यान के प्रसंग में प्रायः विस्तार और प्रसिद्ध दृष्टान्तों का भी प्रयोग करते हैं - यथा - तुल्यकाण्डादिदृष्टान्तेन बीजलक्षणोपक्रम-दृष्टान्तेन। यहां तुल्यन्याय- कायस्थाधीत्यन्यायेन[२] का प्रयोग करते हुए यहां अनुपलब्धि कारणाधिन्याय, कायस्थपरीक्षान्यायेन, कारणविकल्प, लोष्ट-प्रस्तारन्यायेन, का भी प्रयोग करते हैं। एक और उपकारकत्व इनका ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त करते हैं जो बिना विवेक के दूसरों का अन्धानुकरण करते हैं - यहदाणिकाप्रावीण्यवत्प्रयुक्तम्, यहत्र दिनप्रावणिकी लोकः[३]।

अभिनव की भाषा बहुत सहज और सरल है। उसमें विविध रसों का समावेश है। उनकी भाषा को बहुतेरी भाषा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। उनके अधिकांश शब्द तात्त्विकों के ही हैं जैसे - अन्वय, व्यतिरेक, व्याप्ति, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, वाक्ति, धर्म, धर्मी, पारम्परिकसम्बन्ध आदि। एक मुख्य तात्त्विक शब्दावली होने के कारण एक ही पद के विभिन्न रूपों को पृथक् पृथक् अर्थ बोधन के लिए प्रयुक्त करते हैं। यथा - पक्षिणा, पक्षी, पक्षिभ्, पक्षिणाणः, पक्षिनाक्षाधारः, रक्षिता, रक्षनाक्षाधारः, रक्षनाणः, व्याप्, व्यन्धते, व्यक्त इत्यादि।

इस प्रकार लोचन में अभिनव गुप्त के भाषा, विषय में अनेक तथ्य सामने आते हैं। इसके अतिरिक्त भी लोचन से पूर्ववर्ती आचार्यों के विषय में अनेक तथ्यों का

१- लोचन० १२१ | २- लोचन० ३२३ | ७- लोचनपृष्ठक १७-लोचन०२६
२- लोचन० ६६ | ३- लो० पृ० १०२ | ८- लोचन० ३१७
३- लोचन० २२२ | ४- लोचन० ३६५ | ९- लोचन० २२०

मान होता है, विशेष रूप से उन आचार्यों के उनकी कृतियाँ का भी साथ अनुपलब्ध हैं। डोपाख्यान में कृतियां केवल अभिनवगुप्त की ही प्राप्त हैं अतः भरत से लेकर अभि सम्प्रदाय के विकास काल तक होने वाले विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख सर्व प्रथम में मिलता है। अभिनवगुप्त अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से विरोध करते हुए भी उनके सिद्धान्तों को कभी कभी पूरा ग्रंथ में मान भी लेते हैं, जैसे - भट्टनायक का विरोध, उनसे वादविवाद। फिर भी अभिनव भट्टनायक के सिद्धान्तों से प्रभावित होते हैं, उनके मतों को पूरा रूप से स्वीकार करके अपने सिद्धान्त में मिला लेते हैं।

यहां एक सूक्ष्म विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त व्यक्ति-सिद्धान्त को उसी रूप में व्याकृत नहीं करते हैं जिस रूप में आनन्दवर्धन ने उसे प्रस्तुत किया। स्थल स्थल पर वे आनन्दवर्धन से सहमत नहीं होते। किन्तु वे उनका विरोध भी नहीं करते, अपितु कहीं-कहीं तो पूर्वपक्ष के रूप में स्वीकार कर अपने अनुसार व्याख्यान कर देते हैं।

अभिनवगुप्त व्याख्या करते समय इतने अधिक उत्तेजित हो जाते हैं कि कभी कभी एक ही ग्रंथ का अतिविस्तृत व्याख्यान करने लगते हैं, और उस प्रसंग में व्याकरण, दर्शन, आदि सम्बन्धित अपने ज्ञान का प्रदर्शन कर देते हैं। उसी प्रसंग में यदि खण्डन हुआ तो अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को भी उपस्थित करके उनका खण्डन करने लगते हैं। आनन्दवर्धन ने जो बात दो-तीन पंक्तियों में कहा है, उसी को अभिनवगुप्त घुमा-फिरा कर बड़े रूप से समझाने का प्रयास करते हैं, किन्तु कहीं कहीं बात समझाने के बजाय और अधिक उलझ जाती है। अभिनव की इसी प्रवृत्ति के कारण उनकी टीका जटिल बन गई है। और, इसी कारण तुलनात्मक अध्ययन हेतु पूरे-पूरे वाक्यों को रखना पड़ा है।

इन सीमित बातों के होते हुए भी, अभिनव ने पूर्ववर्ती आचार्यों को अत्यधिक प्रभावित किया। अभिनवगुप्त के व्याख्यान में सिद्धान्त और समालोचना का संतुलन उपलब्ध हुआ है। यही कारण है कि परवर्तिक मतों से तुलना उनकी उपेक्षा से पूर्ववर्ती आचार्यों को प्रभावित किया।

विषय की उपयोगिता तथा उसका महत्व

'अग्निपुराण की प्रतिभा जैसी प्रखर एवं प्रगतिशील है उसकी अभिव्यक्ति उसकी शैली निश्चित है और भाषाशैली से आकृष्ट हो जाता है। आनन्दवर्धन कालत्रय से तुलना करने पर यह वैशिष्ट्य और स्पष्ट हो जाता है। व्यक्तिवैचित्र्य की दृष्टि का जब अग्निपुराण मान्य करते हैं तो एक ओर जहां उसकी मौलिक दार्शनिक सूझों का पूर्ण मनन विश्लेषण प्रस्तुत करती है वहां पुनरुक्ति और शैली की निष्क्रियता कभी कभी सामान्य सूझों को भी उलझा देती है'।

उपर्युक्त निर्दिष्ट दोनों अग्निपुराण के पुनर्मूल्यांकन की प्रेरणा देती है। निःसन्देह अग्निपुराण बहुरत्ना वसुन्धरत्व है यहां एवं अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक आचार्य हैं किन्तु साहित्य के विषय पर उनकी दोनों स्पष्ट हो जाती हैं। शोभन और अग्निपुराणी - दोनों ही साहित्यशास्त्रीय टीकाओं को अग्निपुराण ने अपनी धारणाओं, मान्यताओं के परिवेश में संपृक्त कर लिखा है। अग्निपुराण के पास अपनी एक विशाल दृष्टि थी। उन्होंने न केवल महत्व के पाठ्यशास्त्र को बल्कि व्यक्तिवैचित्र्य को भी पर्व में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अतएव उनका व्याख्यान कभी कभी सामान्य विवरण का रूप ले लेता है और क्योंकि वे अलौकिक प्रतिभा एवं अलौकिक दृष्टि से परिपूर्ण आचार्य थे अतः उनकी मान्यताएं एक नया आयाम प्रस्तुत करती हैं। यही कारण है कि परवर्ती साहित्य-शास्त्र अग्निपुराण से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ता है, आचार्य मम्मट एवं आनन्दवर्धन से कम। व्यक्ति-विवेचन में रसादि विवेचन के प्रसंग में परवर्ती आचार्यों ने कम-कम पर अग्निपुराण की ही पुकार की है। जैसे विश्वनाथ का पंच उनके गुरु रघु के नाम से प्रसिद्ध हो गया, वैसे ही व्यक्ति-सम्प्रदाय आनन्दवर्धन की अपेक्षा इनके टीकाकार अग्निपुराण द्वारा प्रतिष्ठित हो गया। जैसे, वैदर्भ कुंतकाचार्य का हो गया और वामनीय गुण विवेचन।

१- रस सिद्धान्त - डा० नगेन्द्र पृष्ठ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य अग्निमित्र के पुत्रों द्वारा यज्ञार्थ छोड़े गये अश्व की व्याख्या के अवसर से स्वयं पुष्यमित्र पर घट रहा है, उसी का चित्रण करना है। और अग्निमित्र के मुख से ही वहां वहां व्याप्ति-सिद्धान्त में अपने मत को निर्दोषित किया है अथवा व्याप्तालोक में जहां जहां अपने मत को पक्षान् वादोचित किया है, उन सबों की छान कर पृथक् करना, उन पर विचार करना और व्याप्ति-सिद्धान्त को विशुद्ध रूप में देखना - यही प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है।

वस्तुतः आचार्य अग्निमित्र द्वारा व्याप्ति-सिद्धान्त में परिवर्तन कर देने से व्याप्ति का स्वरूप ही बदल गया, अतः प्रस्तुत विषय की उपयोगिता यही है कि व्याप्ति-सिद्धान्त का परिष्कार करके उसे पुनर्प्रतिष्ठापित किया जाय। जिससे काव्यशास्त्र में व्याप्ति का स्वरूप उसी रूप में अनुमानवादी के अनुसार उपस्थित हो सके, जिस रूप में आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया था। यहां यह उल्लेख करना अति-उपयोगी न होगा कि आनन्दवर्धन का सिद्धान्त ईश्वर एवं वेद है, किन्तु अग्निमित्र ने उसे दूषित कर दिया, अतएव प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की यह दृष्टि है की उपयोगिता यह होती है कि अब उस शोधन-टीका के कारण जिस दूषितता का अनुभव अनुमानवादी को होता था वह दूर हो जाय।

संक्षेपतः प्रस्तुत अध्ययन का यही प्रयास है कि आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को विशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तथा उसका पुनर्प्रतिष्ठापन किया जाय।

अध्ययन पद्धतियों का वर्णन

१ : व्याप्तालोक शोधन के संस्करण - अभी प्रकाशित ग्रन्थों में काव्यमाला सीरीज में ई० सन् १९०१ में व्याप्तालोक के प्रथम तीन उद्योत अग्निमित्र के शोधन के साथ और चतुर्थ उद्योत मात्र व्याप्तालोक(शोधन के बिना) मुद्रित हुए, जिसकी आधारभूत तीन हस्तलिखित प्रतियां थीं। यह त्रिपाठीजी काव्यमाला सीरीज का संस्करण

---

१० इसका प्रकाशन, इसके सम्पादक पण्डितप्रवर पं० दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ पत्रे और वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर हैं। इसके अनुसार तीन आधारभूत प्रतियों में प्रथम प्रति श्रीवीर सदाराम के आश्रित ज्योतिर्विद पंचाराम शर्मा की पुस्तक का मुद्रण प्रतिलिपक थी। द्वितीय प्रति वीरापकृष्णापाध्यारकर के पुस्तकालय राजकीय पुस्तकालय की पुस्तक थी, यह भी काश्मीरिय पुस्तक का प्रतिलिपक थी। तृतीय प्रति मैसूर के नरसिंहस्वामी स्कूल के संस्कृताध्यापक आचार्य अनन्ताचार्य पण्डित के घर की थी जो प्राचीन किसी ताडपत्र की प्रतिलिपक थी।

मूल की दृष्टि से प्राय: शोधन पूर्ण है । सम्प्रति कई पाण्डुलिपियां मिल चुकी हैं- यथा महामहोपाध्याय पी०वी० काणे का कहना है कि पाण्डारकर संस्थान में पांच पाण्डुलिपियां देवनागरी अक्षरों में और दो शारदा लिपि में प्राप्त हैं । कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ ने ध्वन्यालोक का संस्करण मधुसूदन मिश्र विरचित 'अवधान' नामक नई टीका के साथ प्रकाशित किया । महामहोपाध्याय पी०वी० काणे के अनुसार इसका आधार काव्यमाला संस्करण है । डा० बाजपेयी ने ध्वन्यालोक का अपनी भाषा में अनुवाद किया । उन्होंने स्थान स्थान पर मूल पाठों की ओर भी संकेत किया है, जो परवर्ती संस्करणों में मान्य हुए । ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत के लोचन के अप्रकाशित सम्पादन का श्रेय डा० एस० के० कृ को है ।K.Krishnamoorthy की Ānandavardhan's Dhvanyaloka 1966 में प्रकाशित हुई । तदनन्तर सम्पूर्ण ध्वन्यालोक लोचन,श्री पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा 'बाल-प्रिया' और 'विद्वज्जना' टिप्पणी के साथ १९५० में प्रकाशित हुई । काशी चौखम्बा से पं० बदरीनाथ झा की 'दीधिति' टीका के साथ सेवत ध्वन्यालोक प्रकाश में आया ।ई० सन् १९५४ में ध्वन्यालोक -लोचन का प्रथम उद्योत डुण्डीराज की 'कौमुदी' व्याख्या और महामहोपाध्याय शास्त्री के 'उपलोचन' के साथ मद्रास से प्रकाशित हुआ ।

ध्वन्यालोक का हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्यान -सम्पूर्ण आचार्य विश्वेश्वर ने १९५२ ई० में प्रस्तुत किया ।१९५५ ई० में पूना ओरीएण्टल सीरीज़ में डा० कृष्णमूर्ति ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक का अंग्रेजी का अनुवाद प्रस्तुत किया ।तत्पश्चात् श्री विष्णुपद भट्टाचार्य ने ध्वन्यालोक के प्रथम और द्वितीय उद्योत का अंग्रेजी व्याख्यान क्रमश: १९५६ और १९५७ ई० में प्रस्तुत किया । १९५९ ई० में आचार्या प्रथम उद्योत के ने लोचन पर 'रश्मि टीका' लिखी । आचार्य कन्हाय पाठक ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक-लोचन का हिन्दी अनुवाद १९५५ ई० में प्रस्तुत किया । डा० रामसागर त्रिपाठी ने ध्वन्यालोक -लोचन पर 'सारावली' हिन्दी टीका प्रस्तुत की है । और साथ ही ध्वन्यालोक-लोचन का हिन्दी अनुवाद भी किया है । अनुवाद के साथ हिन्दी टीका का प्रतिपादन इस विद्या में आपका कार्य नवीन एवं सफल हुआ है । इसके अतिरिक्त श्री J.L. Masson तथा M.V.Patwardhan द्वारा The Dhvanyāloka And the Dhvanyālokalocham का अंग्रेजी अनुवाद(Harvard Oriental Series-(1969) की पाण्डुलिपि के अनुसार) पण्डारकर

ओरिएण्टल रिसर्चइन्स्टीट्यूट,पूना से प्रकाशित हो रहा है । डॉ० पण्डित प्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पूर्ण ध्वन्यालोक की संस्कृत टीका - 'दीपशिखा' तथा हिन्दी टीका - 'परिशीलन' का प्रकाशन विश्वविद्यालय-प्रकाशन वाराणसी से हो रहा है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध का आधारभूत संस्करण चौखम्बा का 'काव्यप्रिया' वाला संस्करण है ।

ख : उपलब्ध आलोचनात्मक ग्रन्थों का आकलन :

आचार्य अभिनवगुप्त ने दर्शन एवं काव्य कला सम्बन्धी विविध तथ्यों का व्यवस्थित एवं सांगोपांग अध्ययन का प्रथम प्रयास डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का है । उन्होंने अभिनवगुप्त का विशेष अध्ययन Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study में और Indian Aesthetics में प्रस्तुत किया । इनके इस अध्ययन से भारतीय सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन को एक नया आयाम प्रदान किया । यद्यपि 'लोचन' और 'अभिनवभारती' सुसंपादित रूप में कुछ पहले से ही उपलब्ध थे, किन्तु भाषा और शब्दावली की दुरुहता के कारण, दार्शनिक मार्गों की जटिलता के कारण उसे सही अर्थ में ग्रहण करना कठिन था । डा० पाण्डेय ने अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों को स्पष्ट कर उनके संदर्भ में काव्य कला सम्बन्धी मान्यताओं की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिससे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का नवल दार्शनिक और साहित्यिक मर्म उद्घाटित हुआ ।

जिस समय 'अभिनवगुप्त' पर एक ओर डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय कार्य कर रहे थे, लगभग उसी समय इटली में R. Gnoli ने भी The Aesthetic experience According to Abhinavagupta नाम से अभिनवगुप्त, के आध्यात्मिक अनुभूति सम्बन्धी विचारों का अंग्रेजी अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्यापरक अध्ययन तुलनात्मक टिप्पणियों के साथ रोमन अक्षरों में मूल पाठ को प्रस्तुत किया R.Gnoli ने बड़े ही व्यवस्थित एवं सर्व पूर्ण रीति से अभिनवगुप्त के दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत किया है ।

अभिनवगुप्त के दार्शनिक तथ्यों का विवेचन J.L.Masson और M.V. Patwardhan ने अपनी पुस्तक - Śāntarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics और Aesthetic rapture Vol.I.I

में किया है। अभिनवभारती और लोचन से शान्त रस सम्बन्धित अंश को भी अपने ग्रन्थ Śāntarasa and Abhinavgupta's Philosophy of Aesthetics में उन्होंने उद्धृत किया है।

उपर्युक्त सभी सम्बन्धित सभी ग्रन्थों से अभिनवगुप्त के शैव-दर्शन को पूर्ण तथा अवगत करने में बहुत सहायता मिली।

डा० नगेन्द्र ने - रस सिद्धान्त(१९६४) में रस विषयक विभिन्न तथ्यों पर विचार किया है। साथ ही उन्होंने आचार्य अभिनवगुप्त के सिद्धान्त में दोष भी दिखाए हैं। इस विषय में डा० नगेन्द्र का यह प्रथम प्रयास है। भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक एवं भट्टनायक के पक्ष में उन्होंने अनेक तर्क उपस्थित किए हैं[१]। डा० नगेन्द्र ने आलोचना मात्र की है इन विशेष स्थलों का निर्देश नहीं किया है, जहां आनन्दवर्धन से अभिनवगुप्त वैमत्य रखते हैं।

सदेव मुरलधर डा० पण्डितप्रसाद मिश्र का लेख -What Ānandvardhan Meant by Dhvani? The Journal of the Gangānath Jhā Research Institute Nov.1965-Feb.1966 Vol XXII में प्रकाशित हुआ था, यह प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बहुत सहायक हुआ। उन्होंने उन प्रमुख स्थलों पर निर्देश किया है, जहां आनन्दवर्धन से अभिनवगुप्त का वैमत्य हो जाता है।

डा० मुकुन्द माधव शर्मा ने अपनी पुस्तक The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics1968 में स्थान स्थान पर अभिनवगुप्त के स्वतंत्र मतों का संकेत किया है। प्रस्तुत पुस्तक हमारे शोध कार्य में विशेष उपयोगी रही है। मैं इसके लिए उस ग्रन्थ तथा उसके विद्वान मनीषी लेखक के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूं।

डा० देवीप्रसाद त्रिवेदी ने भी अपने ग्रन्थ 'आनन्दवर्धन' में अभिनवगुप्त के स्वतंत्र मतों की ओर संकेत किया है। डा० त्रिवेदी का मुख्य उद्देश तो आनन्दवर्धन के सिद्धान्तों को विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करना था। अतः ध्वन्यालोक के सिद्धान्त को उन्होंने यथा सम्भव मूल रूप में, लोचन से सर्वथा अछूता रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। उन्हें जहां लोचन में स्वतंत्र मत मिले उसे उन्होंने फुटनोट में रख दिया है। डा० त्रिवेदी ने प्रारम्भ में ही एक अपील की है।

१- रस सिद्धान्त पृ० १७७।

अनुरोध :

ध्वन्यालोक के अध्येताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का अध्ययन स्वतंत्र रूप से करें। इसके लिए वे एकमात्र लोचन पर निर्भर न रहें।[१]

डा० त्रिवेदी का यह अनुरोध हमें शोध कार्य में निरन्तर चेतावनी देता रहा है। यही निर्देश पूज्य गुरुवर्य डा० यज्ञेश्वरप्रसाद शुक्ल जी ने भी हमें शोध कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व दिया था।

किन्तु, डा० देवीप्रसाद त्रिवेदी जी जिन्होंने स्वयं अध्येताओं को 'लोचन' के प्रति सतर्क किया है वह एक स्थल पर स्वयं स्खलित हो गए, लिखते हैं ध्वनि के तीन भेद हैं- वस्तु, अलंकार एवं रस[२] इत्यादि। वस्तुतः यह भेद ध्वनि का नहीं वरन् प्रतीयमान या अंग्यार्थ का है। इस तथ्य का विवेचन इस प्रबन्ध भाग में यथास्थान करेंगे।

इन कृतियों के अतिरिक्त Dr.R.C.Dwivedi की पुस्तक Principles of Literary Criticism in Sanskrit. 1969 K.K.Krishnamoorthy की Essays in Sanskrit criticism और Dhvanyaloka and its critics डा० निर्मला जैन का रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, गुरुवर्य डा० सुरेन्द्र पाण्डेय का ध्वनि सम्प्रदाय विरोधी सिद्धान्त और उनकी मान्यतायें इत्यादि ग्रन्थ प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में बहुत सहायक हुए हैं।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक में स्थल-स्थल पर अपने स्वतंत्र मतों को गुप्त ढंग से निवेशित किया है - इस तथ्य की ओर कतिपय विद्वानों ने संकेत मात्र कर दिया है। किन्तु अभी तक किसी ने उसका विश्लेषण करके यह नहीं सिद्ध किया है कि किस प्रकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के मत को गौण करके अपने मत को प्रधान बना दिया है, वे कौन से कतिपय तथ्य हैं जो ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त द्वारा बलात् आरोपित होकर स्वयं प्रधान बन गए हैं। इस सम्बन्ध में इन्हीं तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

संक्षेप में, प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य-लोचन का मूल्यांकन है, इसमें अभिनव गुप्त की व्याख्या पद्धति का तथा ध्वनिकार के सिद्धान्तों के साथ अभिनवगुप्त

१- आनन्दवर्धन पृ० ७८ २- आनन्दवर्धन पृ० ४३८

के कैमत्य का समालोचनात्मक अध्ययन है । पूर्व सूरियों द्वारा दिखाए गए मार्ग पर चल कर मुझे वस्तुतः अधिक प्रयास न करना पड़ा । महाकवि कालिदास के शब्दों में -

मणौवज्र समुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः

(रघुवंश) ।

-----:०:-----

द्वितीय अध्याय

सिद्धान्त - पक्ष

व्याप्तिज्ञान में विषय-बाधा :-

व्याप्ति-सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक आचार्यश्री उदयन के एक प्राग्भिकारी, अत्यन्तवादी आचार्य थे। उन्होंने उदयन की नहीं, अपितु वैसा रखता है। व्याप्तिज्ञान की भी ऐसी स्थिति का जानना अवश्य करना चाहिए होगा। इस तथ्य की पुष्टि इन्हीं की कृतियों तथा उनके उपलब्धि मतीत्व कारण आदि के इस रूपों से होती है।

व्याप्ति सिद्धान्त अनुमानों के मध्य केवल यही का विषय बना हुआ था। उसके स्वरूप का सिद्धान्त रूप में, किसी ग्रन्थ में प्रतिपादन नहीं हो पाया था। साथ ही उसके लिए सिद्धान्तों के अभाव में व्याप्ति के प्रति सशिवैचन्य संशय स्वाभाविक था। इसी कारण व्याप्तिकार ने अनुमानों के पुनःप्रीति के लिए व्याप्ति के स्वरूप का मुख्य रूप में प्रतिपादन का निश्चय किया।

१- न च तेषु व्याप्तिरीक्षणीया अनुमितिहेतुभूतोपलक्षणाविरहणीयत्वात्। व्यभू० १३६

२- यद्विज्ञानेऽपि न वस्तु चिन्तन मनःप्रसूतादि बाधते।
अनुपलब्धौ दृष्टिं न केवं मनोवैधौ विशुद्धं च यत्॥
कार्यं सम्बन्धिना सम्बन्धिनमिति प्रीत्वा प्रवर्तको,
नो विप्रलोभिनमाहि यिं प्रतिपत्ति पुनः स्वयं व्याप्तेः॥ व्यभू० २६-२७

३- कार्यत्वादना व्याप्तिरिति चेत्। सामान्यमूर्ध-
सम्बन्धार्थं वस्तुतस्ते कार्यमाहुस्तन्त्रे।
तेनेदृशार्थं विज्ञानविषये सत्यनुमानीयं
तेन पुनः सहभवनःप्रीतये सत्यस्तम्॥ व्य० २।९

१- ध्वनि के विरोधी मतों का प्रस्ताव और उनका खण्डन :-

आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादन के प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में ध्वनि विरोधियों को निम्नलिखित वर्गों में परिगणित किया -

क - अभाववादी

ख - लक्षणवादी

ग - अनिर्वचनीयतावादी

क- अभाववादी -

पूर्ववर्ती अलंकार, रीति, गुण आदि के उनके कुछ आचार्य एक वर्ग में परिगणित किए गए । ये ध्वनि के सामान्य विरोधी कहे गए हैं । यद्यपि इन्होंने कहीं शब्दशः ध्वनि का विरोध नहीं किया है । किन्तु, ध्वनि का उल्लेख ही न करना - इन्हें ध्वनि का अभाववादी मानने में पर्याप्त है । यदि ध्वनि की सत्ता उनके विचार से होती तो किसी न किसी प्रसंग में उनका वे उल्लेख अवश्य करते । क्योंकि इन्होंने ध्वनि का उल्लेख नहीं किया अतः आनन्दवर्धन ने उनकी गणना अभाववाद के अन्तर्गत की है । और इन अभाववादियों के विचारों को तीन रूप में प्रस्तुत किया, जो परस्पर एक दूसरे से पृथक् शब्दशः विचार गए हैं ।

पहले अभाववादी वे जो यह मानते हैं कि - काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है । शब्द को चमत्कृत करने वाले अनुप्रासादि शब्दालंकार होते हैं तथा अर्थ को चमत्कृत करने वाले उपमादि अर्थालंकार होते हैं । गुणों के विशिष्ट विन्यास से होने वाले चमत्कार को माधुर्य आदि गुणों से पुकारा जाता है । इस प्रकार गुण और अलंकार में ही सारी काव्य का अन्तर्भाव हो जाता है । रीतियां और वृत्तियां भी गुणालंकार में अन्तर्भूत हो जाती हैं । क्योंकि , उद्भट के द्वारा बतायी गई उपनागरिका आदि वृत्तियां अनुप्रास की वाचिक होने के कारण अनुप्रास अलंकार से अभिन्न हैं तथा वामन के द्वारा बतायी गई रीतियां गुण-विशिष्ट पदरचना रूप होने के कारण गुणों से अतिरिक्त नहीं हैं । अतः इनसे अतिरिक्त ध्वनि नाम का कोई नया तत्त्व शब्द नहीं ।

१- तत्र केचिदाचक्षते- शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम् । तत्र च शब्दस्यावाच्यत्वे ह्येवोऽनुप्रासादयः प्रतिज्ञाता एव । अर्थस्यापरोपमादयः । संघटनायाश्च ये - माधुर्यादिगुणेऽपि प्रतीयन्ते । उपनागरिकाद्या वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदनुप्रास-रूपिणीत्युक्ताः ता अपि यावत् सामान्यमेवम् । (शेष अंश अगले पृष्ठ पर)

दूसरे अलंकारवादी कहते हैं - काव्य में सम्मिलित ध्वनि नामक कोई तत्व नहीं है। क्योंकि कविगण जिस मार्ग से परम्परा से व्यवहार करते चले आ रहे हैं, वही काव्य का प्रसिद्ध प्रस्थान है। उससे अतिरिक्त प्रस्थान मानने पर काव्यत्व की हानि होगी। वस्तुओं को वाच्यादि करने वाला उभयार्थ स्वभाव ही काव्य का लक्षण है।। उससे अतिरिक्त ध्वनि प्रस्थान असम्भव है। केवल कुछ वस्तुओं के द्वारा ध्वनि को काव्य माना भी जाय तो वह सभी विद्वानों को मनोग्राही नहीं होगा।

अर्थात् संक्षेप में कहा जा सकता है कि इनके अनुसार ध्वनि चमत्कारी तत्व नहीं है।

तीसरे अलंकारवादियों का कथन है कि ध्वनि नाम की कोई पृथक् वस्तु सम्भव नहीं है। क्योंकि, यदि ध्वनि कोई अनीय काव्य तत्व है तो निश्चय ही उसका पुनर्गठनकर में ~~के-दी-जिसी-का-नाम-वक्र-वर्-ध्वनि~~ अन्तर्भाव हो जायगा। और, यदि इस पुनर्गठनकर में वे ही जिसी का नाम वक्र वर ध्वनि नाम दे दिया जाय, तो यह कोई विशेष बात नहीं।

और, फिर वास्तविकता ये तो अलंकार प्रकार सम्मत हैं, अतः प्राचीन आचार्यों ने काव्य के विषय में इस कुछ नहीं कह दिया। यदि इनकी पूरण पुष्टि में कुछ छूट भी गया हो तो उसे भी ध्वनि नाम से पुकारा जा सकता है। किन्तु, उसे काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता। अन्य आचार्यों ने उपमादि अलंकारों के भेद प्रकार हैं और बताये हैं, किन्तु उनकी ऐसी सर्वमान्यता की स्थिति नहीं दिखाई पड़ती। अतः ध्वनि प्रकाश मात्र है। अतः उसका कोई विचारणीय तत्व

पिछले पृष्ठ का शेष अंश- रीतयश्च वैशेषिकगुणाः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिनामेति। (ध्वन्यु० १६-२०)।

१- अन्ये तु:- नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः। अनुपनतस्वाहादविदाह्लादकारित्वेनैव काव्यलक्षणत्वात्। न चोक्त प्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति। न च तत्प्रकाराभ्यन्तरीकृतः कश्चित् स्वरितत्वस्य तत्पुरस्कारेण ध्वनौ काव्यव्यवहारः प्रसिद्धोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामनुभवति। ध्वन्यु० २२।

प्रकाशित नहीं किया था अथवा ।[१]

इन अलंकारिकों को हम निम्नलिखित दो वर्गों में प्रस्तुत कर सकते हैं -

१- ध्वनि का प्राचीन काव्यशास्त्र में अभाव,

२- ध्वनि में चमत्कार या काव्यत्व का अभाव, तथा

३- ध्वनि में काव्यात्मता का अभाव ।

१- गुणवाद -

गुण या उपादान में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले गुणवादी हैं । यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व किसी भी आलंकारिक ने ध्वनि शब्द का नाम लेकर उसे उपादानरूप नहीं कहा तथापि उन्होंने शब्द के अभिधेयार्थ से अतिरिक्त अर्थशक्ति की सत्ता स्वीकार की है । ऐसे किसी आचार्य का नाम आनन्दवर्धन ने नहीं लिया है ,किन्तु अभिनवगुप्त ने भामह,भट्टोद्भट, वामन आदि का नाम लिया है । भामह विवरणकार उद्भट मुख्य अभिधाव्यापार से अतिरिक्त गुणवृत्ति को स्वीकार करते हैं ।[२] आचार्य वामन वक्रोक्ति अलंकार में लक्षणा - निमित्त उपादान को सत्ता मानते हैं । किन्तु इस उपादान के अन्तर्गत प्रतीति होने वाले प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए उन्होंने ध्वनि व्यवहार नहीं किया। इससे ऐसा लगता है कि भामह ने अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त उसी अर्थ को लक्ष्य अर्थ मानते थे और उपादान में ही उसी का अन्तर्भाव कर लेते थे । इसीलिए

१- द्वारादौ उपादानलक्षणया व्यवहारः - न चाभ्यन्तरेण ध्वनिनाभिधानीयः कश्चित् । कामनीयकनिबन्धनायास्तस्यौचित्यमेव वाक्यस्थैर्यहेतुत्वमन्तर्भावात् । तेनौचित्यमात्रेण वा व्युत्पत्तिमात्रव्यापाराक्षेपिणी वक्तृबोधिका वृत्तिर्व्यंग्य स्यात् ।

किंच वाच्यविशेषावगमान्यथानुपपत्त्यापि वा कल्पितरूपाद्यवयवाभिधानिभिः प्रसिद्धैरुपाधिभिः प्रसादैरेव ध्वनिर्व्यापारादि यत्किंचिदेतत्प्रतीयमानत्वं वाक्यानुप्राणितवचनैरुक्तं तत्र हेतुं न विद्मः । यदु उपस्कृतो हि यत्नात्पदाभिन्यैरलंकारकृतरः पूर्वाचार्याः पूर्वाहरन्ति च । न च तैरेवायमेवं पदा मुक्तो । उपस्कारप्रकाशनार्थं ध्वनिः । न त्वयमेव तात्पर्यार्थं सत्यं किंचिदपि पूर्वाचार्यैरुक्तम् । ध्व० पृ० २४-२६ ।

२- उपादानलक्षणाभिधाव्यापारौ मुख्यौ गुणवृत्तिश्च इति भट्टोद्भटः-का०सू०२२

आनन्दवर्धन कहते हैं- इन आचार्यों ने अवश्यिर (अनुस्वार) की सत्ता स्वीकार कर व्यञ्जनविद्या का अनुशीलन तो किया किन्तु ध्वनि संज्ञा को प्रतिष्ठित नहीं किया। व्यञ्जकार की यह सम्भावना उचित स्वाभाविक है कि भाक्तवादी गौण अर्थ में ही व्यञ्जना को अन्तर्भाव कर लेते हैं।[१]

ग - अनिर्वचनीयतावादी -

इनके अनुसार का मत है कि व्यञ्जना एक अनिर्वचनीय तत्व है। अर्थात् व्यञ्जना का अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु निर्वचन नहीं किया जा सकता। इन लोगों ने व्यञ्जना को स्वीकार तो किया किन्तु, उसका लक्षण माना- शब्द अर्थ का एकान्त वाक्यविशेष के प्रयोग विशिष्ट ज्ञाता द्वारा ज्ञेय किन्तु अनाख्येय तात्पर्य।[२]

आनन्दवर्धन के शब्दों में ये लोग या तो कुहनार[३] हैं और प्रमाण - निर्माण का जो कठोर श्रम है उसे करने में असमर्थ हैं या फिर इन्हें गहन एवं सूक्ष्म वस्तु का विश्लेषण करना नहीं आता।[४]

१- भाक्तमाहुरपरे। अन्ये तं व्यञ्जनाख्यं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। यद्यपि च व्यञ्जनाप्रतीतिरेव काव्यलक्षणविभागविभिन्नगुणवृत्तिरित्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अनुस्वारवत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता व्यञ्जनायाँ नयावलम्बोऽपि न दर्शित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् - भाक्तमाहुरपरे इति। ध्व० पृ० २८-२९।

२- केचित्पुनरेतावल्लक्षणव्याख्यानमात्रेणैव व्यञ्जनातत्वं निराकर्तारं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव तत्तत्वमाचक्षते। ध्व० पृ० ३१।

३- यत्र शब्दावाचकतां न वृत्तिवृत्तिविभागेन तात्पर्यवशेन एवविधविभागानां वाचकत्वलक्षणत्वेनाभावात्तो काव्ये तत्र व्यञ्जनव्यवहारः इति लक्षणं व्यञ्जनाया केनचित्। ध्व० पृ० ३२७-२८।

४- लक्षणव्याख्यानमात्रकाः - ध्वन्यालो० ३१।

५- अलक्ष्यविशेषवाक्यावधा तु विवेकावधावनूदेव। ध्व० पृ० ३२८।

ध्वनि विरोधी मतों का समाधान -

पूर्वोक्त आक्षेपों का समाधान आनन्दवर्धन ने निम्न प्रकार से किया है -

अनौचित्यवादी -

अनौचित्यवादी वाच्यवाचकभाव में ही काव्य का सारा चमत्कार मानने वाले हैं, किन्तु ध्वनिवादी की दिशा इससे भिन्न है। वह तो ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ का सहारा उपयोगी मानता है। अर्थात् जहां वाच्यार्थ अपने को तथा वाचक शब्द अपने अर्थ को अप्रधान बनाकर प्रतीयमान अर्थ को व्यंजित करते हैं वही ध्वनि है।[1] इससे उपमादि अलंकारों का ध्वनि से स्पष्ट व्यवधान हो जाता है, क्योंकि उपमादि अर्थालंकार वाच्यार्थ के तथा अनुप्रासादि शब्दालंकार वाचक शब्द के ही चारुत्व हेतु होते हैं। इससे ध्वनि का विषय भिन्न है।

दूसरे अनौचित्यवादियों का मत था - 'प्रसिद्धौचित्यबाधिरसादिरेव काव्यस्यात्मेत्यनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गकारणम्'(ध्वन्यालोक)। आनन्दवर्धन इसका खण्डन करते हुए कहते हैं - यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि काव्य चमत्कारों के लिए जो केवल गुणालंकार रूप प्रत्यय ही प्रसिद्ध नहीं है वरन् उससे अतिरिक्त ध्वनि प्रत्यय भी है। यही ध्वनि सब सहृदयों को आस्वादित करने वाला काव्यतत्व है। इससे अतिरिक्त चित्रकाव्य है।[2]

तृतीय अनौचित्यवादियों का मत था - 'रामणीयकलक्षणविरहिणामपि सत्त्वोत्कर्षकारिभिरलंकारादिभिरन्यथासिद्धिः इति'।(ध्वन्यालोक)

आनन्दवर्धन इसका भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह भी अनौचित्य है। क्योंकि वाच्यवाचकभाव पर आश्रित गुणालंकारों में व्यंग्यव्यंजकभाव पर आश्रित ध्वनि का वैसे अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि वाच्यवाचक के चारुत्वहेतु अलंकार

१- ध्व० ध्वा० १।१३

१- ध्व० ध्वा० पृ० १०६-१०७

आदि उस व्यंग्य के अंगभूत हैं और व्यंग्य अंगी रूप है।[1]

आनन्दवर्धन ने ध्व० २।३ में ऐसे पद्यों का प्रदर्शन किया है जो तीनों प्रकार के अनौचित्यवाद के उदाहरण रूप हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं वृत्ति में कहा है -

तत्र व्यंग्योत्कर्षाधीनो यत्किञ्चिदौचित्यादि निरवद्यरूपमिति[2] उपकरणीभूत-स्वार्थौ इति।

इस पर पूर्वपक्षी यह कहता है कि जिन अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती उन अलंकारों में भले ही व्यंग्य का अन्तर्भाव न हो किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा, आक्षेप, पर्यायोक्त, अन्योक्ति आदि जिन अलंकारों में प्रतीयमान का चमत्कार स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाता है उनमें तो व्यंग्य का अवश्य ही अन्तर्भाव मानना ही उचित है।[3]

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के उत्तर में आनन्दवर्धन कहते हैं - उन्हें वाच्यार्थ अपने को गौण नहीं करता इसलिए उन्हें व्यंग्य नहीं कहेंगे। व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर ही व्यंग्य होता है। अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में व्यंग्य की स्फुट प्रतीति होती अवश्य है किन्तु उन स्थलों में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को ही उपस्कृत करने लगता है। वाच्यार्थ का उपस्कारक होने के कारण उक्त अलंकारों में गणना होती है। अतः वाच्यार्थ को गौण करके व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के अभाव के ही कारण अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में व्यंग्य का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यदि व्यंग्यार्थ प्रधान हो और वाच्यार्थ गौण हो अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में व्यंग्य का नहीं, परन्तु व्यंग्य में ही अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों का अन्तर्भाव हो जायेगा। अर्थात् सब ये व्यंग्य के प्रकार हो जायेंगे। इस प्रकार अनौचित्यवादियों के मत का खण्डन किया।

गुणवाद का खण्डन-

गुणों में ही व्यंग्य का अन्तर्भाव मानने वाले गुण-वादियों का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

---

१- ध्व० पृ० १७७

२- ध्व० पृ० १७८

३- ध्वलो० १७८

ध्वनि- शक्ति के साथ स्वत्व प्राप्त नहीं कर सकती । क्योंकि वहां वाच्यार्थ का प्रतिपादन व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के लिए हो पाता है । और, शक्ति तो उपचार मात्र है ।

यदि शक्ति ,ध्वनि का लक्षण हो तो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आ जाते ।

अतिव्याप्ति दोष -

ध्वनि के भिन्न स्थल में भी शक्ति सम्भव है यह अतिव्याप्ति है । जहां व्यंग्यमूल चमत्कारोत्पत्ति नहीं होती वहां भी कविजन प्रसिद्धिवश उपचरित शब्द व्यापार द्वारा व्यवहार करते हैं यथा -

'परिम्लानं पीनस्तन' इत्यादि में 'मुखाम्भोजस्य श्रियमिव हरन्ती-मलकवलम्' में प्रयुक्त 'करोति' पद उपचरित है । यह 'कृष्णति' के अर्थ में प्रयुक्त है । इस प्रकार का प्रयोग कभी ध्वनि का विषय नहीं होता । क्योंकि जो चारुत्व पूर्वोक्त शक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता है उसे प्रकाशित करने वाला एवं व्यंजना को धारण करने वाला ही शब्द ध्वनि का विषय होता है ।

ऊपर उदाहृत विषय में 'करोति' पद उपचरित वृत्ति से अतिरिक्त शक्ति से सहृदय होने के कारण चारुत्व की व्यंजना का हेतु नहीं है । क्योंकि उसके स्थान पर 'कृष्णति' रख दिया जाए तो कोई चारुत्व नहीं आएगा । कभी कभी शब्द अपने विषय से अन्य विषय में भी शब्द रूढ़ हो जाते हैं, जैसे लावण्यादि प्रयुक्त शब्द , वे ध्वनि के विषय नहीं होते । यदि इस प्रकार के विषय में कहीं ध्वनि का व्यवहार सम्भव होता भी है तो वह उस शब्द के द्वारा नहीं होता वरन् प्रकारान्तर से होता है ।

उपचारवृत्ति व्यंजकत्व का लक्षण बताते हैं -'जिस पद की उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति को छोड़ कर गुणवृत्ति से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है वहां (उस पद के श्रवण में) शब्द स्वतन्त्रवृत्ति अर्थात् वाच्यार्थ नहीं होता है ।'

क्योंकि चारुत्वातिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के होने पर यदि शब्द की अमुख्यता हट गई तो उसके प्रयोग में मुख्यता होगी । परन्तु ऐसा नहीं होता है । इसी कारण उस प्रकार कहा गया -

'वाचस्पति के आधार पर गुणवृत्ति अव्याप्ति है, अर्थात् विशेष एकमात्र मूल है, तब 'व्याप्ति' का यह लक्षण कैसे हो सकती है ? इस कारण व्याप्ति भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है।'

अव्याप्ति -

अपने लक्ष्य में लक्षण न होना अव्याप्ति है। विशेषितसाध्यवान् साध्य रूप व्याप्ति मेरे और अन्य मतों के अनुसार शक्ति के अन्तर्गत नहीं है, अतः शक्ति व्याप्ति का लक्षण नहीं है। 'शक्ति' व्याप्ति के किसी भेद का लक्षण हो सकती है किन्तु शक्ति में ही व्याप्ति का अन्तर्भाव करना कभी असम्भव है।

आनन्दबोधी ने शक्ति के लिए गुणवृत्ति का प्रयोग किया है और शक्ति को 'उपकार' भी कहा है। अतः आनन्दबोधी के मत में शक्ति, गुणवृत्ति, उपकारवृत्ति, उपादानवृत्ति सभी पर्यायवाची शब्द हैं। तृतीय उपाय में भी आनन्दबोधी ने व्यंजकत्व और गौणत्व में स्वरूपतः और विषयतः भेदोपादान किया है। तत्त्वतः व्याप्तिविरोधी मालवाधियों के लिए यह सभी उपस्थित किए गए हैं। वस्तुतः मालवाधियों(उपादानवाधियों) को तब तक पराहत नहीं किया जा सकता जब तक उपादानशक्ति तथा व्यंजकशक्ति की परस्पर भिन्नरूपता तथा भिन्नविषयता का पूर्ण विवेचन न हो जाय। इसी प्रश्न को व्यभिचार व्याख्याकार के तृतीय उपाय में उठाते हैं और सिद्धान्त पूर्ण और तर्कसम्मत उपपादन प्रस्तुत करते हैं। इसका विवेचन हम उक्तव्याख्यार के प्रश्न में करेंगे।

अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन -

व्याप्ति के स्वरूप को अनिर्वचनीय मानने वालों का यदि यह अभिप्राय है कि व्याप्ति का वाणी द्वारा निर्वचन नहीं हो सकता तो उसका व्याप्ति सिद्धान्त का स्वयं विस्तृत विवेचन हो जाने से ही स्वतः खण्डन हो जाता है। और यदि अनिर्वचनीयता से उनका अभिप्राय व्याप्ति की उत्कृष्टता सिद्ध करना है तो उनका यह मत उचित प्रतीत होता है।[1]

१- दृष्टव्य व्या० पृ० १६२-१६३।

आनन्दवर्धन ने इसके अतिरिक्त को दो वर्गों में बाँटा है -

(१) असूक्ष्म, (२) पाङ्क्तिक।[१]

इसलिए यदि कोई अलक्ष्यक्रमव्यंग्यवादी कहे कि - जिस प्रकार शब्द की अस्पृष्ट वाच्यता केवल विशेषण द्वारा होती है और उसका उसी द्वारा वर्णित अवस्थान है उसी प्रकार काव्य में शब्द विशेष तथा अर्थ विशेष का पारस्परिक केवल संसृष्यवस्थितत्व होने के कारण अलक्ष्यक्रम है। ऐसे ही काव्य को व्याप्त किया जाता है।[२]

आनन्दवर्धन उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए कहते हैं - 'ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि व्यंग्य काव्य के शब्द स्वरूपतः अनिष्ठ एवं असुकर होते हैं, अर्थात् वे वाचकों या कोष की अनुमति के विपरीत नहीं चलते और अन्वर्थ एवं सम्पूर्ण रूप से वाच्य रहते हैं। इन शब्दों में जो अन्वर्थ अभिव्यक्तिता रहती है वह भी स्पष्ट और प्रकाशित रहती है, जिसमें प्रतीयमान अर्थ का भी प्रतिपादन करने की सामर्थ्य रहा करती है।[३]

और, व्यंग्य काव्य के अर्थों की विशेषता हुआ करती है - 'उनका स्पष्ट रूप से प्रतीत होना, मुख्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने में अनुपम प्रकार सहकार रखना तथा स्वयं के भीतर अवान्तर व्यंग्य अर्थों को छिपाए रहना।[४]

अतः आनन्दवर्धन के अनुसार व्यंग्यकाव्य के सहज शब्द और अर्थ में ऐसा कोई भी अंश नहीं रहता जिसका निर्णय अनुमानों द्वारा भी न किया जा सके।

पाङ्क्तिकों के अलक्ष्यक्रमव्यंग्यवाद को आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित तीन वर्गों में प्रस्तुत किया है -

---

१- पु० डा० देवेन्द्रनाथ द्विवेदी - आनन्दवर्धन पृ० २२७।

२- पु० व्य० पृ० १२७-१२८।

३- शब्दानां स्वरूपाख्यः(विशेषः) अनिष्ठस्वे सत्यसुकरप्रयोगः वाचकाभ्यनुज्ञादौ व्यंग्यत्वं वैशिष्ट्यम्। व्य० पृ० १२८।

४- अर्थानां च स्फुटप्रतीतत्वं मुख्यप्रतीतिसहकारित्वं व्यंग्यांतरविशिष्टत्वं चेति विशेषः। व्य० पृ० १२८।

(ग) सर्वशब्दागोचरतावाद

(घ) सामान्यसंज्ञाविशिष्टसंज्ञाभागोचरतावाद तथा

(ङ) अनिर्देश्यतावाद[१]।

(क) सर्वशब्दागोचरतावाद:

ये इतने अधिक सावधान हैं कि व्याप्ति को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसका शब्दों द्वारा निर्वचन करना असम्भव मानते हैं। आनन्दवर्धन इनके विषय में कहते हैं - ऐसी अनिर्वचनीयता तो प्रत्येक पदार्थ में रहती है, केवल व्याप्ति में नहीं। चाहे कुछ भी तर्क किया जाय फिर भी अनिर्वचनीय पदार्थ की भी क्या है कि अनिर्वचनीय शब्द है तो कहा ही जा सकता है।[२]

(ख) सामान्यसंज्ञाविशिष्टसंज्ञाभागोचरतावाद : इनके अनुसार जैसे वस्तु का जो बोध होता है उसमें वस्तु के सामान्य रूप का आभास होता है, विशिष्ट रूप का नहीं - इस नियम के अनुसार व्याप्ति शब्द का सामान्य रूप नहीं, उसका विशिष्ट रूप है। अतः शब्दों द्वारा उसका निर्वचन असम्भव है। जिस प्रकार शब्द रूप के सामान्य रूप का ज्ञान करा सकता है उसकी विशेषता (लक्षणिकता) का नहीं)।

आनन्दवर्धन कहते हैं- उपर्युक्त तर्क असंगत है क्योंकि काव्य और रूप दोनों के ही स्वरूप की व्याख्या अलंकारों ने की है। यह सत्य है कि व्याप्ति सत्य अनिर्वचनीय नहीं होता ठीक वैसे ही जैसे रूपों का लावण्यत्व (लक्षणिकता)। अतः व्याप्तित्व को भले ही काव्यशास्त्र व उसके पारंगत विद्वानों को अनुभव होते हैं वे उसे वचन की परिधि में ला सकते हैं। इस प्रकार व्याप्ति में यदि कोई अभाव सिद्ध होता है, तो वह केवल अनिर्वचनीयत्व का अभाव है, अतः उसमें यदि अनिर्वचनीयता का अभाव स्वीकार करना भी तो केवल साधारण शब्दों द्वारा असम्भव निर्वचनीयता

१- ध्व० व्य० पृ० ४२६।

२- अलक्ष्यत्वेनापि अनिर्वचनीयत्वेन न कस्यचित् सम्भवति। अन्यतो वाच्यवैलक्षण्येन - प्रसिद्धिमात्रपर्यवसायात्। ध्व० पृ० ४२८-४२६।

का ही अनुभव स्वीकार कर चलते हैं। इनके मत में व्याप्ति में निर्विकल्पकता का आत्यन्तिक अभाव सिद्ध नहीं होता। अतिरिक्तम् अनुमान उसका निर्णय कर ही लेते हैं।[1]

(घ) अनिर्देश्यवाद -[2] बुद्ध तीन बौद्धों के क्षणभंगवाद से प्रभावित होकर व्याप्ति को भी अन्य सभी पदार्थों के समान अनिर्देश्य मानते हैं। ये तीन प्रत्येक वस्तु को क्षण को प्रवाह रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्येक पदार्थ नित्य परिवर्तनशील है अतः उसका ज्ञान नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार व्याप्ति भी है। किन्तु क्षणभंगवादी बौद्धों ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण बनाये हैं। यदि उनकी उपयोगिता है तो व्याप्ति लक्षण की उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं। बौद्धों के इस सिद्धान्त का परीक्षण न्यायकार ने विभिन्नत्व नामक बौद्ध ग्रन्थ की मनोरमा नामक टीका में किया है।[3] फलतः व्याप्ति का निर्णय और उसका ज्ञापन दोनों संभव सम्भव हैं। अतः अनिर्वचनीयतावादियों का यह मत कि शिष्ट शब्द में अनालोच्य वस्तु मात्रित की उसे व्याप्ति कहते हैं - यह व्याप्ति का लक्षण कहना उचित नहीं।[4]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने व्याप्ति विरोधी तीनों मतों अनाकलङ्क मतवाद मतवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद का उपस्थापन करके उनका खण्डन किया।

२- काव्य से पृथक व्यंग्य-अर्थ की सत्ता एवं महत्ता

काव्य में प्रयुक्त होने वाले वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से व्यंग्यार्थ(प्रतीयमानार्थ) का अधिक महत्व है। व्यंग्यार्थ का अधिक महत्व होने पर भी, व्यंग्यार्थ

१- डा० देवराज त्रिवेदी - आनन्दवर्धन - पृ० २१०।

२- अनिर्देश्यत्वं क्षणिकत्वादिवत्वं बौद्धानां प्रसिद्धं। व्य० पृ० ४२६।

३- व्य० पृ० ४२६।

४- अनालीढांशवाच्यत्वं त्रिरूपाभावतोऽपि वा व्याप्तेः।
न लक्षणं, लक्षणं तु वाच्यौचित्यस्य सूचितम्॥ व्य० पृ० ४२०।

के प्रति ध्वन्यालोककार का वाच्यार्थ के लिए उसी प्रकार कथन करते हैं जिस प्रकार वाक्यार्थवादी मीमांसक के लिए। क्योंकि, वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ बोध का अनिवार्य साधन है। जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति वाच्यार्थप्रतीति-पूर्विका होती है। किन्तु वाच्यार्थप्रतीति-पूर्वत्व होने पर भी व्यंग्य-अर्थ का प्राधान्य व्याहत्य नहीं होता। तथा जिस प्रकार पदार्थ स्वसामर्थ्य द्वारा वाक्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी आकांक्षा-निष्पत्ति की स्थिति में विलय रूप से भासित नहीं होता उसी प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न सत्ता वाले सहृदयों की तत्त्वास्वादिनी बुद्धि में व्यंग्य-अर्थ का स्थिति काल-भासित तो होता है, उसमें वाच्यार्थ पृथक् रूप से प्रतीत नहीं होता।

यहां एक तथ्य की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि आनन्दवर्धन ने (ध्व० १।१० में) कहा है - 'यथा हि पदार्थ द्वारेण वाक्यार्थस्तिरस्तथा वाच्यार्थप्रतीति-पूर्विका व्यंग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः'। यहां केवल उदाहरण के कारण साम्य की विवक्षा है। वस्तुतः वाच्य-व्यंग्य में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित नहीं होता। उसमें घटप्रदीपन्याय ही घटित होता है। क्योंकि व्यंग्यार्थ-प्रतीति के समय वाच्यार्थ-प्रतीति उसी प्रकार लुप्त नहीं होती, जिस प्रकार घटप्रकाशन के अनन्तर प्रदीप की सत्ता।[१] किन्तु पदार्थ वाक्यार्थ न्याय में ऐसा नहीं होता।

आनन्दवर्धन ने वाच्य और व्यंग्य इन दोनों प्रकार के अर्थों में से व्यंग्य-अर्थ या प्रतीयमान-अर्थ पर ही अपनी अन्वीक्षिका दिखायी है। उसी का विवेचन करना प्रस्तुत प्रबंध का प्रयोजन है।

प्रतीयमान-अर्थ -

प्रतीयमान-अर्थ या व्यंग्य-अर्थ तीन प्रकार के हैं - वस्तु, अलंकार एवं रसादि। यह ध्वनि काव्य का सारभूत तत्त्व है। इसके उक्ति एवं अनुक्ति वैशिष्ट्य से काव्य में चारुत्व आ जाता है। इसलिए यही सहृदयों द्वारा

१- तस्माद्घटप्रदीपन्यायतस्यो:, यद्यपि हि प्रतीयमानेन घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रतीयमानप्रतीतिर्विगच्छति तदपि व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यापलापः।
यह पूर्वपक्षीयोक्ति 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्यादिभाष्य सदृशोदाहरणमात्रसाम्यविवक्षया।
ध्व० पृ० ४२२।

रहनीय तत्व है।[1] उदाहरण

महाकवियों की ही वाणी उस व्यंग्य-अर्थ का निष्पन्दन करती है एवं अलौकिक प्रतिभा विशेष का स्फुरण करती हुई अभिव्यक्त होती है।[2] इन कवियों की वाणी में निहित व्यंग्य-अर्थ काव्य के प्रमुख अंगों के अतिरिक्त एक अन्य वस्तु भी है। जो इसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार लावण्य में लावण्य।[3] यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य से अलग भिन्न होता है।[4]

वाच्य से व्यंग्य का पार्थक्य -

अर्थ का यह जो प्रतीयमान रूप है यह वाच्य से भिन्न होता है।

(क) अर्थ जहाँ वाच्य रूप में निष्पादक होता है वहाँ प्रतीयमान रूप में निर्वाहक। उदाहरणार्थ -

'हे पापिन! आप का निश्चिन्त होकर घूमिए। अब घूमें जो गोदावरी तट के लतागृहों में विचरण करने वाले उन्मत्त विंध्य के वाम मार डाला।'[5]

यहाँ 'घूमिए' क्रियापद है, वाच्य रूप में प्रणयक्रिया का विधान किया जा रहा है। अतः यहाँ जो वाच्यार्थ है उसका प्रारम्भिक रूप निष्पादक है। किन्तु, वाक्य जिस परिस्थिति में कहा गया है उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है

१- काव्यस्य यो द्वितीयोऽस्तिरस्कारिण: शरीरस्येवात्मा सारभूतया स्थित:
तत्प्रकारतायां यौऽर्थ(व्यंग्यार्थ:) इत्यादि। व्यलो० ४६-४६

२- व्य० पृ० १।६

३- यत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं स्थितमि लावण्यादिवार्थेषु। व्य० पृ० ४६

४- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। - - -
तेषु यत्तेषु प्रसिद्धेषु तत्त्व वाच्यादन्यत्वम्।
तथा ह्यङ्गनासु लावण्यप्रभृतयो वाच्यादन्यं विभेदयन्। व्यलो० ४६-४२

५-मु० व्य० पृ० ४२।

यहां - प्रतर्कनिषेध रूप - दूसरा ही अर्थ निकल रहा है, यही प्रतीयमान अर्थ है।
(ख) कहीं अर्थ का वाच्य रूप निषेधात्मक होता है और प्रतीयमान रूप विध्यात्मक यथा-

'मेरी टूटी बाह यहां होती है, और यहां मैं। फिर मैं वह रूप कैसे लौं। हे पथिक! कहीं तुम हमारे खिड़की पर न सिर पटकना, तुम्हें राम की सौगंध की आती है।'[1]

यहां जो वाच्यार्थ निकल रहा है वह निषेधात्मक है। किन्तु वह कथन किसके द्वारा कहा गया है और किस परिस्थिति में कहा गया है उससे कुछ और ही रहस्य निकल रहा है। नायिका निषेध के छल से पथिक को अत्यधिक और निश्चिन्तता के साथ अपने पास आने का संकेत कर रही है। यह प्रतीयमान अर्थ विध्यात्मक है।
(ग) कहीं वाच्य के विधि रूप होने पर व्यंग्य न विधिरूप तथा न निषेधरूप होता है।

'बालो, उच्छवास और रुधन अनेकों युगों ही भोगने पड़े। उसके वियोग में वह व्यथा मेरे पास दाक्षिण्य के कारण आ जाने से तुम्हें भी न उठाने पड़े।'[2]

यहां किसी नायिका का अपने ऐसे प्रिय के प्रति कथन है जो दूसरी से छिप कर प्रेम करता है और उसके पास से छूट कर आया है। यहां 'बालो' रूप विधात्मक पद से जिसका अर्थ प्रतीत हो रहा है वह न विध्यात्मक है और न निषेधात्मक। वह है अन्य नायिकाविधि रूप।

(घ) इसी प्रकार वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर व्यंग्य न विधिरूप और न निषेध रूप होता है। यथा -

'मान जा, प्रसन्न हो जा, छोड़ दे। अरी तू तो अपनी मुखकान्ति से अंधकार दूर कर रही है। अरी सखी, तू तो दूसरी अभिसारिकाओं को भी दिग्भ्रम में डाल रही है।'[3]

१- ध्व० चन्द्र० पृ० ७८।
२- ध्व० चन्द्र० पृ० ७३।
३- ध्व० चन्द्रा० ७८।

यहां ओट पड़ने की बात अभिधेयात्मक है । किन्तु इसी की दूसरा अर्थ निकल रहा है वह अभिधेयात्मक है और न विध्यात्मक । यह है गाढ़त्व ।

(घ) कहीं कहीं वाच्यार्थ से विभिन्न विषय का व्यवस्थापित प्रतीयमान अर्थ होता है । यथा -

'प्रिय है कृतघ्नता अगर की देखकर यहां किसे रोष नहीं होता, यही मना करने पर भी गति बाधित करने वाली, अब तू उसका तुम्हारिणाम सुन ।'[1]

यहां वाच्यार्थ तो अभिनिवेशी के प्रति है परन्तु उपस्थित व्यक्तियों में कौन है ऐसा जो इसके निकलने वाले अर्थ से बचा रह गया हो । स्पष्ट है कहा गया कि उसकी यही चाहती है । उसका अन्य किसी कारण नहीं, अपितु प्रत्यक्ष से प्रतीत है । उपपति से कहा जा रहा है कि अब तो तुम्हारी इस प्रिया की किसी प्रकार मनाए लेती हूं , भविष्य में यदि ऐसा होगा तो अच्छा नहीं । सौतों और पड़ोसिनों से कहा गया कि मेरे रहते तुम्हारी दुराशायें पूरी नहीं हो सकतीं । मेरी सखी अब भी अपने पति को प्यारी रहेगी। स्वयं नायिका से भी कहा जा रहा है कि तुम निश्चिन्त रहो । तुम्हारा पति उपपत्नियों के बीच तुम्हारा तिरस्कार नहीं करेगा । मैं हूं तो तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । इसमें जो बात निकलने अथवा कहने की जा रही है उसकी प्रतीति इस व्यक्ति विशेष तक ही सीमित है ।

ऊपर अर्थ के दो स्वरूपों का विवेचन हुआ - वाच्य और प्रतीयमान । इनमें से वाच्य से भिन्न व्यंग्य या प्रतीयमान की सत्ता देखी । अब उस प्रतीयमान के महत्व का प्रतिपादन करेंगे ।

प्रतीयमान का महत्व : आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम विवक्षा से उसके महत्व का भी प्रतिपादन किया है । प्रतीयमान अर्थ के प्रतिपादन से काव्य में जो वैशिष्ट्य आ जाता है वह वाच्यार्थ या

१- ध्व० भाग० पृ० ७६-७७ ।

२- आ० रेवा प्रसाद द्विवेदी - [illegible]

शब्दार्थ द्वारा नहीं वह सकता। वह प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य भी प्रत्येक कवि में नहीं होती। वह वस्तु तत्व (प्रतीयमान) अनेक अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न महाकवियों की वाणी में ही स्फुरित होता है।[1] यह 'अर्थ' केवल शब्द और अर्थ के विज्ञों के ज्ञान मात्र से नहीं जाना जा सकता वरन् काव्यार्थ के तत्व को जानने वाले सहृदय सामाजिकों को ही अभिव्यक्त होता है।[2]

इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ के बोधन की सामर्थ्य, कोषों और व्याकरण-शास्त्र में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द में नहीं होती। उसके लिए विशेष शब्द ही उपयुक्त होते हैं। उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करने में उन्हीं शब्दों का प्रयोग वही महाकवि कर सकता है, जो काव्यार्थ तत्वज्ञ हो। अतः महाकवि को उसका प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए।[3]

आनन्दवर्धन ने महाकवियों की कोटि में कालिदास आदि दो चार या पांच ही महाकवियों की गणना की है।[4] कवि की महत्ता उपर्युक्त प्रतीयमान अर्थ की सृष्टि और उपयुक्त शब्दावली के चयन, प्रयोग और उचित सन्निवेश में है। अतः व्यंग्य-व्यंजनादि को काव्य में सुन्दर ढंग से उपनिबन्धित करने से ही कवियों को महाकवित्व का ज्ञान होता है, न कि काव्यशास्त्र के ज्ञानमात्र से।

तथापि, महाकवि व्यंग्य-व्यंजक को प्रधान रूप से प्रतिपादित करने के पूर्व वाच्य-वाचक का भी उपबृंहण करते हैं, क्योंकि वाच्य और व्यंग्य में परस्पर वाच्य-वाचकी सम्बन्ध रहता है। जिस प्रकार वाक्योक्तार्थी उपायभूत दीपशिखा के लिए यत्न करता है उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ के प्रति सहृदय का वाच्य अर्थ के प्रति यत्न रहते हैं।[5] किन्तु उस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के समय वाच्यार्थ की प्रतीति उसी प्रकार व्यापृत्त नहीं होती, जिस प्रकार पट की प्रतीति के समय

१- ध्व० व्या० १।६ पृष्ठ१ ।
२- ध्व० व्या० १।७ पृ० ६२ ।
३- ध्व० व्या० १।८ पृ० ६७ ।
४- ध्व० व्या० पृ० ६१ ।
५- ध्व० व्या० १।६ पृ० ६६ ।

प्रतीत की । किन्तु यह प्रतीति अत्यन्त क्षीण होती है कि यह पृथक् रूप से आस्वादित नहीं होती । इसीलिए कहा गया - यह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न आस्वाद वाले सहृदय वर्ग की उत्पादनेच्छिनी बुद्धि में कट है तो अप्रतीति की बात है।[1]

इस व्यंग्य अर्थ का एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि व्यंग्य अर्थ का बाधक और प्रतिभा सम्पन्न कवियों द्वारा नवीन काव्य रचना करते रहते हैं । प्राचीन कवियों द्वारा विवक्षित अर्थ का संकेत होने पर भी यदि उस अर्थ को व्यंग्य द्वारा विशुद्धित कर दिया जाता है तो उसमें नवत्व आ जाता है ।

काव्यभेद -

उपर्युक्त व्यंग्यार्थ की प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर काव्य के दो भेद किए गए -[2]

१- ध्वनि काव्य

२- गुणीभूतव्यंग्य काव्य

जहां वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ की प्रधानता होती है, वहां 'ध्वनि-काव्य' होता है तथा जहां व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का अधिक चारुत्व होता है वहां 'गुणीभूत व्यंग्य-काव्य' होता है।

आनन्दवर्धन के अनुसार ये ही दो वास्तविक काव्य-प्रकार हैं । शेष व्यंग्य से रहित काव्य-रचनाएं काव्य नहीं, काव्य का चित्र या चित्रकाव्य हैं । क्योंकि , इनमें व्यंग्य वाक्शिक्तत्व होता है । इनमें वाच्य-वाचक का ही चमत्कार रहता है । आनन्दवर्धन इस प्रकार के काव्य को काव्यानुकृतिनाम कहते हैं ।[3]

१- द्र० व्य० १।१२ पृ० १७ ।

२- व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिर्वक्ष्यते काव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यंग्यता । व्य० पृ० ४६६।

३- रसादात्पर्यविरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनक्षमशब्दपूर्वं न काव्यं केवलवाच्य-वाचकवैचित्र्यमात्रप्रधानेनोपनिबन्धनाऽलेख्यप्रख्यं यथाभूतो लक्ष्यते । न तत्पूर्वं काव्यं । काव्यानुकारो ह्यसौ । व्य० पृ० ४६५ ।

ध्वनि काव्य :

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में दूसरी कारिका से बारहवीं कारिका तक अंग्य-अर्थ का परिचय देने के पश्चात् आनन्दवर्धन ने(ध्व० १।१३ में) ध्वनि स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है -

'जहां वाच्य-अर्थ तथा वाचक-शब्द अपने को गौण करके प्रतीयमान या अंग्य-अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं, विद्वान उस काव्यविशेष को 'ध्वनि' कहते हैं'।[1]

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की केवल यही एक परिभाषा दी है और अपने ग्रन्थ में उसका केवल एक 'काव्यविशेष' के अर्थ में ही उल्लेख किया है। इस तथ्य की पुष्टि उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से होती है --

१- अंग्य प्राधान्य हि ध्वनिः।[2]

२- काव्यविशेषोऽसौ ध्वनिरिति कथितः।[3]

३- ध्वनिर्नामैतिः प्रकारः काव्यस्य अंग्यिः[4] सोऽयम्।[5]

४- तत् ध्वनिः काव्यविशेषः एतल्लक्षणम्।

५- अंग्योऽर्थो उलाटावज्यक्रम्यो य प्रतिपादितस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्।[6] इत्यादि।

इस प्रकार ध्वनि को विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न रूप से विवेचित होना, एक काव्यविशेष के 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के अनुसार सामान्य काव्य में आत्मा रूप अर्थात् मैक्स अंश रूप से स्थित रहता है। जैसे 'निःशेषच्युत चन्दन तरुवाटं' इत्यादि काव्य में 'अलं' पद में ध्वन्यमान है जो सम्पूर्ण काव्य का अनिवार्य अंश

१- प्रतीयमानः पुनरन्यदेवास्त्यवाङ्मयेषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्व० १।४

२- ध्वन्यालो० १।४ ३- ध्व० वृ० १।१३

४- ध्व० वृ० १।१३ ५- ध्व० वृ० ३।०

६- ध्व० वृ० १।१३

अथवा वाच्यार्थ रूप है, इसी तरह अन्य ध्वनि भेद भी काव्य के भीतर विद्यमान होकर काव्य को उत्तम अथवा उत्तम बनाते हैं।

'ध्वनि एक काव्यविशेष है' - इस तथ्य को इस प्रकार भी समझा जा सकता है - जिस प्रकार 'वैदर्भीवाक्' में 'उपनागरा' एक गुणविशेष है। उस 'गुण-विशेष' के ही कारण उसे 'वैदर्भीवाक्' इस विशिष्ट संज्ञा से विभूषित किया जाता है। अन्यथा वह उपनागरा केवल गुणों का समूह मात्र होता। इसी प्रकार काव्य रूपी उपवन में 'ध्वनि' एक उपनागरा जैसा 'काव्यविशेष' है। और उस काव्यविशेष का प्राणभूत तत्त्व व्यंग्य अर्थ है। जो उस काव्य में प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है।

ध्वनिभेद-

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेदों का विवेचन दो प्रकार से किया है - अंग्यप्रधान और अंगप्रधान। अंग्यप्रधान में - वस्तु, अलंकार एवं रसादि के आधार पर विवेचन हुआ है। और अंगप्रधान में - व्यंग्य के अनुसार हैं। यही प्रबन्ध, पदांश, पद, पदार्ध सभी अंगभूत होते हैं। आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में अंगप्रधान विवेचन किया है। अंग्यभूत तथा अंगभूत भेद विवेचन करना मानो ध्वनि काव्य का ही भेद विवेचन करना है।

ध्वनि के संक्षिप्त दो भेद हैं -

(१) अविवक्षित वाच्य

(२) विवक्षितान्यपरवाच्य[२]

अविवक्षितवाच्य ध्वनि वह है जहां वाच्यार्थ सर्वथा अनुपयुक्त (अविवक्षित) अथवा अन्यपरोक्ष रहता है। इसे लक्षणामूलक ध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि यहां पर यह मुख्यार्थबाधादि लक्षणा के साथ प्रयुक्त होती है। लक्षणा भी उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा रूप से प्रयुक्त होती है। इन्हीं दो भेदों के आधार

१- काव्यात्मैऽविवक्षितवाच्ये विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनिविधिः।
तत्र प्रथमस्यानन्तरमेव भेदाः प्रदर्शयिष्यन्ते ॥ ध्वन्या० ३।२

~~२- अविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलो विवक्षितान्यपरवाच्यो~~
~~द्विधाभिधामूलो भावनामूलो च द्योतनामूलो ॥ ध्वन्या० ३।२~~

२- अविवक्षितः स च विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः
द्वावप्यर्थौ। ध्व० १।१३ की वृत्ति।

पर अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद होते हैं -

(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य

(२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य - जहाँ वाच्य अर्थ इस स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण करता है । अर्थात् वाच्यध्वनि में जो अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और उससे युक्त ध्वनि को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्य अर्थ का अतीव्रता परिवर्तन हो जाता है । यहाँ वाच्य अर्थ की अविवक्षा अर्थात् गौणता कर दी जाती है अथवा जो दूसरा अर्थ आता है वह उपादान लक्षण शब्दव्यापार से आता है । उसे वाच्य नहीं, अपितु लक्ष्य या व्यंग्य है । इसे ही अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि कहा गया है ।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद हुए - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि । ये दोनों भेद यहाँ एक पद से प्रकाशित होते हैं और यहीं अनेक पदों से । अनेक पदों से प्रकाशित होने पर उन्हें वाच्य से प्रकाशित कहा जा सकता है । इस प्रकार इनके भी दो प्रकार हैं -

(१) पदप्रकाश्य तथा

(२) वाक्यप्रकाश्य

पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि

यथा-

विश्वम्भरावलयविस्मयविस्तरोऽसौ विस्मृष्टताजा जगा-
वाद्या श्रीकरिणः पयोधिसुधामथनश्रमजाः ।
कार्यं कर्तुं पुनः पटीरसुभगैरङ्गैरिव सर्वं सहे ।
सीतेति तु वर्णं नविष्यति यदा तदा देवी धीरा भव ।।

यहाँ रामो श्लिष्ट में राम पद का वाच्यार्थ अनुपपन्न होकर रावणनिधन विभीषणराज्याभिषेक आदि दुःखों को झेलने वाले (राम) इस अर्थ में परिणत हो जाता है ।

वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि

यथा -

विश्वम्भराः केचिदपि केचिदपि पुनरत्यन्तसंभाविताः ।
केचिदपि विश्वासपराः केचिदसम्भाविताद्याः काः ।।(ध्वन्या० ३८६)

अर्थात् जल भी है, वह मिट्टी के लिए विष बन जाता है, मिट्टी के लिए अमृत, मिट्टी के लिए विष और अमृत दोनों और मिट्टी के लिए न विष न अमृत ।

यहां विष और अमृत का बारम्बार प्रयुक्त हुए हैं किन्तु उनका मुख्यार्थ यहां नहीं प्रयुक्त हुआ है वरन् क्रमशः दुःख और सुख रूप संसृष्टि वाच्य वाले विष और अमृत शब्दों से व्यवहार है, इस प्रकार यह अत्यन्ततिरस्कृतसंसृष्टि वाच्य का अंगभूत है ।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि-

यथा- रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।।

यहां अन्ध तथा आदर्श दोनों में(अन्धत्व रूप) एक धर्मीभूतत्व रूप अन्धत्व की स्थिति न होने से अन्ध शब्द के वाच्यार्थ(दृष्टिहीन) का सर्वथा तिरस्कार कर दिया गया । तदनन्तर अन्धसदृश अर्थ का बोध होता है, जिससे विम्बप्रतिबिम्ब भाव आदि अन्य अर्थ प्रतीत होते हैं । अतः यहां अन्ध पद अत्यन्त तिरस्कृत है ।

वाच्यप्रकारक अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि -

या निद्रा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

सब प्राणी संसार में रात्रि रूपी है उस संयमी जागता है और जब सारा संसार जागता है उस संयमी के लिए रात्रि रूपी है ।

यहां 'निद्रा' और 'जाग्रति' के क्रमशः वाच्यार्थ-प्रकाशाभाव और विप्रकाश का अत्यन्तिक तिरस्कार की जाता है तथा क्रमशः अत्यन्तप्रकाशता तथा अत्यन्तप्रकाशता प्रतीत होते हैं । क्योंकि यहां पर प्रयुक्त निद्रा और जागर्ति पदों से अन्यार्थ की प्रतीति की रही है । अतः यह वाच्यप्रकारक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण है ।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनि का प्रतिपादन किया गया । इसमें चार भेद हैं -

१- वस्तुनोऽत्र अवान्तर संसृष्टि वाच्यध्वनि ।

२- वाच्यवस्तोरत्र अन्यान्तर संसृष्टि वाच्यध्वनि ।

३- वस्तुनोऽत्र अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

४- वाच्यवस्तोरत्र अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि ।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि : इसे भी वही हैं जिसमें वाच्य विवक्षित (वाच्य वाचक क्रम से अथवा अन्यपरत्व) होता हुआ भी व्यंग्यनिष्ठ होता है । इसे अविवक्षित ध्वनि भी कहते हैं । इसके दो भेद हैं[1] । :-

(१) अर्थांतरसंक्रमितवाच्य

(२) अत्यंततिरस्कृतवाच्य(अर्थांतरसंक्रमितवाच्य)

अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि-

अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि में रसादि अंगी रूप से स्थित होते हैं ।[2] रसादि रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के अनन्तर होती है,अतः वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति में क्रम तो रहता है किन्तु, अविवक्षा के कारण असंलक्ष्यक्रम-भेदरूप से वह उपस्थित नहीं होता । इसी कारण इसे अर्थांतरसंक्रमितवाच्य कहा है जाता है ।

अर्थांतरसंक्रमितवाच्य का केवल एक भेद रसादि हैं । रसादि में रस,भाव, रसाभास, भावाभास, भावसंधि, भावशांति आदि का ग्रहण होता है । ध्वनि के अन्यपरक रसादि के अंगी रूप से भासित होने पर अर्थांतरसंक्रमित-वाच्य ध्वनि होती है । अन्यथा रसादि अलंकार के अंग होने पर और अवान्तर के वाक्यार्थ बोधक प्रधान होने पर रसादि अलंकार होते हैं । अतः ध्वनि का

१- अर्थांतरसंक्रमितः प्रकाशेन योजितः परः ।
विवक्षितान्यपरस्य ध्वनेरात्मादिव सः ।। ध्व० २।२

२- अर्थांतरसंक्रमितः प्रकाशेन योजितः परः ।
विवक्षितान्यपरस्य ध्वनेरात्मा स्थिरा मतः ।। ध्व० २।२ पृ० १७४

३- रसभावतदाभासप्रशान्त्यादिरङ्गः ।
व्यंग्यस्तात्पर्यविषयतया वाक्यगतो यदा स्थितः ।। ध्व० २।३
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गे तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति ते मतिः ।। ध्व० २।५

और रसादि अलंकार का विषय अलंकार्य है । रसादि अलंकारों का विवेचन गुणीभूतव्यंग्य के प्रकरण में करेंगे ।

रसवत्-

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रसों में से केवल शान्त तथा शृंगार रसों का ही विस्तृत विवेचन किया तथा अन्य रसों का संक्षेप कर छोड़ दिया। अतः यहां केवल शान्त एवं शृंगार रसों का विवेचन करेंगे ।-

शृंगार :

आनन्दवर्धन ने शृंगार को सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दो रूपों में विभक्त बताया है । सम्भोग के परस्पर प्रेमपूर्ण चेष्टा, हास, विहार आदि अनेक प्रकार हैं । विप्रलम्भ के अभिलाष,ईर्ष्या, विरह,प्रवास नामक चार भेदों की गणना करके इसी प्रकार के अन्य भेदों को गणनातीत स्वीकार किया है ।[1] रति को इसके स्थायी भाव के रूप में स्वीकारा[2] और मधुर को गुण रूप में । आनन्दवर्धन के मतानुसार यद्यपि मधुर कहने में भी विप्रलम्भ रसता है तथापि संभोग की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में एवं करुण में मधुर का[3] प्रकर्ष देखा जाता है । क्योंकि इनमें मन अधिक आर्द्रभाव प्राप्त करता है । शृंगार रस(विशेषतः विप्रलम्भ) अथवा शृंगार[4] सोता है कि इसे किसी भी प्रकार की मलीनता छू नहीं सकती । आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि शुचिशुद्ध आदि अनित्य दोष व्यभिचारभूत शृंगार-

---

१- शृंगारस्यापिसम्भोगविप्रलम्भौ द्वौ भेदौ - सम्भोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्य च परस्परालोकालिङ्गनचुम्बनविहरणादिविषयाणाः प्रकाराः । विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासादिविप्रलम्भाश्चः । ध्व० पृ० २८६

२- ध्व० ३।२८ की वृत्ति ।

३- शृंगार एव मधुरः प्रकाशनाद् रसः ।
सम्भोग एवाभिलाषविरह मधुरं पुनस्त्रिधाऽपि ।। ध्व० २।७
शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवान् ।
मधुरैरनुभावैर्यत् स्वादुतामेति मनः ।। २।८

४- विप्रलम्भे हीभूतादिस्वभावः स्यादयं ।ध्व०२।१५ की वृत्ति,पृ० २२७ और ध्व० २।२८ ।

रस के लिए उपयोगी त्याज्य है।[१] एवं शृंगार के अन्य प्रभेदों में इस प्रकार के अनुकूल रूप में स्त्रीत्व अनुभाव व्यंजक नहीं होता।[२] उनके अनुसार शृंगार रस में उक्ति होने पर भी भाव का निबन्धन नहीं होना चाहिए।[३]

अग्नि में केवल उन्हीं अलंकारों को माना गया है, जो किसी किसी रूप के रसाभिन्न रूप में प्रयुक्त हों।[४] वह रसादि अलंकारों का निबन्धन शृंगार में किया जाय जब उनकी क्रियता रसरूपेण हो, अन्य रूप से क्रियता न हो। अन्य से गृहण हो और त्याग भी हो, बहुत दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो। यदि दूर तक निर्वाह हो गया हो उसे अंकस्थ में ही रखना चाहिए। यही रूपक आदि अलंकारों के अंग होने का आधार है।[५] इस प्रकार से उपनिबन्धनात्म अलंकार रसाभिव्यक्ति का हेतु होता है। उपर्युक्त प्रकारों का विश्लेषण और उक्ति की अस्वीकृति से रसांग हो जाता है। अतः रस-योजना में कवि को अतीव सावधान रहना चाहिए।

शृंगार रस अंगारी वर्ग के अनुकूल का विषय होने के कारण, तथा अन्य रसों की अपेक्षा अधिक मनोरम होने के कारण प्रधान है[६] और सर्वजन-मनोहारी है।[७] उसके अंगों का अलंकृत काव्य में अधिक प्रयोगात्मक होता है।[८] यदि कवि इस रस से भावित होकर कविता करता है तो उसके काव्यवस्तु का अणु-अणु रसमय हो उठता है।[९] शृंगार-रस भेदों अंगों द्वारा उत्पन्न किए जाने पर शिष्य तीन प्रकृतियों विषय के उपदेशों को ग्रहण कर लेते हैं।[१०] अतः उपदेश

१- अग्नि० २।१२ २- अग्नि० २।१३ ३- अग्नि० २।१५ ४- अग्नि० २।१६
५- अग्नि० २।१८,१९ ।

६,७- एतदुपनिबन्धनात्मोऽलंकारो रसाभिव्यक्तिहेतुः क्वचिदिति। अलंकारान्तरादि-ष्वपि तु विवक्षैव रसांगहेतुः सम्पद्यते। अग्नि० पृ० २३३

८- शृंगाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वेषाम्। कमनीयतया प्रायशः। अग्नि० पृ० ३६७ अग्नि० ३।२६ की वृत्ति।

९- शृंगारस्य उज्ज्वलमनोहरापिशाचवर्णलक्षणोपेतः काव्ये शोभातिशयं पुष्यति। अग्नि० पृ० ३६६।

१०- अग्नि० पृ० ३६८।

११- शृंगाररसाश्रितोद्भूताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विषयोपदेशान् गृह्णन्ति। अग्नि० पृ० ३६८, अग्नि० ३।३० की वृत्ति।

के लिए यह एक उत्तम माध्यम है ।

इसीलिए आनन्दवर्धन कहते हैं - रूपकादि अलंकारों का जो रसादि विषय के अंगत्व में उपाय का प्रकार दिखाया है, उसका अनुसरण करता हुआ, और स्वयं अन्य उपाय का उत्प्रेक्षण करता हुआ, रसाक्षिप्तता कवि यदि अङ्गरसप्रबंधव्यापि है अनन्तर कथित रस व्यङ्ग्यात्मक अंगी रस का उपनिबन्धन करता है तो उसे महान आत्मलाभ होता है ।[1]

शान्त :

शान्त रस शान्त होते हुए भी विद्वानों को बहुत अशान्त करता रहा । अनेक आचार्यों में शान्त रस के विषय में मतभेद हैं । किन्तु आनन्दवर्धन ने शान्त रस को स्वीकार किया है[2] । और इसका स्थायी भाव तृष्णाक्षयसुख ~~अथवा तृष्णा क्षयादि~~ माना है । यह एक ऐसा सुख है जिसे कामसुख और दिव्य महासुख भी इसकी सोलहवीं कला की नहीं पाते । यदि इस शान्त रस का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता तो इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इसका अनुभव अनेक सामान्य महापुरुषों के चित्तवृत्तिविशेष में होता है । कुछ विद्वान् वीररस में ही शान्त का अन्तर्भाव करते, शान्त का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते । किन्तु यह धारणा अनुचित है । वीर रस में शान्त रस का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि वीर रस अभिमानसुखात्मक होता है और शान्त रस में अहंकार का प्रशमन रहता है । दोनों परस्पर भिन्न हैं । जहां तक दयावीर का सम्बन्ध है उसमें चित्तवृत्ति विशेषों में दयावीर अहंकार रहित होने के कारण, वह शान्त रस का ही एक प्रकार हो सकता है । न कि वीर में ही शान्त का अन्तर्भाव । वीर और शान्त के धर्मों भिन्न होने पर भी यदि शान्त का अन्तर्भाव वीर में करना अभीष्ट हो तो वीर और रौद्र में भी इसी प्रकार की व्यवस्था का पृथक् उपन्यास होगा ।

१- ध्व० २।१६ की वृत्ति पृ० २३३-२५ २- ध्व० पृ० ३८०
३- ध्वन्यालो० ३८० । ४- ध्वन्यालो० ३८३ । ५-
६- ध्वं० पृ० ३८२-३८३ ।

महाभारत के रचैता शान्त रस को किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसमें शास्त्रीय दृष्टि से मोक्ष रूप एक अन्तिम पुरुषार्थ विवक्षित है और काव्यदृष्टि से तृष्णा-क्षय जनित सुख का परिपोष रूप शान्त रस अंगी रूपेण विवक्षित है। इस निगूढ़ एवं रहस्यमयी अर्थ का प्रतिपादन स्वयं कविवेदा कृष्णद्वैपायन[1] (व्यास) ने महाभारत के अन्त में हरिवंशपर्व की रचना करते हुए किया है।[2] संसार का वर्णन तो पूर्वपक्ष के रूप में वर्णित हुआ है, मुख्यः उसका उद्देश्य संसारातीत तत्व का निरूपण है। उसमें देवताओं, तीर्थों और यज्ञ आदि के वर्णित प्रभाव का भी वर्णन परब्रह्म की प्राप्ति का ही उपाय है। क्योंकि देवतायों को परब्रह्म का ही एक अंश बताया गया है। पाण्डवों की यात्रा के वर्णन का तात्पर्य भी लोगों के मन में वैराग्य उत्पन्न करना है। यही 'वैराग्य' मोक्ष का मूल है। ज्ञानप्राप्ति से ही मोक्ष प्राप्ति होने के कारण, मुख्यरूप से श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानप्राप्ति का उपाय बताया गया है। ज्ञानवान् को जो प्राप्ति है वही परम्परया परब्रह्म की ही प्राप्ति है। और वासुदेव नाम से जिस ज्ञानवान् का उसमें वर्णन किया है, वह भी परब्रह्म ही है, क्योंकि गीता में उन्हीं अपरिमित शक्ति का उपाय एवं परात्पर ब्रह्म रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह केवल मथुरा में प्रादुर्भूत कृष्ण की नहीं, परन्तु परब्रह्म स्वरूप विवक्षित है। इसीलिए उन्हें व्यास ने अवतार भी कहा है। अवतार वह कहलाता है जिससे ज्ञानवान् के सभी कर्मों का ज्ञान किया है। इसीलिए रामायण आदि में ज्ञानवान् की अन्य मूर्तियों के लिए अन्य शब्द का प्रयोग किया गया है।[3]

अतः यह निश्चित है कि महाभारत में ज्ञानवान् से भिन्न प्रत्येक पदार्थ को अस्तित्व सिद्ध कर पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष और रस के रूप में शान्त की प्रतिष्ठा की गई है।

१- अ० ४।५ की वृत्ति पृ० ६३२।

२- अ० पृ० ६३२।

३- पृ० अ० पृ० ६३२-६३३।

वस्तुतः इस सूत्र का साधारण अभ्येता समझ नहीं पाता क्योंकि इस सम्पूर्ण सूत्र का वाच्य रूप से प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि यह सम्पूर्ण अर्थ इस शब्द से अभिधेय रूप से प्रकाशित होकर विशेष शोभा धारण करता है। इसीलिए इस महाकवि ने इस सूत्र को अंग्य रूप में लिखित किया है।[१]

अतः निष्कर्ष यह कि शाब्द ध्वनि भी एक ध्वनि है और इसका स्थानीपाय गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

ध्वनिप्रकार :-

आनन्दवर्धन ने अविवक्षितवाच्य में ध्वनि के व्यंग्य रूप में वर्ण, पदांश, वाक्य, संघटना तथा प्रबन्ध को स्वीकार किया है। पदांश में आदि पद का अर्थ आनन्दवर्धन के अनुसार पदावयव, पदैकदेश अथवा पदांश है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि के प्रकार[२] होते हैं :-

१- वर्ण
२- पदांश
३- पदावयव
४- वाक्य
५- संघटना तथा
६- प्रबन्ध

१- वर्ण प्रकारक ध्वनि :- कुछ वर्ण, विशेष रसों के लिए उपयोगी होते हैं। इन वर्णों के प्रयुक्त हो जाने पर रस बाधित नहीं होता जैसे ट, ठ, ड, ढ के साथ संयोग तथा 'ट' प्रकार रस के विरोधी हैं, किन्तु ये ही वर्ण वीभत्स रस के लिए उपयोगी होते हैं।[३]

१- ध्व० पृ० ३१३।
२- वर्णपदांशवाक्यसंघटाप्रबन्धेष्वपि दीप्यते। ध्व० ३।२
३- ड-ढौ रौद्रसंयोगौ टकारस्तादि कुत्सा।
विरोधिनः खलु शृंगारे सेन वर्णा रसस्य तः॥
स एव तु विशेषेषु बीभत्सादौ रसे मतः।
तथा हि बीभत्सस्यैव ते न वर्णा रसस्य तः॥ ध्व० ३।३-५

वामनभट्ट ने उसका उदाहरण नहीं दिया है केवल इतना कहा है कि 'उदाहरण से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा वर्णों का औचित्य ज्ञात हो जायेगा'।[1] इसके बाद वह द्वारा रस दोष का इन्होंने उदाहरण प्रस्तुत किया है।

२- <u>पदसुखत्व रस</u> - 'वाक्यवक्रोक्ति' वाक्य में वाक्यगत के सब वाक्यों का आधार कुन्तक पदसुख कहता है -

> अत्यन्तिनी मदपरिस्खलितांशुकान्ता
> सै लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती
> दूरेण दारुणतया हृदयेन वध्वा
> मुग्धाभिरेव वदनेन न वीक्षितासि ॥[2]

यहाँ 'ते' पद से वाक्य के पूर्व की गद्गदता रति, शृंगार रस को स्पष्टरूप से व्यक्त कर रही है।[3]

३- <u>पदपूर्वार्धसुखत्व रस</u>-

> क्रीडावनेषु मधुपानसखा अमीषां मुक्ताः
> पदोत्पन्नं मुखमधुनीन्दुनाप्यनीदृग्
> सिच्येत्पुनर्यदि न तत्र वयं व्यनुष्म
> वाष्पं मधूदकतरङ्गित-दीर्घिकादृक्-नेत्रं विनाशः

यहाँ 'विनाशः' पद में स्थायिभाव व्यंजना है।[4]

४- <u>वाक्यसुखत्व रस</u> - वाक्य दो प्रकार से रस को प्रकाशित करता है -

(१) मुक्त वर्णों से अलंकार रहित और
(२) संकीर्ण वर्णों से अलंकारयुक्त[5]

इनमें से प्रथम का उदाहरण रामाभ्युदय का है :-

१- व्य० पृ० २०१ २- व्यपृ० २०१
३- व्य० पृ० २०१ ४- व्यपृ० २०१-२०२
५- व्य० पृ० २०२

कुलमुखिरोदन्याम्भोधिः क्षीरमथितोदधेः
कमपि गता यस्य श्रीरत्या पुरापि तथाम्बया
तव चतुर-तथागाः सत्यं प्रियो नयतीं विना
कठिनहृदयो वीक्ष्यैवेमे द्रुते न तव प्रियः ॥

यहां पूरा वाक्य ही राम और सीता के परस्पर अनुराग को परिपुष्ट करता हुआ, इस प्रकार से अत्यन्त रसात्मक को प्रकाशित करता है।[१]

दूसरे अलंकारान्तरसंकीर्ण का उदाहरण :-

स्मरनवनदीपूरेणोढ़ाः पुनर्नवयौवनै-
रपि विपुलालिङ्गन्यारावपूर्णमनोरथाः
अतपि तिमितप्रख्यैर्नेत्रैः परस्परमुन्मुखाः
गगन-सलिलीपाता-नीलं विभान्ति रवं प्रियाः ॥

यहां आरम्भ में 'स्मरनवनदीपूर' इस अंश में और 'गगन-सलिली-पात' तथा 'पुनर्नवैः' में श्लेषालंकार है। तथा ये अपूर्ण मनोरथ हैं। अतः वेगों से ही रव पान कर रहे हैं,- इस प्रकार यहां रसवान के प्रति अपूर्णमनोरथत्व हेतु है। अतः यहां काव्यलिंग अलंकार है। सलिली पात से रसवान पक्षियुग्म कहता है, जब वह रात्रिकाल में विहग पाता है। अतः यहां पर प्रिय और प्रिया के व्यवहार पर पक्षियों और पक्षिणी के व्यवहार का आरोप होने से यहां समासोक्ति अलंकार भी है। इस प्रकार यह पूरा वक्तव्य अलंकार-युक्त है। ये सभी अलंकार यहां नायकनायिका के परस्पर 'अति' रतिभाव स्थायी भाव का परिपोष करते और विप्रलम्भ-शृंगार की अनुभूति कराते हैं। यह वाक्यप्रकाश रस का विवेचन हुआ।

अभिनवगुप्त ने यहां एक सूत्र यह उपस्थित किया है कि वर्ण, पद और वाक्यगत रस प्रकाश नहीं हो सकते, क्योंकि रस वाक्यार्थ से ही प्रकाशित होता है और विभावादि सामग्री बिना वाक्यार्थबोध्य नहीं होती।

१- ध्वन्या० पृ० ३७८ ।

इसी प्रकार जहाँ वाक्य को प्रकाश माना जाता है वहाँ पदादि की प्रकाशता भी रहती है क्योंकि वाक्य बिना पद के नहीं परन्तु तथापि वहाँ पद में अभिधा व्यंजना नहीं रहती । यहाँ कोई एक पद व्यंजक नहीं होता ,अपितु प्रायः सभी पद व्यंजक होते हैं इसलिए केवल संख्याधिक्य के कारण वाक्य को व्यंजक या प्रकाशक मान लिया जाता है ।

६- संघटनाप्रकाशत्व रस :

संघटना तीन प्रकार की मानी गई है :-

१- असमासा

२- मध्यम समासा

३- दीर्घ समासा[१]

संघटना के निम्नलिखित गुण हैं ।[२] गुणों के ही आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि जहाँ कैसा समास अपेक्षित है । गुणों के ही आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि किस संघटना में कठोर वर्ण हों और किसमें कोमल । यदि माधुर्य की अभिव्यक्ति अपेक्षित है तो संघटना में आए पदों के घटक वर्ण मधुर और कोमल होंगे । ओज के लिए उसके वर्ण परुष होंगे । प्रसाद गुण में वर्णों की स्थिति दोनों प्रकार की हो सकती है । अतः संघटना के निम्नलिखित गुण ही हैं , और संघटना से रस की अभिव्यक्ति होती है । अतः संघटना रस के व्यंजक होते हैं और संघटना के व्यंजकत्व हेतु समास और वाक्य का औचित्य होता है ।[३]

६- पुराणप्रकाशत्व रस -

रामायण और महाभारत उसके प्रसिद्ध पुराण हैं । पुराण के व्यंजक होने में निम्नलिखित तथ्य होने चाहिए -

विभाव, भाव, अनुभाव, संचारी के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक वृत्त अथवा अनैतिहासिक(काल्पित) कथावस्तु का निर्माण । कथावृत्त में प्रतिकूल रस की स्थिति को छोड़ कर , अथवा वे गौण में अभीष्ट रस द्वारा व्यंजित कथा का सम्बन्ध,आत्म और सम्बन्धी का औचित्य रसाभिव्यक्ति के अनुरूप होना चाहिए, न कि

१- ध्व० ३।५ २- ध्व० ३।६ की वृत्ति

३- ध्वन्या० ४।६

केवल शब्द की व्यंजना को अभिव्यक्तिमात्र उत्पन्न करने की इच्छा से। अवसर पर रस का उद्दीपन और पूरण, तथा दीप में वारम्य होकर विश्राम होते हुए अंगी रस का अनुसन्धान, शक्ति होने पर भी अलंकारों का योजन अनुचित है करना चाहिए। व्यक्ति काव्य विशेष उसे उत्तम काव्य की उपमा रस के अधीन होना चाहिए। और व्याकुलित इस प्रकार कल्पित करना चाहिए कि वह उस उत्तम रसमय मालूम पड़े।

अष्टव्यञ्जनव्यंग्यत्वादि में उक्त छह व्यंजनों के अतिरिक्त धुनि, लिङ्ग, वचन, सम्बन्ध, कारक-शक्ति, पुरुष, संख्या, उपसर्ग और शब्द, निपात ,उपसर्ग, काल आदि भी व्यंजक होते हैं।

जैसे -

न्यक्कारो ह्यमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस:
सीत्यैव निहन्ति राघवकुलं वीरव्रती रावण:
निर्विघ्नक्रतुदीक्षितैर्मुनिवरैर्व्याप्तं कुतस्त्रीणि वा
स्वस्त्यस्तु त्रिदशाधिपद्विषदवध्यो: क्षिप्यन्तु ते: ॥

उक्त श्लोक में केवल उपसर्ग ही का व्यंजकत्व है। यहां 'मे यदरय:' से धुनि सम्बन्ध और वचन का अभिव्यंजकत्व है। 'तत्राप्यसौ तापस:' यहां शक्ति और निपात का व्यंजकत्व है। 'सीत्यैव निहन्ति राघवकुलं वीरव्रती रावण:' यहां लिङ् और कारकशक्तियों का। 'निर्विघ्नक्रतुदीक्षितैः' इत्यादि श्लोकार्ध में धुनि,शक्ति,संख्या और उपसर्ग का व्यंजकत्व है।

इस प्रकार के बहुत: व्यंजकत्व के घटित होने से काव्य की उत्तमोत्तमता सम्पन्नावस्था अनुभवित होती है। कहीं कहीं व्यंग्य को अभिव्यक्त करने वाले एक पद के रहने पर भी काव्य में सम्पन्नावस्था होती है। अत: प्रतिभाविशेष

१- व्य० पु० उद्योत ३।२०-२१ कारिका
२- कविना काव्यानुपनिबन्धात् सर्वं त्यक्त्वा रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् ।व्य० पु० ३३६
३- व्यञ्जकरीत्युत्कर्षवत्तु कार्यं तथा तथा ।
तथा रसस्य तस्मिन् तत्प्रतिभानात्ते ॥ व्य० पु० ३३८
४- धुन्यङ्गवाच्यवैशिष्ट्यसंभवात् कारकादिभि:
धुनिप्रभृतयोऽप्येवं व्यञ्जकाऽवगता: क्वचित् ॥ व्य० ३।२६
५- व्य० पु० ३८८-३८६ ।

महात्माओं ने इस प्रकार के वस्तुध्वनि अनेक: देखे जाते हैं।

ऊपर एक ही श्लोक में अन(हनु आदि) का व्यंजकत्व प्रतिपादित किया गया। इसी प्रकार अन का पृथक्-पृथक् अनुगत श्लोकों द्वारा भी व्यंजकत्व आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित किया है। यहां उन उन उदाहरणों को नहीं दिया गया है।

यहां तक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का विवरण हुआ है। अब इसके दूसरे भेद अनुरणनरूपवाच्य (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) का आनन्दवर्धन के अनुसार विवेचन करेंगे।

अनुरणनरूपवाच्य ध्वनि : इसमें वाच्य और व्यंग्य का क्रम उसी प्रकार लक्षित होता है जिस प्रकार घण्टा-रणन के अनुरणन का। इसी कारण ध्वनिकार इसे अनुरणनसंज्ञित कहते हैं। आनन्दवर्धन ने इस ध्वनि भेद को दो भागों में विभक्त किया है। :-

१- शब्दशक्तिमूलक[१]

२- अर्थशक्तिमूलक[२]

शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि : यहां शब्द अनुरणन (व्यापारानुरूपित) व्यंजक व्यापार द्वारा शब्द शक्ति द्वारा प्रकाशित होता है, वह शब्दशक्तिमूलक शब्दअनुरणन-ध्वनि है।[३] इसमें व्यंग्य-अर्थ दो प्रकार के होते हैं - वस्तु और अलंकार। आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में अन्यतम केवल अलंकार-व्यंग्य ही मानते हैं, वस्तु-व्यंग्य नहीं। उनके अनुसार यहां वस्तु-का शब्द प्रकाशन होता है - यहां उसमें शब्द श्लेष होता है।

१- श्लेषेण प्रतिभातत्वात्या सोऽनुरणनसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः॥ ध्व० २।२०

२- वाचितत्वः स्वालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्तिरस्कृतः शब्देन शब्दशक्तिमूलो ऽपि सः॥ ध्व० २।२२

३- यत्रालंकारौ न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्ति-मूलो ध्वनिरित्यत्रलक्षणं विवक्षितम्। वस्तुनो ऽपि शब्दशक्त्या प्रकाशनाने श्लेष ध्व० पृ० २३१

यहां प्रश्न उठता है कि ध्वनिकार शब्दशक्तिमूलक वस्तु व्यंग्य को नहीं मानते ? उनके परवर्ती ध्वनिवादी आचार्य इसे स्वीकार करते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन के कहने का अभिप्राय यह है कि शब्दशक्तिमूलक असुंदरानोपम व्यंग्य में न केवल वस्तु अपितु अलंकार भी प्रकाशित होता है, किन्तु श्लेष में वस्त्वलंकारभाव प्रकाशित होता है । 'वैलक्षण्य मनोभावेन' में श्लेष इसी कारण है कि यहां दूसरा प्रकारभाव अर्थ केवल वस्तु-रूप है । यदि, इसके साथ यहां अलंकार भी होता, तो यही ध्वनि का उदाहरण बन जाता ।

किन्तु , फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल में वस्तु-व्यंग्य को स्वीकार करते हैं तो उसका उदाहरण क्यों नहीं देते ? दूसरा तथ्य यह है कि 'अतिशयः स्वालंकारः' में प्रयुक्त 'स्व' पद केवल अलंकार व्यंग्य की ओर संकेत करता है और इसी की पुष्टि में कहते हैं -'वस्त्वलंकारो न वस्तुमात्रम्' इत्यादि में स्पष्टतः 'न वस्तुमात्रम्' कह दिया है । यदि उन्हें अलंकार के साथ वस्तु-व्यंग्य भी अभीष्ट था तो 'वस्त्वलंकारो' के बाद 'च' या 'अपि' कुछ लगाते ।

वस्तुतः आनन्दवर्धन अलंकार-व्यंग्य को इतना स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि इसमें किसी प्रकार की बाधा का अवसर नहीं है किन्तु वस्तु-व्यंग्य मान लेने पर, श्लेष विषयक अनेक विप्रतिपत्तियों की सम्भावना होने के कारण ही वस्तु-व्यंग्य को दबे स्वर में इस प्रकार कहते हैं -'वस्त्वलंकारो न वस्तुमात्रं' -- इत्यादि । और इसके बाद श्लेष और शब्दशक्तिमूलक का भेद भी बताते हैं - यहां शब्द शक्ति से अर्थालंकारान्तर वाच्य रूप से प्रतीत होता है , यह सब 'श्लेष' का विषय है। और जहाँ शब्द-शक्ति के सामर्थ्य से आक्षिप्त एवं वाच्य से अतिरिक्त व्यंग्य भी अलंकारान्तर से प्रकाशित होता है, यह 'ध्वनि' का विषय है ।

यह सत्य है कि आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः यह नहीं कहा है कि शब्दशक्तिमूला ध्वनि में वस्तु और अलंकार दोनों व्यंग्य होते हैं । हमारे विचार से आनन्दवर्धन केवल अलंकार पक्ष में ही हैं । किन्तु इनके परवर्ती आचार्य मम्मट ---------

विश्वनाथ, वाग्भाव ने शब्दशक्तिमूला में वस्तु व्यंग्य को भी माना है।

शब्दशक्तिमूला ध्वनि में व्यंग्य रूप से स्वीकार किया जाने वाला शब्द दो रूपों में व्यंग्य होता है। १- पदरूप २- वाक्यरूप। इन दोनों प्रकार के व्यंग्य शब्दों से जो अर्थ व्यंग्यार्थ रूप से फुरित है वह रसभाव अलंकारादि होता है। अतः इस ध्वनि के दो भेद बनते हैं -

१- पदप्रकाश्यवाच्यालंकारादिव्यंग्य, तथा
२- वाक्यप्रकाश्यवाच्यालंकारादिव्यंग्य

१- पदप्रकाश्यवाच्यालंकारादिव्यंग्य - इसका उदाहरण वाग्भवकर्ता इस प्रकार देते हैं-

प्रायुं वीराधिपस्य वाञ्छां वैरेण वृष्टो यदि नाम नाशिम।
यदि प्रसन्नाम्बुदरत्नदानः पूर्णोऽभवं किं न जनः पूर्णोऽभूत्॥

यह एक ऐसे कवता का उद्गार है जो उदार है, किन्तु दरिद्रता के कारण दूसरों की इच्छा पूरी करने में असमर्थ है। अतः प्रस्तुत श्लोक में 'जनः' पद कवता ने अपने लिए प्रयुक्त किया है, किन्तु इसका सम्बन्ध मूल और साक्षात रूप से भी प्रतीत होता है।

कवता मूल की विनीतता एवं शीलता भी व्यक्त करना चाह रहा है। कवता के कथन से यह प्रतीत होता है कि उसका केवल व्यक्ति की अपेक्षा अपितु मूल श्रेष्ठ है, जो शीलवान भी है और परोपकार में समर्थ भी।

वाग्भाव: उदार व्यक्ति को प्रसन्न बादल का उपमान बताया जाता है। जब उपमान की अपेक्षा उपमेय उत्कृष्ट होता है तब व्यतिरेक नामक अलंकार माना जाता है। अतः यहां व्यतिरेकालंकार व्यक्त हो रहा है और यहां शीलवत्ता रूपी जो अर्थ व्यक्त हो रहा है वह 'जनः' पद से। इस पद के हटाते ही यह अर्थ भी हट जाता है। अतः यह पदप्रकाश्यवाच्यशक्तिमूलकानुरणनरूपव्यतिरेकालंकार ध्वनि का उदाहरण है।

१- विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेरनुरणनरूपव्यंग्यस्य शब्दशक्तिमूलत्वे प्रयोजने,
पदप्रकाश्या (ध्वन्यालोक २।६) ---- तथैव वाक्यप्रकाश्या इत्यादि (ध्वन्यालोक २।९)

२- वाच्यसिद्धयङ्गीभूत व्यंग्य -

इसका उदाहरण आनन्दवर्धन ने बाणभट्ट के हर्षचरित से उद्धृत किया है। राज्यश्री की अटवी को जाने पर सेनापति भिक्षाटन हर्षचरित के पास जाता है और कहता है :-

भुवेऽस्मिन् महाप्रलये पशुनीवारणायालुप्ता स्वं हेम:।

यहां महाप्रलय, पशुनीवारण और हेम तीनों शब्द अनेकार्थी हैं। इस उदाहरण से जो प्रकट अर्थ निकल रहा है वह महाप्रलय के समय हेमचन्द्र द्वारा पृथ्वीपिण्ड को स्थिर बनाए रखने की बात भी निकलती है। किन्तु प्राकरणिक अर्थ है कि पुराकरणी और राज्यश्री के अभाव में पुरोवाटक के लिए हर्षचरित का हेम रहना। यहां प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करने पर यहां वाच्य होने से उपमालंकार है। यहां रूपक अलंकार भी हो सकता है क्योंकि वह भी वाच्यमूलक ही होता है और यहां हेमचन्द्र का हर्षचरित पर आरोप प्रतीत होता है। यहां शब्द पदप्रधान होने के कारण यह शब्दशक्तिमूलक है और वाच्यसिद्धयङ्गीभूत है। इसमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति कम से होती है अत: अनुरणनोपम भी है अत: यह वाच्यसिद्धयङ्गीभूतशब्दशक्तिमूलकानुरणनोपमालंकारव्यंग्य का उदाहरण हुआ।

इस विधविधवाच्यसिद्धयङ्गीभूत अनुरणनरूपव्यंग्य के भी दो प्रकार- शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। यह भी किन्हीं प्रबन्धों में पोषित होते हैं - यथा - 'मधुमथन विजय' में पांचजन्य की ध्वनियों में। अथवा जैसे आनन्दवर्धन के 'विजय-बाणलीला' में कामदेव के धनुष के टंकारण के प्रसंग में। और जैसे 'महाभारत' में मृत्युनीवारणार्थ आदि प्रसंग में।

इसने यहां प्रबन्धवाच्य, शब्दशक्ति अनुरणनोपम व्यंग्य के साथ ही अर्थशक्ति अनुरणनोपम व्यंग्य का भी उल्लेख कर दिया है। किन्तु फिर भी अर्थशक्तिमूलक अनुरणनोपम व्यंग्य के प्रसंग में प्रबन्धवाच्य का पृथक् विवेचन करेंगे।

---

१० व्य० ३।२८ और उसकी वृत्ति।

अविवक्षितवाच्य अनुरणनरूपव्यंग्यध्वनि - जहां वाच्य अर्थ उस व्यापार के बिना ही अपने सम्बन्धी के अभिव्यक्त करता है वहां अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है।[1]

यह व्यंग्यार्थ की दृष्टि से दो भागों में विभक्त की जाता है -

१- वस्तुव्यंग्य

२- अलंकारव्यंग्य

१- वस्तु व्यंग्य - व्यंजक की दृष्टि से इसके दो भेद हैं -

१- कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-निष्पन्न शरीर।

२- स्वतःसम्भवी[2]

व्यंजक दृष्टि से विभक्त कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न और स्वतः सम्भवी, पद और वाक्य प्रकारक भी होते हैं।[3] इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं --

१- पदप्रकारक-प्रौढोक्तिमात्रसिद्धाश्रयमूलक वस्तुव्यंग्य

२- वाक्यप्रकारक-प्रौढोक्तिमात्रसिद्धाश्रयमूलक वस्तुव्यंग्य

३- पदप्रकारक स्वतः संभव्यौचित्यमूलक वस्तु व्यंग्य तथा

४- वाक्यप्रकारक स्वतः संभव्यौचित्यमूलक वस्तुव्यंग्य[4]

इसमें एक भेद प्रबन्ध से भी भासित होता है, अतः इसके पाँच भेद हो जाते हैं

२- अलंकारव्यंग्य - अलंकार व्यंग्य में केवल दो व्यंजक होते हैं।[5] :-

---

१- अविवक्षितवाच्यस्तत्र वाच्यः स द्विप्रकारकः।
यत्रात्यन्तेन तिरस्कृतवाच्यसिद्धिर्विवक्षा स्वतः ॥ ध्व० २।२२

२- प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
तयोर्पि विविधः प्रौढो वस्तुनो ध्वनय ईरिताः। ध्व० २।२४
अविवक्षोऽलंकारो यत्राक्ष्यः प्रतीयते।
अनुरणनरूपाक्ष्यः स द्विप्रकारो परो ध्वनिः ॥ध्व० २।२५

३- पद और वाक्यप्रकारता के लिए ध्वन्यालोक ३।१ की वृत्ति द्रष्टव्य है।

४- अनुरणनोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः। ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ ध्व० ३/१५.

५- द्वौ एव अभिधावादिनि, अलंकाराणां त्रयो गतिः - वाक्यविशेषगुणीभूतव्यङ्ग्यो वाक्यविशेषालंकारेण।

१-वस्तु और २-अलंकार । अतः इसके केवल दो भेद बनते हैं -

(१) अलंकारप्राधान्येवालंकार्यव्यंग्य

(२) वस्तुप्राधान्येवालंकार्यव्यंग्य

अतः अविवक्षितवाच्य ध्वनिकाव्योत्तमव्यंग्यभेद में - वस्तुव्यंग्य के अन्तर्गत - १ भेद और अलंकारव्यंग्य के अन्तर्गत २ भेद मिलाकर कुल ७ भेद होते हैं । इन सातों के उदाहरण भी आनन्दवर्धन ने दिए हैं -

१- वस्तुप्राधान्य प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नापरांगवस्तुनवस्तुव्यंग्य -

यथा उदाहरण में -

पुत्तंपुराणवंसं कणअक्खर-णव्वणक्खुरामोअं ।
अणणिअं पि वहिअं पुत्तलएण महुगाअन्तीए ।।

यहां पुत्तलए (कामदेव) ने मधुगायन्ती के अनामिका पुत्र को ग्रहण किया। इसमें बिना अनामिका लिए ही उस अवस्था का अभिधान करने वाला 'अणणिअं' पद अभीष्ट है कामदेव के चमत्कार-कथी वस्तु को व्यक्त कर रहा है । यह अभिव्यक्ति जिस वर्ण से हो रही है वह कविप्रतिभा या उसकी प्रौढ़ उक्ति से निष्पन्न है ।

यहां एक तथ्य अवश्य है कि उपर्युक्त भेद को तो केवल वस्तुव्यंग्य के अन्तर्गत रख आए हैं और इसके उदाहरण में मधुगायन्ती को एक सुन्दरी के रूप में और पुत्तलए काम को रसिक युवक के रूप में चित्रित करने पर यहां समासोक्ति अलंकार माना जा सकता है । अतः यहां व्यंग्य वर्ण अलंकार रूप है।

फिर भी , इतना समाधान यह तो अवश्य है कि यहां अलंकार बिना प्रयत्न के स्वतः आ गया है । अतः कोई दोष नहीं । और इस पूरे श्लोक से जो वर्ण प्रतीत होता है उसमें 'अणणिअं' पद अधिक सहायक है अतः इसे उपर्युक्त ध्वनि भेद के उदाहरणार्थ रख सकते हैं ।

२- वाच्यप्राधान्यप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नापरांगवस्तुनवस्तुव्यंग्य -

यथा -

१- ध्वन्या० २८८ ।

'अन्योऽपि सुरभिगन्धो न पाद्य अन्यैव कुसुमजन्मसुरे ।
अधिगन्धवहनात्सुरे नवपल्लवपत्रले वनान्तस्य वरे ।।

इसमें सुरभिगन्ध पाण्डों को तैयार कर रहा है, किन्तु कामदेव को वाटिका नहीं कर रहा है - यह कविप्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्न है और यह वक्तृबोधक है अविवक्षितवाच्यभेदक्रम वस्तु को व्यक्त कर रहा है। इसकी प्रतीति में प्रत्येक पद उपयुक्त है, अतः यह वाक्यप्रकाश का उदाहरण है।

आनन्दवर्धन ने इसी क्रम में एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है -

शिशिरिणि वद नु साम्प्रतमियन्तिरं विनिद्रितानङ्गविकारहेतु सखः ।
इत्युदिते सेन सखीपरिषदि शिथिलकरं मुखाकरः ।(ध्वन्यालोक २।२२-२३ख)

यह किसी प्रतिष्ठाप्राप्त मुखड़ा की उक्ति है। इसके कथन से तुम्हारे जैसी पीड़ा पाना बड़ी भारी माग्य की बात है, स्वयं तुम्हें पा लेना तो बहुत दूर है - यह वस्तुरूप प्रतीति वाच्यार्थ से व्यक्त हो रही है। यहां वाच्यार्थ से जो अभिप्रेत अर्थ प्रकट हो रहा है वह अविवक्षित रूप है। और यहां प्रौढ़ि अलंकार भी है क्योंकि विन्ध्याचल अचर की उपमा मानव जाता है किन्तु, यहां अचर को उपमान माना गया है और विन्ध्याचल को उपमेय। इसी अभिप्राय से यहां प्रौढ़ि अलंकार है। यह रस कविनिबद्धवक्तृरूप है।

इस ध्वनि भेद में जो पहला उदाहरण दिया था उसका कथन स्वयं कवि का था अतः वह कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ था। इस दूसरे उदाहरण का कथन कवि द्वारा उपनिबद्ध कोई व्यक्ति है। अतः यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थ है। इसके आधार पर प्रौढोक्तिसिद्धार्थ से व्यंग्य व्यंग्य अर्थ की वर्णना में कोई अतिरेक नहीं आया। अतः आनन्दवर्धन ने इन दोनों को भेदक नहीं माना है।[२]

१- पदवाक्यरचनाः शब्दव्यवहारेतिवाहितवस्तु व्यंग्य-

यथा-

पाणिम्ब शशिवन्या सुतो अन्धाणं पन्थकिरीट ।
बाद सुखिआअन्तुओ पराम्मि परिअलन्ते सुण्डा ।।

१- ध्वन्यालो० २।२८ ।

२- ध्वा० २।२४ की वृत्ति ।

यहाँ 'हृष्टिशालभञ्जिका' पद है जो वस्तु रूप आम्रवृक्ष की क्रीड़ा में आसक्ति और आम्रवृक्ष का दोहद पूरित हो रहा है - यह स्वतः सम्भवी है । अतः यह वाक्यप्रकाशवत्तः सम्भवीवस्तु अंश्य का उदाहरण है ।

४- वाक्यप्रकाशवत्तः सम्भवीवस्तु अंश्य -

दिशिदिशिस्फुरन्नवतरा मुखा वासन्त मञ्जरी मधुप ।
पुलाकयत्यध्वगवधूजनानां मनोऽवलीनं ।।

अर्थात् भौरंवों के गुनगुन करते आम की नयी मुकुलित के बने गजरों वाली वीथों के बीच नवीनी होकर घूमती है ।

यहाँ वाक्यार्थ है भौर-भंवों के गुनगुन वाली मञ्जरिणीता किसी आम्र नयी का अतिशय सौभाग्य प्रकाशित हो रहा है । यह आम्रवृक्ष नवपल्लु के साथ एकमात्र सम्भोग में रत रहने के कारण केवल भौर मात्रों में ही अनुरक्त रह गया है । इसके अतिरिक्त, विरहणिता मुकुलाकृत के बने उन्नत गजरों वाली वीथों का दीर्घनिश्वासित्व दूषित होता है । यह उनमें आम्र मञ्जरियों का मन करने में असमर्थ रहता था और मधुकरावलियों से उन्हें सुसज्जित करता था , यह वस्तु अंश्य है । यह अर्थ स्वतः सम्भवी है क्योंकि इसकी सिद्धि किसी कविकल्पना की आवश्यकता नहीं रखती । अतः यह वाक्यप्रकाशवत्तः सम्भवीवस्तु अंश्य का उदाहरण है ।

५- पूर्णेन्दु पुलकवत्तः सम्भवीविभावनावस्तु अंश्य-

'सदावाहन' के सप्तमवर्ण के २२३ वें अध्याय में - मृगनाभ को देखकर दिन में मांसलराग में उमड़े शिव, उस बालक के सम्मुखियों को बालक को छोड़कर घर लौट जाने की प्रेरणा करता हुआ कह रहा है -

~~[illegible]~~
यदं दिवसा रमणेऽस्मिन्मृगीनाथायुवंशुके ।
अंगजाबटे वीरे जीवाणिमयंकरे ।।
न वेह दीक्षितः कश्चित्कालवीयुपागतः ।
स्त्रियो वा यदि वा हेम्नः प्राणिनां गतिरीदृशी ।।

उसके विपरीत रानी में वैल जले और सिंह आदि के चिन्हों से रहित सिंहासन और चमर ग्रहण करने में मुनाड का पाखंड है कि ये लोग मुनिवेश धारण करें, मुनिवेश के साथ ऐसा मुनि होने की सिद्ध करना। अतः यह मूल गाथा के तात्पर्यार्थ को उपलब्ध कराया हुआ लगता है -

> आसिद्धो ऽयं सिद्धो मूढाः लोकं मूढं वाभ्यधात् ।
> बहुसिद्धो मुग्धो ऽयं वीक्षेदपि न्यायान ॥
> खुं जलज्वलनं वाऽलमग्न्यायोपनम् ।
> मुग्धान्यायात् क्यं मूढास्तत्त्वन्यायविदांसिद्धाः ॥[१]

इस प्रकार यहां मूढ और मुनाड की उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ज्ञान और वैराग्य का उपदेश दे रहे हैं और दोनों मूल गाथा के तात्पर्यार्थ के बड़े हितैषी हैं किन्तु, उनका दावा सब ज्ञात होता है सत्य नहीं हैं - वे अपने स्वार्थवश ऐसा कह रहे हैं, वस्तुतः वे दोनों इस प्रकरण से अपनी क्षुधा की तृप्ति करना चाहते हैं।

इस प्रकार यह पूरा प्रकरण वाच्य रूप में शास्त्रीय ज्ञान प्रस्तुत करता है, किन्तु उसमें वस्तुव्यंग्य हो रहा है - दोनों स्वार्थियों का स्वार्थ। मूढ और मुनाड की उक्तियां प्रकरण से प्रकाशित और स्वतःसिद्ध हैं। अतः गलगाहल का यह पूरा प्रकरण प्रकरणप्रकाशवशात्तत्तत्स्वार्थोक्तिमूढवस्तु व्यंग्य का उदाहरण है।

६- अर्थान्तरसंक्रमित अवाच्य व्यंग्य -

उदाहरण

यथा -

> प्राच्यानीरेण कल्पान्तपुरपि भवि सं मन्यतेयं विधत्ता-
> न्यिद्रागम्यस्य मुनिमतजनतो नैव सम्भावयामि ।
> हेतुं मन्यामि मुनः किमिति च जगतीपालमुद्यत-
> मत्यन्तावासतं सिद्धसीमिति यस्य ख्यापयति कन्दः फलौघैः॥

१- ध्वं पृ० ३१८ की वृत्ति ।

अर्थात् जब उसे उसकी प्राप्ति हो गई है तब फिर वह क्यों दुसरों सम्मान करेगा ? आडम्बर-रहित मन वाले उसकी चिन्ता की भी सम्भावना नहीं की जाती हूं, क्या उसके दीनतापूर्ण से मुख वह पुनः वेणु बजायेगा ? इस प्रकार दुष्यन्त के आगमन पर चिन्ता की कारण बताता हुआ शकुन्तला का सम्मान प्रतीत हो रहा है ।

यहां वाच्य है उत्कण्ठा और उत्प्रेक्षा का संकर । इससे व्यक्त हो रहा है वीर पुरुष पर चिन्ता का आरोप और वह आरोप है रूपक अलंकार । इस प्रकार यहां अलंकार से अलंकार की व्यंग्य हो रहा है ।

(२) आनन्दवर्धन ने रूपकालंकार व्यंग्य का एक और स्वरचित उदाहरण दिया है -

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
सौम्यं वपुः सुभग मुग्धतरानुकारि ।
साम्यं वदेति न तथापि तव प्रियायै
दुष्यन्तमेव कुरुतेऽभिमुखं पयोधिः ॥

हे भद्र और अत्यन्त भोली बाली सुन्दरि, तुम्हारे मुख के सुलावण्य कान्ति से दिशायें भर उठीं । इसे पर भी इस वपु में तथापि साम्य(प्यार) नहीं आया, निश्चय ही यह 'कुरुते' है ।

यहां पर कुरुते में श्लेष है ,संस्कृत में 'कु' और 'कृ' धातुयों में श्लेष माना जाता है । अतः 'कुरुते' शब्द का अर्थ होता करता की क्रिया । जिसमें लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है । अथवा यह है । यह वाच्य अर्थ है । इससे व्यंग्य हो रहा है - मुख पर चन्द्रमा का आरोप यही रूपकालंकार है । अतः यह भी अलंकार से अलंकार व्यंग्य का उदाहरण है ।

२- उषा-

धीराणं एअ पुलिणकण्णम्मि ण तदा णिवण्णुल्लो ।
पिट्ठी णिअम्बुप्पलच्छाअम्मि व गलणिम्मूरो ॥

१- ध्व० पृ० २६१

२- ध्वन्यालो० २६२

३- ध्वन्या० २६२ ।

वीरों की दृष्टि प्रिया के मुखारविन्द सदृश उतनी नहीं लगती जितनी चिन्दूर से भरे मस्तकों पर लगती है।

यहां प्रिया की अपेक्षा युद्ध कार्य में वीरपत्नियों का आधिक्य वाच्य है। यह व्यतिरेक अलंकार है। और रणमुख और मस्तक की तुलना प्रतीत हो रही है। यहाँ तुलना दूर उपमा की अंग है। अतः यहां भी अलंकार है अलंकार का स्पष्ट ढेरा या उपमा है।

आनन्दवर्धन ने इसी प्रकार वाक्यैक्य, अवान्तरव्याप्य, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, रूपक और समासोक्ति की प्रतीयमानता बताई है। और प्रत्येक के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।

७ वस्तुप्रकाश अलंकार व्यङ्ग्य -

यथा-

यासैव सपत्नीषु मुख्य एव पतिर्यतः
सा मानुषी होके स्वामिन्दरिद्रेव दरिद्रतु ॥

अर्थात् जिसके और मुख्य मुख ही बनना चाहे किन्तु मनुष्यलोक में स्वामी होते हुए भी दरिद्र न बनूं।

यहां जो वाच्य अर्थ निकल रहा है उसमें कोई अलंकार नहीं है[1]। किन्तु वाच्यार्थ से यह प्रतीत हो रहा है कि पत्नी, मनुष्य होकर दरिद्र बनने की अपेक्षा दरिद्र होकर पत्नी बनना अधिक श्रेष्ठ समझती है। अतः यहां अलंकार रहित वाच्यार्थ से व्यतिरेक अलंकार व्यंजित हो रहा है। क्योंकि यहां वाच्यार्थ में कोई अलंकार नहीं है अतः इसे वस्तुमात्र मानना होगा। अतः यहां वस्तुप्रकाश अलंकार व्यंग्य है।

इस 'वस्तुरलंकारोऽलंकार्यश्च व्यनक्ति' में एक सूक्ष्म विशेष रूप से उल्लेख है कि इसमें से ही अलंकार व्यंग्य माने जा सकते हैं जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में चारुत्वातिशय[2] हो। यह चारुत्व भावना तब तो निश्चय ही अधिक रहेगी

१- अत्र वाच्यालंकारो न कश्चित् - ध्वन्या० पृ० २७०- यह अभिनवगुप्त का मत है।
२- अलंकारान्तरव्यंग्यत्वे व्यतिरेकता मतेः।

जब ये अलंकार केवल वस्तु से व्यक्त होंगे, वैसी अवस्था में यह 'वस्तुपरक-अलंकार' में। क्योंकि इसमें काव्यत्व की सिद्धि भी अलंकार के आधार पर होगी। केवल वस्तु अपने आप में काव्य नहीं बन सकती। किन्तु अलंकार से अलंकार्य के रूप में 'अलंकारत्वेन अनुरणनरूपव्यंग्य' का व्यवहार होने तथा चारुत्वौत्कर्ष प्रधान रूप से प्रतीयमान अलंकार में होने। अन्यथा वह ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि अलंकारान्तर की प्रतीति में वहाँ वाच्य का सत्यरत्व बाधित नहीं होता वह ध्वनि का विषय नहीं माना गया है। उदाहरणार्थ-

> चन्द्रेणेयं रजनी रमते: कुमुदमुखेनेव।
> सैव: शारदसीमा काव्यमिदं सत्यमेतेन ॥[५]

अर्थात् चन्द्रकिरणों से रात्रि, कमल मुखों से रमणी, पुष्पमुख से लता, सैव से शरदकाल की सीमा और इनसे काव्यमय गौरवाभिव्यक्ति की जाती है।

यहाँ पर निशा, रमणी, लता, शरदसीमा, तथा काव्यमय- इन प्रस्तुत पदार्थों का 'क्रियते युवा' इस एक ही वर्ण से अन्वय हो रहा है। अतः यहाँ वाच्य अलंकार- दीपक है। और जैसे चन्द्रकिरणों से रात्रि गौरवाभिव्यक्त होती है उसी प्रकार कमलमुखों से रमणी। इस प्रकार रात्रि, लता, काव्यमय आदि में रमणीयता की प्रतीति भी हो रही है। यह रमणीयता ही उपमा-अलंकार है। जो चमत्कार है, किन्तु उपमा-अलंकार के चमत्कार(व्यंग्य) होते हुए भी यहाँ वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ के प्रति चारुत्वौत्कर्ष नहीं है। वाच्यार्थ ही स्वयं प्रधान बन गया है। अतः यह ध्वनि का रूप नहीं है। किसी भी अलंकार के व्यंग्य होते हुए भी यदि वह अप्रधान हो जाता है तो वह 'अलंकार'- ध्वनि काव्य की कोटि में नहीं आ सकता।

१- ध्व० ३।३६ और उसकी वृत्ति।

२- अलंकारतयेवालंकारविशेषरूपेण वाच्योपस्कारकतयैव वा प्रधानेऽलंकारत्वे चारुत्वौत्कर्षनिबन्धने सति प्रधानेऽलंकारत्वेनानुरणनरूपव्यंग्योऽपि ध्वनिरेव-मवस्थः। ध्व० पृ० २८०-२८१

३- ध्व० २।१५, ४- ध्व० २।२७ ५- ध्व० पृ० २६०

यदि व्यंग्य अलंकार वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान रूप से चारुत्वोत्कर्षक होता है तो वह ध्वनि काव्य के अन्तर्गत आ जाता है। ध्वनि का विषय व्यापक है। जो अलंकार काव्य के शरीर - शब्द अर्थ के उपकरण मात्र होते हैं वे भी ध्वनि काव्यकोटि में आते ही काव्यात्मा बन जाते हैं।[1]

ये हुए अनुरणनरूप अर्थशक्तिमूलक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेद।

यहाँ तक ध्वनि भेदों का विवेचन हुआ अब गुणीभूत व्यंग्य काव्य का विवेचन करें।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य -

जब प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान रहता है और उससे वाच्यार्थ का ही चारुत्वोत्कर्ष होता है तो वहाँ काव्य का अन्य प्रकार - गुणीभूतव्यंग्य होता है।[2]

यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य ध्वनिविपरीतरूप है। क्योंकि इसमें भी प्रतीयमान का संस्पर्श रहता है। किंतु काव्य को प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श का सौभाग्य नहीं मिलता, वह सहृदयों का हृदयहारि नहीं होता।[3] अतः गुणीभूतव्यंग्य काव्य में भी व्यंग्यार्थ रहता है किन्तु गौण रूप से।

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के मध्य केवल चमत्कार परिणाम का ही अन्तर है, आकार का नहीं। इसलिए दोनों के भेदों में प्रायः समानता है।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेद :- आनन्दवर्धन ने गुणीभूत व्यंग्य के भेदों का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है :-

१- अविवक्षितवाच्य

२- विवक्षितवाच्य

१- इतीतिकरणं भेदानां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
अलंकारा परां छायां वाच्ये व्यङ्ग्यतया गताः॥ ध्व० २।२८

२- ध्व० ३।३३ की वृत्ति

३- ध्वन्यालो० ३३३-३३५।

(१) तिरस्कृतवाच्य :-

लावण्यश्लिष्टपुलकैव वि केवलम् वर्णोत्कर्षादि रहिता सा संपद्यते।
उन्मज्जति तिरस्कृतिर्वा च सा यत्रार्थे व्यतिरिक्तगुणाऽलंग्या।

इस पद में लावण्यश्लिष्टु किसी अद्भुत सुन्दरी को कहा जा रहा है, जिसके ओष्ठों को, कपोल उसके मुख को, जघनस्थल उसके वक्षों को, नितम्ब उसके बाहुओं को । किन्तु वैशिष्ट्य यह है कि सुन्दरी या उसके अंगों के वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है । परिणामतः लावण्यश्लिष्टु आदि पदों से निकलने वाले वाच्य-अर्थ का परित्याग करने पर सुन्दरी विषयक अर्थों की प्रतीति होती है । इस परिस्थिति में जो अर्थ प्रतीयमान अर्थ के रूप में निकल रहा है वह है - 'वाक्यार्थगता स्त्री श्लिष्टु की अपेक्षा नायिका रूपी श्लिष्टु की उत्कृष्टता'। इसके साथ ही वाक्यार्थगता और नायिका रूपी श्लिष्टु के बीच व्यतिरेक भी है । क्योंकि वाक्यार्थगता में यदि कल्पना रहता है तो प्रकृतस्थल वहीं, कवि कल्पना को छोड़कर कल्प हो जाते हैं । व्यतिरेक श्लिष्टु एवं सुन्दरी रूपी श्लिष्टु में दोनों साथ साथ दिखाई दे रहे हैं। व्यतिरेक-अलंकार की प्रतीति यहां व्यतिरेकोक्ति-अलंकार के द्वारा प्रतीयमान अर्थ के रूप में हो रही है । व्यतिरेक रूपी प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति 'केवलम्' पद से हो रही है । और इससे ही चमत्कार निकल रहा है यह वाच्य-स्थिति का ही अंग है । क्योंकि प्रतीयमान अर्थ के ज्ञान से ही आनन्दबोध हो रहा है , यह व्यतिरेकोक्ति से होने वाले वाच्यार्थ के ज्ञान से न कम है और न अधिक । इस प्रकार इस उक्ति में वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का चमत्कार मात्रा में समान है । व्यंग्य का चमत्कार , मात्रा में वाच्य के चमत्कार से अधिक नहीं है । अतः यह स्पष्ट 'गुणीभूतव्यंग्यता' का है । और क्योंकि इसमें वाच्य अर्थ में परिवर्तन होता है अतः यह तिरस्कृतवाच्य गुणीभूतव्यंग्य का भेद है ।

(२) अतिरस्कृत वाच्य :- इसमें वाच्य अर्थ में परिवर्तन नहीं होता ।
इसके भी भेद हैं :-

(ङ) केवलरसालंकार -

इसके अन्तर्गत आनन्दवर्धन ने केवल रसालंकार का ही प्रतिपादन किया है। आनन्दवर्धन ने 'रसवत्' पद का अर्थ पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न रूप में किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने रसवत् शब्द का अर्थ किया था 'रस है जिसमें'। किन्तु आनन्दवर्धन ने 'रसवत्' शब्द का अर्थ 'रसोदय' किया। 'रसवत्' पद में प्राचीन आचार्यों ने मतुप् प्रत्यय माना था। आनन्दवर्धन ने तुल्यार्थक वति प्रत्यय माना। तुल्यार्थक वतिप्रत्यय से रसवत् शब्द की निष्पत्ति मानकर आचार्य आनन्दवर्धन ने रसवत् के विषय में अपना नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा कि यद्यपि रस अथवा प्रधान ही रसवत् है, किन्तु जब वह अप्रधान हो जाता है अर्थात् जब रस न रसवत् रसालंकार कहलाता है। क्योंकि वह दूसरे की शोभा बढ़ाता हुआ दिखाई देता है। वस्तुतः वह रस रस ही नहीं बनता। वह तो स्थायी भाव या संचारी भाव ही रहता है। केवल सामान्य भावों की अपेक्षा इस भाव की स्थिति कुछ अधिक पुष्ट रहती है। इसीलिए इसे रसालंकार कह दिया जाता है। उदाहरणार्थ कोई कवि अपने आश्रयदाता से कहता है :-

यिं दारयेन न मे प्रायस्यति पुनः प्राप्तास्यिद् यदीं
केयं मिथ्यारुण प्रायहरणिता, नेताति पुरीक्षुः।
स्वप्नान्तीयिति से वनु प्रियतमाश्लेषसंभ्रमतो
मुक्ता रोदिति दिग्धाकुलवलयारं रिपुस्त्रीजनः॥

इस पद्य में राजा की स्तुति प्रधान है। स्तुति में कवि राजा की चाटुकारिता कर रहा है, जिसमें अनुचारियों की करुणास्थिति अंग बन रही है, और अंगी है चाटुकार प्रयोजनालंकार। करुणास्थिति श्रेयोलंकार को पुष्ट कर रही है। करुण रस का स्थायी भाव-'शोक' है। यहां शोक की स्थिति, सामान्य शोक की अपेक्षा अधिक तीव्र हो गई है, अतः उसे रस के समान या रसवत् कहा जा सकता है।

कभी-कभी अप्रधान रस के साथ अलंकार भी विद्यमान रहते हैं। यथा -

१- आनन्दवर्धन : पृ० २०३,२०४।

शिप्रा उत्तराखण्ड: प्रवनशिखरोऽयोध्यादार्वोऽङ्गान्वं ।
मुक्तान् मेखेष्वाखण्डपरम्पराविलासी ने शिव: संपूर्णेण ।
वाडिंगन् योऽवूवाश्चिवुत्तुवाधिभि: डाकुनेशैल्पक्षाभि:
कापीवाड़पिराव: व वधू पुष्टिं शाम्बवी य: उदाश्च: ।।

यहाँ शिप्रा शब्द (शिव की) का प्रतिपादित वाच्यार्थ (अंगी) है । और उसकी दो विशेषण काशी के प्रति होगा है वर्णित शिवत्व उक्त लक्षण अंग हैं । इन दोनों के साथ यहाँ रूपकोत्थापित अलंकार भी है, क्योंकि शिप्रा के सभी विशेषण काशी में घटते हैं और काशी के अभाव इस प्रकार उपमा-प्रतिपादक शब्द भी यहाँ कथित हैं । इस प्रकार यहाँ रूपकोत्थापित शिवत्व और लक्षण शिव के प्रतिपादित के प्रति अंग हैं । इन्हें यहाँ अलंकार या रसाविलंकार क्या जाना ।[1]

कतिपय समीक्षकों का मत है कि रसाविलंकार वहीं होगा यहाँ चेतन वस्तु का प्रतिपादन होगा । यदि अचेतन वस्तु का प्रतिपादन भी तो उसे प्रधान नहीं होना चाहिए । प्रधानता अचेतन चेतनवस्तुप्रतिपादन में ही होनी चाहिए। यह सूत्र यहाँ उस ठीक है यह नहीं क्या जा सकता । क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं ,जिनमें अचेतन की प्रधानता रहती है और रसवता में कमी नहीं आती । यथा- शिशुपालवध में -

तरंगभुजैरा पृच्छतीवजलेजीरसना
शिलास्थली केशं यदापि संस्कारशिथिलम् ।
तथापि यासि स्वाभिजातिमन्यास्य बहुतो
गतिक्रमेणयं भुजवलना वा परिणता ।।

यह उक्ति , उर्मियों से शिशुपाल पुरुषत्व की है, जो अचेतन नदी को उपमा करके कही गई है । इसमें अचेतन नदी की ही प्रधानता है ।

१- (१) व्यक्ति पृ० २६६
(२) वाक्यपदीय : पृ० २०५ ।

इसी प्रकार एक और उदाहरण है -

अन्यो नैवमाकूपितस्तया मौनावलंबादभूत्
दूत्येनापरणे: स्वयाऽधिरहाद् विज्ञाप्युपायैरनया ।
चिन्तायोपविवाधिता मधुपां इवीक्षिता उत्सवे
यन्दी मानमुच पादपतितं नाथानुनायेव सा ।।

यह उक्ति भी उर्मिला के प्रति पुरन्दरा की है । इसा अनेक बार है और इसा के रूप में उर्मिला का चित्रण किया गया है, इसी के कारण इसमें धारत्व है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि रसवदलंकार में अनेक वस्तुवृत्तान्त की प्रधानता रहने पर भी रसता में कमी नहीं आती ।

यहाँ तक अलंकारव्यंग्य के गुणीभूतव्यंग्यत्व का प्रतिपादन किया गया । मम्मटादी ने अलंकार गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत केवल रसादिअलंकार के ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।

(ख) वस्तुवनीयव्यंग्य :

वस्तुवनीयव्यंग्य दो रूपों में गुणीभूत होता है -

(१) वस्तुरूप
(२) अलंकार रूप

(१) वस्तु रूप गुणीभूतव्यंग्य -

वस्तुवनी सख्या विवक्षितपुरस्सर: ।
अहो देवसिरिसखा न लक्ष्यते लक्षण: ।।

यहाँ वक्ता है वाच्यार्थ - सख्या और विवक्ष की स्थिति तथा अंग है व्यंग्यार्थ- नायक और नायिका की स्थिति यहाँ समासोक्ति अलंकार है । समासोक्ति में अप्रस्तुत का वृत्तान्त उसी प्रकार अनुमान और प्रस्तुतकथी प्रधान की शोभा को बढ़ाने वाला होता है । यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त - समासोक्ति गामक अलंकार का उपमान है, स्वयं अलंकार नहीं, अत: वस्तु रूप है । इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत- वृत्तान्त व्यंग्य है किन्तु अनुमान का गुणीभूत होकर ।

(२) अलंकार रूप गुणीभूतव्यंग्य -

आनन्दवर्धन ने इस वर्ग के लिए ऐसे ही उदाहरण दिए हैं जिनमें अलंकार की व्यंजना अलंकार से ही होती है। ऐसे स्थलों को उन्होंने तीन भागों में बांटा है -

(१) - वे स्थल जिनमें व्यंग्य रूप में कोई सामान्य अलंकार प्रतीत होता है, जैसे रूपक आदि में उपमा या इसी अलंकारों में अतिशयोक्ति।

(२) - वे स्थल जिनमें कोई विशिष्ट अलंकार व्यंग्य होता है, जैसे व्याजस्तुति में पर्यायोक्तालंकार[2] तथा

(३) - वे स्थल जिनमें परस्पर व्यंग्यता रहती है, जैसे दीपक में उपमा व्यंग्य रहती है और उपमा अर्थात् माहोपमा में दीपक।

वस्तुतः वाच्यालंकारों[3] को व्यंजक व्यंग्यार्थ के संस्पर्श का सौभाग्य मिलने पर भी, वाच्यार्थ का प्राधान्य हो जाने के कारण इन्हें गुणीभूत व्यंग्य काव्य की कोटि में रखा जाता है।

शब्द से आक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य

शब्द से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ गुणीभूत होता है, व्यंग्यार्थ के गुणीभूत होने के कारण ही इसकी गणना भी गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अन्तर्गत होती है। यथा- वेणीसंहार का दुर्योधन कहता है -'पुरा न्यस्तं स्वस्य हृदि,' इसे सुनकर भीमसेन क्रुद्ध होकर कहता है -'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति पार्थिवाग्र्याः' भीमसेन की इस उक्ति से स्पष्ट है कि वह कौरवों को स्वस्थ नहीं देखना चाहता। इसके साथ यह भी व्यंजित हो रहा है कि पाण्डवों के साथ कौरवों ने अनेक अत्याचार किए हैं। यह सभी व्यंग्यार्थ शब्द द्वारा व्यंजित हो रहे हैं और यहां सभी व्यंग्यार्थ गुणीभूत हैं अतः शब्द से आक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य का स्थल है।

१- ध्व० पृ० ४६८-७८ । २- ध्वन्यु० ४७८ ।

३- वाच्यालंकारस्तौ यं व्यंग्यांशमनुगमे यदि ।

प्रायेणैव परां छायां बिभ्रत्तत्वे निरीक्ष्यते ।। ध्व० ३।३६ ।

वाच्यार्थ से अर्थ विशेष की प्रतीति नहीं होती । वस्तु ध्वनि के अभिधेय की शक्ति से अभिधा वाच्य के उपयोग से अर्थविशेष की प्रतीति होती है और यह (व्यंग्य) अर्थ वाच्यविशेष की उपयोगिता वाले शब्द के व्यापार से उपारूढ होकर भी अभिधागम्य होने के कारण व्यंग्य रूप है । किन्तु, व्यंग्यविशिष्ट वस्तु होने पर भी वाच्यार्थोपयोगी होने के कारण उसे गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत रखा गया है ।

उसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने एक स्थल पर बताया है कि व्यंग्य अर्थ किन-किन स्थितियों में गुणीभूत होता है -

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यसिद्ध्यङ्गतादिभिः ।
असौन्दर्यत्वाधवस्तस्य वाच्यादेरुत्तमः स्फुटः ।।
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थोपयोगेऽपि वा ।
न व्यक्तिर्वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।[1]

इसका विश्लेषण करने पर उसमें व्यंग्यार्थ का चार रूपों में गुणीभूत-व्यंग्यत्व बताया गया है -

१- वाच्यमात्र का अनुयायी होने से व्यंग्य का अप्राधान्य
२- व्यंग्यार्थ की प्रतिभा मात्र या अस्पष्टप्रतीति(कल्पनामात्र)
३- वाच्यार्थ का अनुयायी होने से, वाच्य व्यंग्य का असुन्दरत्व
४- व्यंग्यार्थ का असुस्पष्ट प्राधान्य

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्यत्व का प्रतिपादन ध्वन्यालोक में एक स्थल पर नहीं किया है यह स्थल-स्थल पर बिखरा हुआ है । परवर्ती आचार्य मम्मटादि ने उसे संगृहीत करके साथ रूप बाला बताया है ।[2]

१- ध्व० वृत्ति -
२- अस्फुटत्वेऽपि वाच्येऽसिद्धंगत्वेऽस्फुटम् ।
संदिग्धत्वेऽस्फुटप्राधान्ये काव्यमध्यमतां श्रितम् ।।
व्यंग्यमेवं गुणीभूतव्यंग्यत्वाष्टौ विधाः स्मृताः ।
काव्यप्रकाश उल्लास ४ पृ० १६६

व्यंग्यों का प्रधानत्वाप्रधानत्वविवेक:

वाच्य और व्यंग्यों के प्रधानत्व और अप्रधानत्व का विवेक एक दुष्कर कार्य है क्योंकि इसमें बहुत सूक्ष्म दृष्टि और गम्भीर प्रकाश की अपेक्षा रहती है। अन्यथा यह स्पष्ट करना कठिन हो जाता है कि कहाँ ध्वनि है, कहाँ गुणीभूत-व्यंग्य और कहाँ अलंकार - इस विवेक के बिना व्यंग्यार्थ की बात तो दूर प्रसिद्ध अलंकारों के विषय में भी व्यामोह हो जाता है।[1]

यथा -

लावण्यद्रविणव्ययो न गणित: प्रौढेति मद्भाग्यत:
स्वच्छन्दस्य कुलं बलस्य बलत: विश्लाघते धीधिक:।
एवमपि स्वगतैव दुष्करतपोदानादराकी क्षमा
कोऽयंहेतुरिति त्रिलोचनहरप्रेयस्यपायात्वां सम्पदा॥

यहाँ० कतिपय समालोचकों को व्याजस्तुति का भ्रम हो जाता है। वस्तुत: यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। यह भर्तृहरि का पद्य है और एक ऐसे व्यक्ति के प्रति कहा गया है जो अति गुणी था, किन्तु उसे सम्मान देने वाला कोई नहीं था। सम्भवत: यह पद्य भर्तृहरि ने स्वयं के लिए लिखा है, क्योंकि भर्तृहरि ने इसी भाव के अन्य पद्य भी लिखे हैं।[2] यहाँ व्याजोक्ति नहीं है क्योंकि यह किसी अनुराग युक्त व्यक्ति की उक्ति नहीं है। यह उक्ति किसी विरक्त पुरुष की भी नहीं है। क्योंकि सामान्यत: विरक्त का मन स्त्री की ओर नहीं जाता। अत: यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा ही है। इसमें व्यंग्यार्थ प्रधान है, वाच्यार्थ अप्रधान। और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार।

यदि यहाँ व्याजस्तुति होती तो वाच्यार्थ प्रधान होता और व्यंग्यार्थ अप्रधान।

१- वाच्यव्यङ्ग्ययो: प्राधान्याप्राधान्यविवेके पर: प्रकर्षो विधातव्य:, येन ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्ययोरलंकाराणां चासंकीर्णा विषय: सुखावहो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालंकारविषय एव व्यामोह: प्रसजति। ध्व० पृ०६८-४००।

२- ध्व० पृ० ४०२।

मिश्रण की अंग्यार्थ है प्रधानव्याङ्गभाव का निर्णय एक कठिन कार्य है । क्योंकि दोनों ही अंग्यार्थ ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य का मिश्रित रूप है ।

ध्वनि सम्मिश्रण -

जहां व्यंग्य-अर्थ की प्रधान और अप्रधान रूप से विविध स्थितियों का वर्णन किया गया है, वहीं व्यंग्यार्थ कभी - कभी अन्य संज्ञों से भी मिश्रित रहता है । जो निम्न प्रकार है -

१- ध्वनि रूप
२- गुणीभूतव्यंग्य रूप
३- वाच्यालंकार रूप
४- संसृष्टालंकार रूप

ये मिश्रण भी दो प्रकार से होता है -

१- संकर रूप
२- संसृष्टि रूप

संकर में मिश्रित वस्तुओं का मेल पृथक नहीं होता, जब कि संसृष्टि में उसकी पृथकता होती है । संकरात्मक मिश्रण का उदाहरण है दूध पानी का मिश्रण, जब कि संसृष्टि रूप मिश्रण का उदाहरण है तिलतण्डुल का मिश्रण । संकर तीन प्रकार का होता है - अङ्गाङ्गिभावसंकर रूप, सन्देह रूप तथा एकवाचकानुप्रवेशरूप ।

इस प्रकार उपर्युक्त चार रूप - ध्वनिरूप, गुणीभूतव्यंग्यरूप, वाच्यालंकाररूप तथा संसृष्टालंकाररूप का मिश्रण संकररूप तथा संसृष्टिरूप से होने पर यह अनेक भेदों वाला हो जाता है ।[१]

विशेषाभाव -

वस्तुतः जहां संज्ञों नहीं होता वहां विशेषाभाव होता है । विशेषाभाव शब्द और अर्थ के भेद से दो कोटियों में विभक्त हो जाता है -

---

१- अङ्गाङ्गिभावसंदेहैरेकवाचकवृत्तयः ।
संकरः संसृष्टिश्चैतेषां पृथगनुगमोऽतो बहुधा ।। ध्व० ३।४२

१- शब्दचित्र

२- वाच्यचित्र

शब्दचित्र, दुष्कर यमक आदि हैं। और अंग्यार्थ से संसर्ग से रहित, प्रधान्य अर्थात् वाच्यार्थ रूप से स्थित वर्ण रस आदि तात्पर्य से रहित अनुप्रासादि वाच्यचित्र हैं।

अतः रस भाव आदि तथा अंग्यभाव की विवक्षा न होने पर जो अलंकार का निबन्धन है, वह चित्र का विषय माना गया है।[1]

निष्कर्षतः आनन्दवर्धन ने काव्य का दो ही रूप माना - ध्वनि काव्य। अंग्य अर्थ की प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर काव्य के दो प्रकार निरूपित किए - ध्वनि काव्य और गुणीभूतअंग्यकाव्य। इन दो के अतिरिक्त चित्रकाव्य को उन्होंने वस्तुतः काव्य माना ही नहीं। उसे काव्यानुकृति अथवा काव्य का चित्र-मात्र कह कर अलग कर दिया।[2]

'गुणीभूतअंग्यकाव्य' भी अंग्य अर्थ की गौणता की दृष्टि से किया गया एक प्रकार है, अन्यथा पदसंघटना रचनादि की दृष्टि से तो वह गुणीभूतअंग्य भी ध्वनि ही कहलाता -

प्रकारोऽयं गुणीभूतअंग्यो ऽपि ध्वनिरूपताम्।
कवे रसादितात्पर्य प्रकाशयितुं पुनः॥

गुणीभूतअंग्यो ऽपि काव्यप्रकारो रसादितात्पर्यप्रकाशने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते।

अतएव गुणीभूतअंग्य को ध्वनि का निबन्धन कहा है अर्थात् उसके भी मूल में ध्वनि की ही सत्ता है -

सर्वं ध्वनिनिबन्धनत्वेन स्थितोऽपि कस्यापि विषयोऽतिरूपणियो उपाधीयः सहृदयैः।[3]

१- ध्वन्यालोक ४३३-४३५।

२- प्रधानगुणभावाभ्यां अंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
इमे काव्ये, ततोऽन्यद् यद् तच्चित्रतयोदितम्॥ ध्व० ३।४२

३- ध्व० ३।४० ४- ध्व० पृ० ४७३

इस प्रकार वस्तुतः काव्य का सत्व ही ध्वनि है।

ध्वन व्यापार

आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार के शब्द व्यापार माने हैं[1] -

१- वाचकत्व

२- गुणवृत्ति

३- व्यंजकत्व

१- वाचकत्व - यह शब्द का मुख्य व्यापार है। इसमें शब्द अभिधा वृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराता है। अभिधा व्यापार से शब्द के प्रसिद्ध या मुख्यार्थ का बोध होता है। और जो शब्द इस मुख्य शब्द शक्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराता है उसे वाचक कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने वाचकत्व को शब्दविशेष का नित्य धर्म कहा है, क्योंकि व्युत्पत्तिकाल से लेकर वाचकत्व का शब्द के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है।[2]

२- गुणवृत्ति - आनन्दवर्धन गुणवृत्ति और भक्ति को एक ही मानते हैं।[3] 'गुणवृत्ति' पद में ही इसका स्वरूप निहित है। संस्कृत में गुण के कई अर्थ हैं किन्तु यहाँ 'गुण' पद का अर्थ 'अमुख्य' है और 'वृत्ति' का अर्थ 'व्यापार'।

आनन्दवर्धन कहते हैं - गुणवृत्ति शब्द का अमुख्यव्यापार है, और यह वाचकत्व पर आश्रित रहता है।[4]

१- तत्रैवं शब्द व्यापारौ द्वौ प्रकारौ: - वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यंजकत्व च, ध्वन्यालोक २९

२- वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नित्या वाच्या व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् - ध्वन्या० ४ वृ

३- आनन्दवर्धन ने भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव का जो विकल्प प्रस्तुत किया है उसी से उपलक्षण के रूप में गुणवृत्ति के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं -
वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यंजकत्वेऽनुरूपत्व ध्वनेः स्वात्मतयार्थ कथम् ।। ध्व० २।२८

४- (१) यस्मात्स्वत्वया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रतिष्ठितः - ध्व० पृ० ४२४
(२) वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता । ध्व० पृ० २।२८
(३) यद्गुणवृत्तिमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते । ध्व० पृ० ४२४

भेद:

आनन्दवर्धन के अनुसार गुणवृत्ति के दो भेद हैं -

१- अभेदोपचार रूपा तथा

२- उपादानरूपा[२]

(१) अभेदोपचाररूपा - इसे आनन्दवर्धन ने उपचार[३] भी कहा है। मुख्यार्थ का, अन्य किसी अर्थ के पास पहुंचना। आनन्दवर्धन ने इसे तीन प्रकार का कहा है -

(१) शाब्दव्यञ्जित[४]

(२) आर्थव्यञ्जित[५]

(३) शिष्टाचार

(१) शाब्दव्यञ्जित - आर्थव्यञ्जित में उपचार या अभेद का कारण अर्थ होता है और वह अर्थ शब्दतः व्यक्ति रहता है। ध्वन्यालोक में इसका उदाहरण है -

(१) शीघ्रगता के कारण वाहक अग्नि[७] है।

(२) बालरूपता के कारण मुख चन्द्र[८] है।

(२) आर्थव्यञ्जित- आर्थव्यञ्जित में उपचार या अभेद का कारण अपने वाचक शब्द से व्यक्ति नहीं रहता। ध्वन्यालोक में इसका उदाहरण है -

शिक्षक मूर्खता नहीं होता।[९]

१- (१) गुणवृत्तिस्तु उपचारेण उपादानया लोपवाक्यादि गतिर्-ध्वन्यालोक ४२३
(२) गुणवृत्तिः ---------- अभेदोपचाररूपा - ध्व० पृ० ४३३

२- यापि उपादानरूपा गुणवृत्तिः - ध्वन्यालोक ४२३

३- (१) उपचारात्मा गतिः - ध्वन्यालोक २४२
(२) उपचारिताच्च - ध्वन्यालोक २४६

४-५ गुणवृत्तिस्तु शाब्दव्यञ्जितेनैव आर्थव्यञ्जितेन सामेदोपचाररूपा सम्भवति यथा शीघ्रगत्यवहन्यभिधायिकः, बालरूपत्वाच्चन्द्र एवायं मुखम् इत्यादौ यथा च शिष्टो नायं मूर्खत्वम् इत्यादौ। ध्व० पृ० ४३३

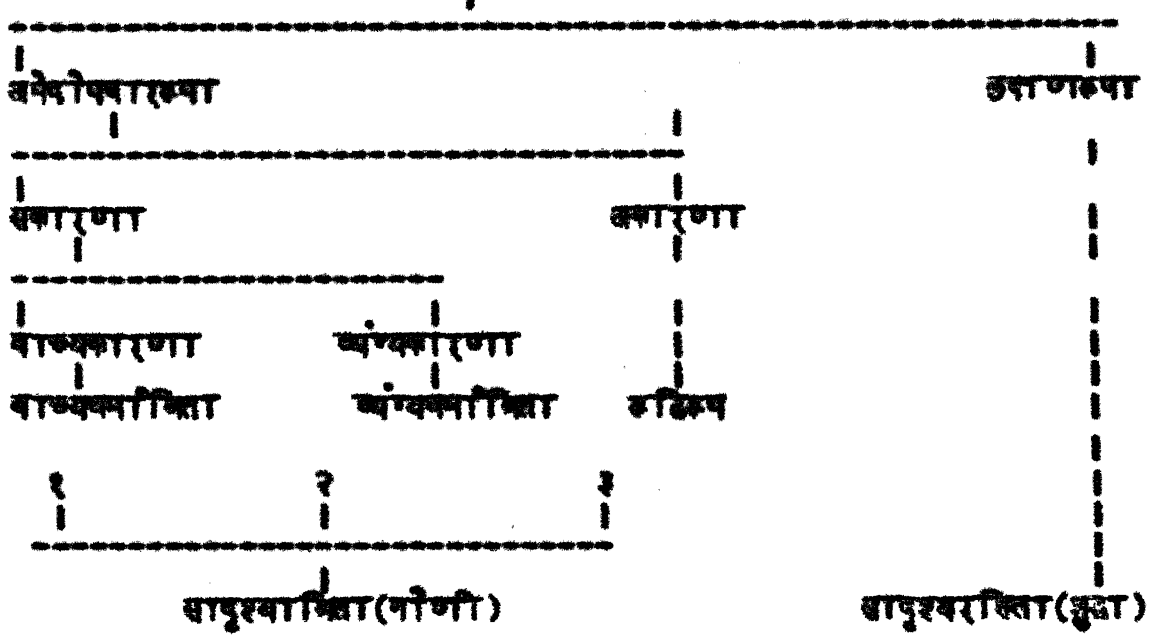
६- ध्व० पृ० २।२६

७-९ पृ० टिप्पणी संख्या ४-५।

(३) सिद्धाङ्गेत्व- सिद्ध अभेदोपचार ऐसे स्थलों में होता है, जिसमें कारण न तो वाच्य रहता है और न व्यंग्य। ऐसे स्थलों को आनन्दवर्धन ने सिद्धा लक्षणा का स्थल कहा है और इसका उदाहरण माना है 'लावण्य'[1] आदि शब्दों को। लावण्य का वास्तविक अर्थ है - सलोनापन। किन्तु अब लावण्य शब्द अंगों में कसावट युक्त आब के अर्थ में रूढ़ हो गया है।[2]

(२) उपादान लक्षक गुणवृत्ति - उपादानरूप गुणवृत्ति वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ सम्बन्ध नहीं रखता। यह लक्ष्यमाणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के आधार से वाच्यरूप व्यंग्य की प्रतीति के बिना भी सम्पन्न होती है। जैसे - गंगा: प्रोद्यन्तीत्यादौ विषये।[3]

आनन्दवर्धन के अनुसार गुणवृत्ति के भेद निम्नप्रकार से हैं -



१- सिद्धा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा: स्वविषयादपि।
लावण्याद्या: प्रयुक्तास्ते न यान्ति सर्वं ध्वनेः ।। ध्व० २।२६

२- मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते

३- यापि उपादानरूप गुणवृत्ति: वाच्योपादानीयार्थेनसम्बन्धमात्रान्नेन वाच्यव्यंग्यप्रतीतिं विनापि सम्पद्यतेव, यथा- गंगा: प्रोद्यन्तीत्यादौ विषये - ध्व० पृ० ३३३।

व्यंजकत्व -

जिस प्रकार 'वाच्यार्थ' का प्रकाशन 'अभिधा-व्यापार' से होता है और 'लक्ष्यार्थ' का प्रकाशन 'गुणवृत्ति' से उसी प्रकार 'व्यंग्यार्थ' का प्रकाशन 'व्यंजकत्व' व्यापार से होता है। अतः व्यंग्य का प्रकाशन ही व्यंजकत्व है। यह शब्द और अर्थ का धर्म है। शब्द और अर्थ का वृत्ति तो वाच्यवाचकभाव मात्रक सम्बन्ध है उसी संकेत कहा हुआ ही व्यंजकत्व रूप व्यापार पुहरी वाच्यों के सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रवृत्त होता है। वाचकत्व शब्द विशेष नित्य धर्मता है किन्तु व्यंजकत्व औपाधिक होने के कारण अनित्य है। क्योंकि प्रकरण आदि के वशवर्ती से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा उसकी प्रतीति नहीं होती।[२]

आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के आधार पर अपने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है[३]। और, वैयाकरणों के व्यंजकत्व के साम्य के आधार पर ही अपने सिद्धान्त को 'ध्वनि संज्ञा' दी। क्योंकि वैयाकरणिक पुराणादि वर्णों में ही अप्रत्यक्ष और नित्य स्फोट के व्यंजक होते हैं, उन्हें ध्वनि व्यवहार कहते हैं। इनके मत का अनुसरण करने वाले काव्य तत्त्वान्वेषियों ने 'वाच्यवाचकातिरिक्त शब्दात्मक काव्य' को 'व्यंजकत्व' के साम्य के आधार पर ही 'ध्वनि' कहा।

यहाँ यह तथ्य अवश्य है कि ध्वनि के केवल तीन विरोधी हैं - अभावादी, लक्षणावादी एवं अभिधेयोक्तावादी। अनुमानादि ध्वनि के विरोधी नहीं वह तो व्यंजकत्व के विरोधी हैं। इसलिए आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में व्यंजकत्व की स्थापना के प्रसंग में, उसका वाचकत्व, गुणवृत्ति और अनुमान से भिन्न विषयत्व बताया है। क्योंकि व्यंग्य अर्थ प्रतिपादन में अभिधादि शब्दव्यापार एवं अनुमानादि प्रमाणान्तर सर्वथा असमर्थ होते हैं। अतः व्यंग्यार्थ का प्रकाशन

१- व्यंग्यप्रकाशं हि व्यंजकत्वम् - ध्व० पृ० ४४० २- द्रष्टव्य पृ० ४३६-४३७

३- पाणिनिशिवसिद्धान्तप्रक्रियाणां विवक्षितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति - ध्व० पृ० ४४१

४- आनन्दवर्धन ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में 'व्यंजकत्व' पद का ही प्रयोग किया है। कहीं भूल कर भी 'व्यंजना-व्यापार' नहीं कहा है। परवर्ती आचार्य अभिनव आदि ने 'व्यंजना' नाम बताया।

करने में व्यंजकत्व की उद्भावना है।

वाचकत्व और व्यंजकत्व -

व्यंजकत्व(व्यंजना व्यापार) विरोधी कतिपय आचार्य वाचकत्व(अभिधा व्यापार) के ही कुछ अंशों को निकालना चाहते हैं[1]। उनके अनुसार -

(१) वाच्य से अतिरिक्त उस अन्य अर्थ को व्यंग्यार्थ रूप न कह कर, वाच्य रूप ही मानना उचित है, क्योंकि उस अर्थ के प्रकाशन में वाचक का अभिधा व्यापार ही है। उसके लिए व्यंजकत्व रूप अन्य व्यापार की कल्पना अनावश्यक है। क्योंकि वाच्य जिस प्रतीति के लिए प्रयुक्त होता है, उतनी सम्पूर्ण है, अतएव उसे मुख्यार्थ मान कर वाचकत्व(अभिधा व्यापार) का ही विषय मानना युक्ति संगत है[2]।

(२) और, उस अन्य (व्यंग्य) अर्थ को वाच्यार्थ मान लेने पर, मध्य में होने वाली वाच्यान्तर प्रतीति उसी प्रकार उपायमात्र है जिस प्रकार पदार्थप्रतीति, वाक्यार्थप्रतीति का उपाय मात्र होती है। अर्थात् वाच्य के तात्पर्यविषयीभूत अन्य अर्थ के बोधन में प्रथम अर्थ, उपाय मात्र होता है[3]।

व्यंजकत्व विरोधियों की उक्त बातें देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

यहां शब्द अपने अर्थ का अभिधान करता हुआ अर्थान्तर का अवगमन कराता है यहां शब्द का स्वार्थाभिधायित्व(वाचकत्व) और अर्थान्तरावगमत्व(व्यंजकत्व) में अभेद नहीं है क्योंकि वाचकत्व और व्यंजकत्व विषयतः एवं स्वरूपतः भिन्न हैं[4]।

वाच्य अर्थ और व्यंग्यार्थ का इस पर व्यवहार सुस्पष्ट ही है। वाच्य अर्थ शब्द का व्यापारानु सम्बन्धी है, किन्तु व्यंग्य अर्थ अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त

१- तदेवं व्यंजनमुक्तेन व्यतिरेकेण निराकरिष्यन् निराकिरोति कश्चित् कुतश्चित् - ध्व० पृ० ४१३
कश्चिदिति। भोगांकारादि:- लो० पृ० ४१३
लोचनकार के अनुसार व्यंजकत्व विरोधी भोगांकारादि हैं।

२- ध्वन्यु० ४१३-४१५

३- ध्वन्यु० ४१५

४- वस्तावपी ही व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नफलौ च प्रतीयेते एवं - ध्वन्यु०४१६

होकर उसका ही है। यदि व्यंग्यार्थ को भी उस का वाचकत्व सम्बन्धी माना जाता, तब उसमें अवान्तरत्व का व्यवहार ही नहीं होता। अतः इन दोनों का विषय भेद स्पष्ट है।

इन दोनों में स्वरूप भेद भी है क्योंकि जो अभिधाशक्ति है वही व्यञ्जना शक्ति नहीं। जैसे व्यापक गौरव शब्द से भी रूढ़ादि रूप अर्थ का व्यञ्जन होता है और वाचकत्व विद्वत्ता चेष्टा आदि वाचिक अभिनयों से भी अविशेष का प्रकाशन(व्यंजन) देखा जाता है जैसे 'क्रीडायोगान्व्यवस्यन्' इत्यादि श्लोक में कवि ने अर्थ प्रकाशन के हेतु चेष्टा विशेष को ही बताया है।

इस प्रकार शब्द के स्वार्थाभिधायित्व(वाचकत्व) और अवान्तरव्यापारहेतुत्व (व्यंजकत्व) में स्वरूपतः और विषयतः भेद स्पष्ट होने के कारण, अभिधेय की वाच्यता है वाचित्व अवान्तर को वाच्य कहना उचित नहीं।

मीमांसकों ने वाच्य और व्यंग्य में पदार्थवाक्यार्थ न्याय का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

वाच्य और व्यंग्य में पदार्थ वाक्यार्थ न्याय घटित नहीं हो सकता।[1] क्योंकि वाक्यार्थप्रतीति के समय पदार्थ और वाक्यार्थ में पदार्थ प्रतीति पृथक् रूप से नहीं होती किन्तु वाच्य और व्यंग्य में ऐसा नहीं है।

जो मीमांसक वाच्यार्थ को पदार्थ स्थानीय तथा व्यंग्यार्थ को वाक्यार्थ-स्थानीय मान कर व्यंग्यार्थ को तात्पर्यशक्ति का ही विषय बताते हैं, वह ठीक नहीं,क्योंकि वाच्य तथा व्यंग्य में पदार्थ वाक्यार्थ न्याय घटित नहीं होता।[2] पदार्थ-वाक्यार्थ में घटमुद्गरादावकारण न्याय तथा वाच्य व्यंग्य में घटप्रतीति न्याय ही मानना चाहिए।[3] जिस प्रकार घटबुद्धि की वेला में उसके उपादान कारण की पृथक् प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार वाक्यार्थबुद्धि की वेला में उसके उपादान रूप पदार्थों की पृथक् प्रतीति नहीं होती। यदि पदार्थों की पृथक् प्रतीति होती तो वाक्यार्थबुद्धि ही नहीं हो सकती क्योंकि वाक्यार्थ में तो अर्थ की एकता

१- ध्व०पृ० ४२७

२- न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यंग्ययोः। ध्व० पृ० ४२६

३- पृ० ध्व० पृ० ४२७-४२८।

बाधित होती है । अवयवों के मिलता रहने पर अवयवी की प्रतीति संभव नहीं होती । किन्तु वाच्य और व्यंग्य में यह नियम लागू नहीं होता । क्योंकि व्यंग्य प्रतीति के समय वाच्य बुद्धि दूर नहीं होती, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ के साथ अविनाभाव रूप से बाधित होता रहता है । इसलिए इन दोनों में घटप्रतीतन्याय है, क्योंकि जैसे घट की प्रकाशित कर दीपक स्वयं भी बाधित होता रहता है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ को प्रकाशित कर वाच्यार्थ स्वयं भी बाधित रहता है, अर्थात् वाच्य और व्यंग्य अथवा घट और प्रदीप में प्रकाश्य तथा प्रकाशक दोनों की साथ-साथ प्रतीति होती है । यह दूसरा तथ्य है कि प्रकाशक की सत्ता, प्रकाश्य की सत्ता से नियमतः पूर्वभाविनी होती है । इस पूर्वापरित्व को दृष्टि में रख कर ही ध्वनिकार अपने ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में व्यंग्यार्थ के प्रति वाच्यार्थ की नैयत उपायकत्व (कारणता) सिद्ध करने के लिए पदार्थ-वाक्यार्थन्याय को उपस्थित करते हैं ।[1]

मीमांसक यह शंका कर सकता है कि यदि वाच्यव्यंग्य में घटप्रतीतन्याय माना जाता तो एक काल में वाच्य से अभिन्न की प्रतीति होने पर, वाच्य की वाचकता ही विघटित हो जाती । क्योंकि वाच्य में तो अभिन्नत्व ही होना चाहिए ।

इस शंका का समाधान करते हुए ध्वनिकार कहते हैं - वाच्य से अभिन्न की प्रतीति कोई दोष नहीं, क्योंकि वाच्य और व्यंग्य गुणप्रधानभाव से रहते हैं । कहीं पर व्यंग्य-अंशेनाम तथा वाच्य अंश अनुभाव रूप से रहता है और कहीं वाच्यार्थ के प्रधान होने पर व्यंग्यार्थ अनुभाव हो जाता है । व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर और वाच्यार्थ के गौण होने पर व्यनि काव्य होता है और व्यंग्यार्थ के अनुभाव और वाच्य के प्रधान होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य ।

१- यथा पदार्थैरेव वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।
वाक्यार्थेनापि तत्प्रतिपत्तिरूपत्वं वस्तुनः ।। ध्व० १।१०

२- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधीसम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं- पृ० ३०६-३०८ ।

इससे यह सिद्ध है कि - वाच्य का व्यंग्य में तात्पर्य होने पर व्यंग्य का अविवक्षितत्व नहीं, अपितु व्यंग्यत्व ही होता है।[१]

मीमांसक तो केवल वाचक की तात्पर्य विषयीभूत होने के कारण वाच्य रूप ही मानते हैं, वह गुणीभूतव्यंग्य के रूप में भासित होने वाले व्यंग्यार्थ को वाच्य कैसे मानेंगे ? क्योंकि वहां पर तो वाचक वाच्यार्थपरक होता है, व्यंग्यार्थपरक नहीं। व्यंग्यार्थ तो भासित होकर पुनः वाच्य का ही अनुवाद करने लगता है। अतः जब मीमांसक को गुणीभूतव्यंग्य के रूप में व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार ही करनी पड़ती है, तब व्यक्ति काव्य में, वहां उसका प्राधान्य है, वहां उसके स्वरूप का अपह्नव क्यों करते हैं ?[२]

व्यंजकत्व का वाचकत्व से भिन्न होने का कारण यह है कि वाचकत्व एकमात्र शब्द के आश्रित रहता है, किन्तु व्यंजकत्व शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहता है।[३]

वाचकत्व शब्द का नित्य धर्म्म है क्योंकि उत्पत्तिकाल से लेकर उसका सब शब्द के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। जैसे - गवादि वाचक शब्द का गवादि अर्थ के साथ व्युत्पत्तिकाल से लेकर आज तक एक अटूट सम्बन्ध रहा है। अब भी 'गौ' शब्द का उच्चारण होगा 'गवादि पिण्ड' की नित्यरूप से प्रतीति होगी। उससे विपरीत व्यंजकत्व शब्द का अनित्य धर्म्म है। शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध जो वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा करता हुआ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रसूत होता है।[४]

इसमें उपाधि है - प्रकरण वक्तृबोधव्यादि वैशिष्ट्य। किसी विशिष्ट बोधव्य की दृष्टि में रख कर प्रयोग किया गया वाचक उस बोधव्य के सान्निध्य के कारण अपने अर्थ से भिन्न एक अवान्तर(व्यंग्य) की प्रतीति कराता है और यदि वह बोधव्य न रहे तो शब्दशास्त्र में परिगणित हो जाता है। जैसे -

---

१- द्र० व्यलो० पृ० ४२२

२- द्र० व्यलो० पृ० ४२२

३- तदत्र वाचकत्वाद्व्यंजकत्वस्यान्यत्वं यद्वाचकत्वं शब्दैकसमधिगम्यं तद्व्यंजकत्वं शब्दार्थोभयसमधिगम्यं च - व्य० पृ० ४२३।

४- च. पृ. ४३६.

'कस्य न वा मवति रोचः' इत्यादि वाक्य में जो व्यंग्यार्थ मिलता है उसका प्रयोजक है केवल अन्यसान्निध्य रूप उपाधि । यदि कोई दीवरा व्यक्ति सुननेवाला न रहे तो वहाँ कोई व्यंजना नहीं ।[1] अतः व्यंजत्व औपाधिक होने के कारण अनित्य है । क्योंकि प्रकरण आदि के संयोग से उसकी प्रतीति होती है अन्यथा उसकी प्रतीति नहीं होती ।

यहाँ पर मीमांसक शंका करता है कि - यदि व्यंजत्व का शब्द से अनित्य सम्बन्ध है, तो उसके स्वरूप की परीक्षा से क्या लाभ ? इसका समाधान करते हुए वाक्यपदीय कहते हैं - व्यंजत्व का अनित्यत्व कोई दोष नहीं । क्योंकि व्यंजत्व का शब्द रूप के साथ अनित्य सम्बन्ध है, न कि व्यंग्यार्थ के साथ । व्यंग्यार्थ के साथ तो उसका उसी प्रकार नित्य सम्बन्ध है , जिस प्रकार कि अग्नि का वाचक शब्द के साथ । इस दृष्टि से व्यंजत्व में लिंगत्व न्याय भी घटित होता है । जिस प्रकार लिंगत्व अनुमान के अधीन होने के कारण अग्नि विषय अग्नि आदि में अव्यभिचारि(नित्य) रूप से ही प्रतीत होता है , धूम को लिंग तो तभी माना जाता है जब अग्नि का अनुमान करना होता किन्तु उस लिंगभूत धूम का अग्नि के साथ नित्य सम्बन्ध तो सदैव देखा जाता ।उसी प्रकार शब्द में व्यंजत्व का आरोप करना तो इच्छाधीन है किन्तु व्यंजत्व होने पर तो व्यंग्यार्थ की नित्य रूप से प्रतीति होती ही । इसलिए शब्द में अनित्य से रहने के कारण व्यंजत्व को वाचकत्व से नितान्त भिन्न समझना चाहिए । यदि व्यंजत्व भी वाचकत्व का रूप होता तो उसका भी वाचकत्व की तरह शब्द के साथ नित्य सम्बन्ध होता ।[2]

और मीमांसक शब्द के साथ अर्थ का नित्य (औत्पत्तिक) सम्बन्ध मानते हैं और उसके साथ-साथ वैदिक वाक्यों को लौकिक वाक्यों से भिन्न भी मानते हैं । उनके अनुसार वैदिक वाक्यों में अवीरत्वेच्छा का कारण स्वतः प्रमाण होता है । लौकिक वाक्य पुरुषाभिप्रेत होते हैं,इसलिए पुरुषाभिप्राय ही उनकी वाक्यता में प्रमाण है । इसमें पुरुष दोषों के कारण मिथ्यार्थकता भी सम्भव है ।

१-२ व्यक्तः १७८-१७९ ।

शब्द में व्यंजकत्व रूप औपाधिक धर्म को स्वीकार करने पर ही लौकिक तथा वैदिक वाक्यों में परस्पर भेद का उपपादन हो सकता है। औत्पत्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से दोनों प्रकार के वाक्यों में वाच्यार्थ बोधकता समान रूप से होती है। अन्तर मात्र इतना है कि लौकिक वाक्य में 'अर्थ' वक्ता के अभिप्रायानुसार होता है और वह वस्तुतात्पर्य व्यंग्यरूप ही होता है। वक्ता को कभी ईश्वरीय वस्तु में विद्वत्ता के लिए अन्ताक्षरित्व दिखाना भी अभिप्रेत हो सकता है। अन्ताक्षरित्व का वस्तु के साथ तो वाच्य-वाचक रूप सम्बन्ध असम्भव है। [illegible] उसमें केवल औपाधिक सम्बन्ध ही हो सकता है। प्रायः सभी पौरुषेय(लौकिक) वाक्य पुरुषाभिप्राय के प्रकाशक होते हैं अतः व्यंजकत्व रूप औपाधिकधर्म से युक्त होते हैं। यही औपाधिक धर्म उसे अपौरुषेय(वैदिक) वाक्यों से व्यावर्तित करता है। वैदिक वाक्य किसी पुरुष द्वारा विवक्षित न होने के कारण उसमें वस्तुतात्पर्य-रूप उपाधि का प्रश्न ही नहीं उठता। उसमें तो वाक्य का वाच्यार्थ केवल ईश्वर विषय सम्बन्ध रखता है।[1]

अतः निष्कर्ष यह है कि लौकिक वाक्य में वक्ता का अभिप्राय अन्तर्निहित रहता है और वह अभिप्राय प्रायः व्यंग्य रूप ही रहता है। इसीलिए मीमांसक को भी वैदिक वाक्य से लौकिक वाक्य में भेद उत्पन्न करने वाले धर्म व्यंजकत्व को स्वीकार करना ही चाहिए।

वैयाकरण और व्यंजना -

आनन्दवर्धन को ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणियों से प्राप्त हुई है। इसलिए व्यंजनाशक्ति के खण्डन के लिए उनसे मीमांसकों की तरह विरोध करने का प्रश्न नहीं उठता। वैयाकरणिक तो स्फोट की प्रतीति के लिए ध्वनियों के व्यंजकत्व को मानते हैं।[2]

अतः यह सिद्ध है कि वाचकत्व और व्यंजकत्व स्वरूपतः और विषयतः भिन्न हैं।

१- पू० भ्व० पृ० ४१०-४१२।

२- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं। पृ० २०६-२१०

३- (१) तत्प्रतीतावक्षरत्वधियां सति तावद्व्यंजकत्वग्रहणं: शब्दो व्यापारी न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव उच्यते - भ्व० पृ० ४४।
(२) परिशिष्टसंनिवेशप्रक्रमभङ्गाणां विवक्षितो यतोऽन्यपरत्वेऽपि वृत्तीऽयं - ध्वनि व्यवहार- भ्व० पृ० ४४।

गुणवृत्ति और व्यंजकत्व - गुणवृत्ति से भी व्यंजकत्व का स्वरूपतः और विषयतः भेद है।[१]

इन दोनों का पारमार्थिक स्वरूप भेद यह है कि गुणवृत्ति शब्द का मुख्य व्यापार है किन्तु व्यंजकत्व शब्द का मुख्य व्यापार है। मुख्य व्यापार इसलिए है क्योंकि व्यंग्य के जो तीन प्रकार - वस्तु, अलंकार और रसादि हैं, इनका किंचिन्मात्र भी अमुख्य व्यापार नहीं होता।

अमुख्य रूप से व्यवस्थित वाचकत्व को ही गुणवृत्ति कहते हैं। किन्तु व्यंजकत्व में शब्द का अमुख्यत्व या स्वल्पस्थित्व नहीं होता क्योंकि यदि वाचकत्वाश्रित से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन होने पर यदि शब्द की अमुख्यता हो रह गई तो उसके प्रयोग में दुष्टता होगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतएव व्यंजकत्व के पक्ष में शब्द का मुख्य व्यापार ही होता है।

इस अन्य भेद यह भी है कि वह गुणवृत्ति में अर्थ अर्थान्तर को उपस्थित करता है तब उपस्थापनीय अर्थ के रूप में ही वह परिणत हो जाता है। यथा- गंगायां घोषः इत्यादि में। परन्तु व्यंजकत्व मार्ग में वह अर्थ अर्थान्तर को बोधित करता है तब प्रदीप की भांति 'स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ भी वह अन्य अर्थ का प्रकाशक होता है। यथा 'शीताकलङ्कपतनाभि नभस्यमास पक्षीव' इत्यादि में।[२]

गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में विषय भेद भी है। क्योंकि वस्तु अलंकार और रसादि ये तीनों व्यंजकत्व के विषय हैं। गुणवृत्ति में इन तीनों का व्यवहार नहीं होता। गुणवृत्ति में केवल प्रसिद्धि और अनुरोध से गौण शब्दों का प्रयोग होता है। और जो भी गुणवृत्ति का विषय होता वह भी व्यंजकत्व के सम्बन्ध से होता। अतः गुणवृत्ति से व्यंजकत्व अत्यन्त विलक्षण है।[३]

यह निश्चित हुआ कि वाचकत्व और गुणवृत्ति के आश्रित रहता हुआ भी व्यंजकत्व दोनों से विलक्षण है, व्यंजकत्व कहीं पर वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्थित होता है, जैसे - विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में, और कहीं पर

१- गुणवृत्तिस्तूपचारेण तथाभूता गौणमात्रवाचि भवति। किन्तु ततोऽपि व्यंजकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिन्नं। ध्व० पृ० ४२१

२- द्र० ध्वन्यु० ४२१-४२५ ३- द्र० ध्वन्यु० ४२५-४२७

गुणवृत्ति के आश्रय है , जैसे - अविविक्षितवाच्य ध्वनि में । और इन दोनों- वाचकत्व और गुणवृत्ति के आश्रयत्व के प्रतिपादनार्थ ही ध्वनि के लक्षण को भेद उपन्यस्त किए गए । इन पर आश्रित होने के कारण व्यंजकत्व से उनका भेद नहीं स्थापित किया जा सकता ।

अतः किसी भी तर्क द्वारा व्यंजकत्व को वाचकत्व और लक्षणा गुणवृत्ति दोनों में से किसी में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता ।

व्यंजकत्व और अनुमान -

कुछ तार्किक व्यंजकत्व को अनुमान में ही अन्त-र्भूत करते हुए कहते हैं -

उनका कथन है कि व्यंजकत्व तो लिंगत्व ही है, क्योंकि व्यंग्य की प्रतीति लिंगी की प्रतीति ही है, इस प्रकार उनका लिंगलिंगिभाव ही है, इससे अतिरिक्त व्यंग्यव्यंजक भाव नहीं और जो व्यंजकत्ववादी कवि के अभिप्राय की अपेक्षा से व्यंजकत्व का प्रतिपादन करता है वह कवि का अभिप्राय अनुमेय रूप ही है ।[१]

मुकुलभट्ट के उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं - वाचकत्व और गुणवृत्ति से अतिरिक्त व्यंजकत्व रूप शब्द व्यापार है । वह व्यंजकत्व लिंगत्व ही अथवा कुछ और इससे कोई प्रयोजन नहीं । किन्तु इतना अवश्य है कि वह व्यंजकत्व प्रसिद्ध शाब्द प्रकार से अलग विलक्षण होते हुए भी शब्द-व्यापार का ही विषय है । यदि मुकुलभट्ट को अनुमान का शब्दव्यापारत्व मान्य है तो मुकुलभट्ट और सिद्धान्तपक्षी में कोई विवाद ही नहीं । और फिर मुकुलभट्ट के इस तर्क में कोई तथ्य नहीं कि - व्यंजकत्व लिंगत्व ही है और इसीसे व्यंग्य की प्रतीति लिंगी की प्रतीति ही है ।[२]

मुकुलभट्ट का कथन है कि - कवि का अभिप्राय अनुमेय रूप होने के कारण शब्द लिंग रूप ही होते हैं ।

इस पर आनन्दवर्धन कहते हैं - उनका विषय दो प्रकार संभव है :-

१- अनुमेय

२- प्रतिपाद्य

१- ध्व० न्या० पृ० ४४८ २- ध्व० न्या० पृ० ४४८-४४९

१- अनुमेय विवक्षा रूप है । विवक्षा दो प्रकार की है -

(१) शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा

(२) शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा

किसी के मुख से शब्द निकलता है तो सुनने वाला यह अनुमान करता है कि अवश्य ही इस व्यक्ति के मन में कोई बात प्रकट करने की इच्छा है । यही वक्ता इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है और इन शब्दों द्वारा यह अर्थ प्रकट करना चाह रहा है । वक्ता की इच्छा का ज्ञान वक्ता के मुख से उच्चरित शब्द के ही आधार पर होता है । अतः शब्द से वक्ता की शब्दप्रतीतीच्छा तथा अर्थप्रतीच्छा का अनुमान होता है । अतः शब्दों के यह दोनों ही विषय अनुमेय हैं ।

२- और ,प्रयोक्ता की अर्थप्रतिपादन की इच्छा से विवक्षीकृत अर्थ 'प्रतिपाद्य' है। वह भी दो प्रकार का है -

(१) वाच्य

(२) व्यंग्य

प्रयोक्ता कभी स्वशब्द द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है और कभी स्वशब्द के अनभिधेय रूप से किसी प्रयोजन की अपेक्षा करता है । यह वाच्य और व्यंग्य इन शब्दों का 'प्रतिपाद्य' जिनी रूप से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता, अपितु मुख्य अथवा अमुख्य सम्बन्धान्तर से प्रकाशित होता है । शब्दों से केवल इस अर्थ का 'विवक्षाविषयत्व' जिनी रूप से प्रतीत होता है, 'स्वरूप' नहीं ।

यदि प्रतीतिवादी के अनुसार अर्थ के स्वरूप को भी अनुमेय ही मान लिया जाय और शब्दों का व्यापार जिस जिनी भाव से ही तो कभी भी अर्थ के विषय में शब्दत्व तथा मिथ्यात्व का विवाद ही न हो, क्योंकि मुख के द्वारा अनुमेय अग्नि का ज्ञान कभी भी मिथ्या ज्ञान नहीं होता ।

यदि कोई कहे कि वाच्य अर्थ का तो शब्द से सीधा सम्बन्ध होता है किन्तु व्यंग्य का नहीं, क्योंकि व्यंग्य अर्थ भी तो वाच्यार्थ से ही आक्षिप्त होता है, अतएव वाच्य के समान वह भी शब्द का ही सम्बन्धी है । अन्तर केवल इतना है कि वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है और व्यंग्यार्थ असाक्षात् अर्थात् परम्परया सम्बन्धी है । यहां साक्षात् और असाक्षात् भाव-सम्बन्ध का यहां कोई प्रयोजन नहीं । और व्यंग्यत्व का वाच्यव्यापक मायाजन्यत्व होता ही है । अतः यह सिद्ध है कि वक्ता के अभिप्राय रूप व्यंग्य में जिस रूप से शब्दों का

व्यापार होता है । और उसके द्वारा विषयीकृत अर्थ में प्रतिपाद्य रूप है ।अतः यों अनुमान शब्द सुनने से होता है, उसको व्यंजकत्व से भिन्न मानना होगा ।

पूर्वपक्षी के यह प्रश्न करने पर कि - अभिप्राय रूप(विवक्षित) और अनभिप्राय(अविवक्षित) रूप उस प्रतीयमान में वाचकत्व है ही व्यापार होगा अथवा सम्बन्धान्तर है ?

सिद्धान्तपक्षी कहता है - वाचकत्व है तो नहीं होगा जैसा कि पहले स्पष्ट कर चुके हैं । सम्बन्धान्तर है 'व्यंजकत्व' ही है । और व्यंजकत्व, लिंगत्व रूप नहीं है । जैसे - प्रदीप घट का अनुमापक नहीं बन सकता क्योंकि घट का तो प्रत्यक्ष हो ही रहा है और प्रदीप द्वारा प्रकाशित घट का ज्ञान अनुमानात्मक है - ऐसा कोई भी प्रेक्षावान् नहीं मान सकता क्योंकि यह तो अनुभव सिद्ध ज्ञान है । इस लिए शब्दों का प्रतिपाद्य विषय वाच्य की भांति ही लिंगी रूप से सम्बन्ध नहीं रखता । जो लिंगी रूप से सम्बन्धी है, वह वाच्य रूप से प्रतीत नहीं होता , अपि तु व्यंग्य रूप होता है । और प्रतिपाद्य विषय व्यंग्य रूप से प्रतीत होता है ।

और काव्य के विषय में व्यंग्य की प्रतीति का सत्यात्मक निरूपण अनुचित है । इसलिए यहां प्रमाणान्तर से व्यापार की परीक्षा उपयोगशून्य ही होगी । इसलिए लिंगी की प्रतीति की भांति व्यंग्य की प्रतीति है, यह नहीं कह सकते । अतः व्यंजकत्व को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता ।

यदि तर्कीकजनी व्यंजकत्व को अपने अनुमान में अन्तर्भूत करेगा तो उसे अपने अनुमान में दो परिवर्तन करने होंगे -

१- एक तो यह कि उसे शब्दशक्ति स्वीकार करना होगा । और

२- दूसरा यह कि उसे प्रमाणत्व से शून्य मानना होगा ।

इस प्रकार व्यंजकत्व को अनुमान रूप मानते ही अनुमान का अपना स्वरूप ही छिन्न हो जायगा । फलतः व्यंजकत्व को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता ।

इसलिए आनन्दवर्धन ने कहा है - गुणवृत्ति, वाचकत्व आदि शब्द प्रकारों से व्यंजकत्व भिन्नतः ही विलक्षण है । यह एक अतिरिक्त शब्द व्यापार है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने व्यंजकत्व का स्वरूप स्पष्ट करके, विद्वानों के मध्य जो ध्वनि तत्व विषयक विवाद चला आ रहा था उसे प्रतिष्ठित कर दिया।[१]

इसके पश्चात् ध्वनि काव्य और उसके भेद प्रभेदों का विवेचन करते हुए उसके व्यापारों का विवेचन किया गया। अब गुण, अलंकार, संघटना(रीति), वृत्ति, दोष का विवेचन करेंगे। जो काव्यांग कहे गए हैं। जिनका अन्य आचार्यों ने काव्य के सन्दर्भ में विस्तार से विवेचन किया।

ध्वनि व्यवस्था में इनके उचित स्थान एवं मूल्य का आनन्दवर्धन की दृष्टि से निरूपण किया जाएगा।

गुण

आनन्दवर्धन ने भामह के ही समान तीन गुणों - माधुर्य, ओज और प्रसाद को स्वीकार किया है। किन्तु आनन्दवर्धन ने गुण के स्वरूप का विवेचन भिन्न रूप में किया है। आनन्दवर्धन ने गुणों को रसधर्म माना है। गुण के विषय में आनन्दवर्धन कहते हैं -

तमर्थमवलम्बन्तेऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। (ध्व० २।६)

जो उस रसादि रूप प्रधान व्यंग्यार्थ का अवलम्बन करते हैं वे गुण कहलाते हैं। और इसका उदाहरण देते हैं - 'द्रुतविलम्बित' अर्थात् जैसे द्रुतादि गुण आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं, किन्तु फिर भी शरीर से पृथक् रह कर केवल आत्मा द्रुतत्व नहीं दिखा पाती, वह शरीर में रह कर ही द्रुतादि प्रकाशित करने में समर्थ होती है। इसी प्रकार गुण, 'काव्यात्मा' रस के धर्म होते हुए भी शब्दार्थ-रूपी काव्यशरीर के आश्रित भी रहते हैं।[२]

१- तमिति विषयौ य आसीन्नीतिरिति काव्यविदितत्वः।
व्यनिनीषितः प्रकारः काव्यस्य व्यक्तः ओऽस्तु ।। ध्व०२।१२ पृ०१७०-१८८

२- काव्यस्यात्मा स एवार्थः। (ध्व०१।६) यहाँ स एवार्थ-रसव्यंग्य के लिए आया है।

३- द्रुतत्वादेर्यथा वैचित्र्यान्तरायतयेऽपि शरीरावयवेषु शरीरावयविनि द्रुतादीनाम् ध्व० पृ० ३८३

माधुर्य [1]

लक्षण : चित्त की आह्लादता का नाम 'माधुर्य' है।[2] माधुर्य गुण शृंगारादि काव्य का आश्रय लेकर प्रतिष्ठित होता है। शृंगार-हास्य आदि रसों की अपेक्षा आह्लादक तत्त्व अधिक होने के कारण मधुर होता है। क्योंकि माधुर्य गुण में चित्त द्रवित आह्लादित को प्राप्त करता है। अतः माधुर्य का प्रकर्ष विप्रलम्भ शृंगार में पाया जाता है।[3]

इसका उदाहरण आनन्दवर्धन ने गुण विवेचन के प्रसंग में नहीं दिया है। किन्तु रुय्यक के ग्रन्थ से इसका उदाहरण दिया जा सकता है।

यथा - स्वयं आनन्दवर्धन का 'आवेष्टनाग्नि'[4] इत्यादि पद्य इसका उदाहरण हो सकता है। विश्वनाथ का रसवदलंकार के संदर्भ में उद्धृत 'सन्ध्या मेघ'[5] इत्यादि पद्य विप्रलम्भशृंगार का उत्तम उदाहरण है।

ओजस्

लक्षण - काव्य में रहने वाले रौद्र आदि रस दीप्ति के कारण उद्दीप्त होते हैं। अतः शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले दीप्ति के व्यंजक ओजस् गुण होते हैं।[6]

काव्य की चित्त द्रुत्यवस्था और अवस्था में यह दीप्ति मानस तत्त्व विस्तार पैदा करता है उसे ही 'ओजो' गुण से युक्त कहा जाता है। और अवस्था में प्रत्येक शब्द का अर्थ सुस्पष्ट होता है और उसमें उलझाव नहीं

१- तत्प्रकाशनरसस्यास्यादिता काव्यस्य ये माधुर्यादयो गुणाः। म्व०२।७ की वृत्ति

२- माधुर्यमाह्लादकत्वात्चित्तस्य द्रुतिकारणम्॥ म्व० २।८

३- शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तस्मिन् काव्यादिषु माधुर्यं प्रतिष्ठितमिति॥
शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च मृदूनिह।
माधुर्यमाह्लादकत्वात्चित्तस्य द्रुतिकारणम्॥ म्व० २।८-९
गुणानां हि माधुर्यप्रसादाख्यानां करुणविप्रलम्भशृंगारविषय एव। म्व०२।६ की वृत्ति

४ - लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्स्नेरेऽधुना तव सुखेतरलायताक्षि।
क्षीरे यदेति न मनागपि तेन मन्ये सुव्यक्तमेव जलशीकरयं पयोधिः॥ ध्व. ६-२६१.

५- [illegible] म्व० पृ० २७९

६- [illegible] रौद्रादौ रसा दीप्त्या व्यञ्जके काव्यवर्त्मनि:।
तद्व्यक्तिहेतु तत्रार्थव्यवच्छेदकरं पदम्॥ म्व० २।६

होते ।[१]

उक्तयोजना में अयोजना के विपरीत अलंकार सौन्दर्य और दीप्ति स्थिर रहती है ।[२]

उक्तयोजना का उदाहरण - यथा कुछ गीत की यह पंक्ति -

पंचमुखनिःसृतपञ्चशराभिघात खंडितशिरःकुसुमस्य सुरीकलस्य ।
रत्नागताकलशतोयित-क्षीणतोयि रत्नंधिष्यति कथांसव देवि गीतम् ।।

यहां उक्तयोजना दीप्तिमत्ता एवं अलंकृतियां है जिससे चित्त में दीप्ति का अनुभव होने लगता है । अतः यहां ओजस् गुण है ।

अयोजना का उदाहरण-

जैसे - पिता द्रोण के शिरच्छेद के समाचार को सुनकर कुछ अश्वत्थामा की यह उक्ति -

यौ यः उच्चं शिरसि स्थपुटोच्चः पाञ्चालीनां सुतां
यो यः पार्थाजौत्रे शिखरिशिखया नर्मशूरां मतो वा ।
यो यज्ञस्तम्भोदारी वरसि मयि रणे अस्य यस्य प्रतीपः
प्रीणान्यस्यस्य तस्य स्वयमिह कृतान्तस्त्वान्तकोऽस्तु ।।

यहां अयोजना उपेक्षा स्फुट रूप से हो रहा है । क्योंकि अयोजना स्पष्ट शिथिल और अस्पष्टता है अतः यहां ओजस् गुण है ।

प्रसाद[३]

स्वरूप - उक्त और अर्थ की स्वच्छता को 'प्रसाद गुण' है ।[४] यह सभी रसों और सभी प्रकार की रचनाओं में समान रूप से रहता है । एवं मुख्य रूप से व्यंग्य की अपेक्षा से ही व्यवस्थित होता है ।[५]

१- उत्पत्तिकारणत्वेनाऽनियतत्वेनोक्तयोजनात्वम् । प्रकाशकारणत्वेन नियतत्वेनायोजनात्वम् ।ध्वन्यालोक २११
२- उत्पत्तिकारणत्वेन उक्तौ दीप्तौ अलंकारस्थितौ च सत्यां प्रधानभूतं कारणम् । ध्व० पृ० २०६
३-४(१) तमर्थमवलम्बन्ते ये तु तेऽङ्गिनमाश्रिताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। ध्व० २।१।
प्रसादस्तु व्यज्यमानस्य । स च सर्वरसाधारणो गुणः
सर्वरचनाधारणश्च व्यंग्यापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ।
(२) ध्व० पृ० ३२१ । ध्व० पृ० २।१

इसका उदाहरण - इत्यादि

'दो य: उत्तम खियाँ' है जिसमें अर्थोपाय में अर्थ का स्फुटता एवं स्वच्छता है।

निष्कर्ष -

आनन्दवर्धन के गुण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन गुण को प्रधान रूप से रसधर्म स्वीकार करते हैं और गौण रूप से शब्द अर्थ में धर्म मानते हैं। ये केवल गुणों की व्यवस्था करते हैं क्योंकि माधुर्यादि गुणों की व्यवस्था बिना रस के सम्भव नहीं है। अत: गुण रसधर्म भी हैं और शब्द अर्थ धर्म भी।

उपरोक्त में आनन्दवर्धन के अनुसार गुण का परिचय इस प्रकार है -

१- गुण रसधर्म के साथ गौण रूप से या परम्परया शब्दार्थ धर्म भी हैं।

२- गुण तीन हैं - माधुर्य, ओज् और प्रसाद।

३- प्रसाद गुण व्यापक है, माधुर्य तथा ओज् रसनीय, क्योंकि उनमें से माधुर्य केवल शृंगार तथा करुण में रहता है और ओज् रौद्र आदि शेष रसों में ही।

अलंकार

आनन्दवर्धन के समय तक चार मुख्य आचार्य - दण्डी, भामह, रुद्रट तथा वामन हो चुके थे। इन आचार्यों ने अलंकार सम्बन्धी विस्तृत विवेचन किया था। आनन्दवर्धन[१] ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत के प्रारम्भ में ही कह दिया कि काव्य के काव्यत्व का पूर्ववर्ती आचार्यों ने बहुधा व्याख्यान किया है अत: उसका पिष्ट-पेषण नहीं करेंगे, केवल उपयोगानुसार उसका अनुवचन मात्र करेंगे।

अत: आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित अलंकारों का ही उल्लेख किया है -

१- वक्रोक्ति	२- अनुप्रास
३- यमक	४- अनुकूल प्रहेलिका
५- अर्थान्तरन्यास	६- व्याजोक्ति

१- गुणाश्रयाश्च व्यवस्थितेरङ्गाश्रितत्वात्तदाश्रयौचित्यव्यवस्थाप्यत एव। ध्व० पृ०४२।

७- उत्प्रेक्षा
८- उपमा
९- भ्रान्ति
१०- तुल्ययोगिता
११- दीपक
१२- पर्यायोक्त
१३- निदर्शना
१४- व्यतिरेक
१५- सहोक्ति
१६- समासोक्ति
१७- अप्रस्तुतप्रशंसा
१८- अर्थान्तरन्यास
१९- विरोध
२०- विशेषोक्ति
२१- व्याघातोक्ति
२२- कारणमाला
२३- एकावली
२४- मीलित
२५- परिकर
२६- परिकरांकुर
२७- उदात्त
२८- अपह्नुति

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने प्रायः सभी अलंकारों का उल्लेख किया है, जिनमें व्यंग्यार्थ का स्पर्श रहता है ।

ध्वनि काव्य में अलंकार-योजना :- यह पहले ही कहा जा चुका है कि ध्वनि-काव्य के अन्तर्गत वे ही अलंकार आते हैं जिनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में चारुत्व की मात्रा अधिक हो । दूसरे शब्दों में जो स्वयं व्यंग्य अथवा व्यंग्यमय हैं। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो विशेष रूप से ध्वनि होते हैं । उदाहरणार्थ - मुक्तक काव्य, मुक्तक विशेषण तथा संसृष्टि । शृंगार और उसमें भी विप्रलम्भ शृंगार यदि प्रधान रस हो और उसमें यदि अनुप्रास-योजना की जाए तो उसके बहुत से भेद , शृंगार के अनेक भेदों से विशेष ध्वनि होंगे, क्योंकि अनुप्रास का लक्षण है -'एक अथवा वर्णों का विन्यास', यह न्यास किसी भी प्रकार के वर्णों का हो सकता है । यदि कठोर वर्णों का न्यास होगा तो शृंगार की अभिव्यक्ति मिलने के स्थान पर प्रतिरोध पैदा होगा । यदि शृंगार जैसी न होकर ओज की रस उसमें कोई भी अनुप्रास अपनाया जा सकता है । यमक[१]

१- शृंगारव्यापिनो यत्नादेकत्वानुकल्पनात् ।
लक्षणैव भूयिष्ठं नानुप्रासः प्रकाशते ।। ध्व० २।२४ और उसकी वृत्ति ।

पूर्वोक्त श्लोक में ,पुष्कर चित्र ,उपमालंकारोंका की योजना -शृंगार रस के अंगी रहने पर शक्ति भी उद्भूत नहीं होती । विप्रलम्भ शृंगार में और भी संयत होना चाहिए, उसमें तो यमक आदि का विनियोग कदापि नहीं होना चाहिए । व्यञ्जनाव्य में और विशेष रूप से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत यही अलंकार काव्य है जिसकी योजना करते समय कवि को रसमुग्धता से हटना न पड़े, उसके लिए अतिरिक्त प्रयत्न न करना पड़े । उदाहरणार्थ -

कपोले पत्राली करितटनिरोधेन मुखिता
निषीदतो भित्त्वाविरलमुरुकुम्भस्थलमुचः
मुहुः कण्डूयन्ते तरुवरति पार्श्वः सलभटीं
शिवो मन्युक्षोभस्तिमितनयनं पितुरीषे । न तु मनः ।।[1]

इस पद्य की योजना में कवि को अपनी रसमुग्धता से तिलमात्र भी हटना नहीं पड़ रहा है, अतः ये अलंकार, अलंकार हैं ।

यमक आदि में ऐसा नहीं होता । वहाँ कवि को रसमुग्धता से पृथक् होना ही पड़ता है । अन्य अलंकारों की स्थिति वैसी नहीं होती । अन्य अलंकार चारुत्वकारी एवं पुष्टि तथ्य प्रतीत होते हैं जब सामाजिक उस पर ध्यान देता है । कवि के लिए वे उतने ही सरल और स्वाभाविक होते हैं । जब प्रतिभाजन्य कवि का चित्त रसमग्नचित्त होता है तब ये अलंकार स्वतः आ जाते हैं । जैसे - कादम्बरी में यह स्थल जब चन्द्रापीड़ कादम्बरी को देखता है । और जैसे - जैनकुमार महाकाव्य में - मायादेवीसे राम के सिर को गोद कर देवी सीता विलाप करती हैं, तब यह चमत्कार देखते ही बनता है । यह ध्वनि भी है । क्योंकि रसाभिव्यक्ति में ही व्यस्त होते हैं और स्वयं आदि अलंकार काव्य में

१-अव्यवस्थितमूले शृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
तदुपरि प्रबन्धित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ।। ध्व० २।२५ वीं वृत्ति
२- रसादितात्पर्यवता यस्य वस्तुः प्रकाशितो भवेत् ।
असूक्ष्मव्यञ्जनैर्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ।। ध्व० २।२६ वीं वृत्ति

३- ध्वन्यालोक २।२२ ४- ध्व० पृ० २२१-२२२

के ही अंग हैं। यमक आदि अलंकार शब्दगत होते हैं, रस के लिए शब्द वाच्य अंश है और अर्थ अंगरूप। रूपक आदि अर्थालंकार हैं अतः ये अर्थ के साथ, रस के अंगरूप अर्थ बन सकते हैं तथा रस में अर्थ के ही समान अनिवार्य रूप से ही उपस्थित हो सकते हैं। उनका रस में उपस्थित न होना ही अस्वाभाविक है। यमक आदि की स्थिति शब्द के ही समान वाच्य है, क्योंकि ये शब्दगत हैं। जहां कहीं ये रस में सिद्धि भी देते हैं वहां अनुप्रास अथवा उनकी आवृत्ति से ही अधिक चमत्कार प्रतीत होता है, अतः ये ही प्रधान हो जाते हैं और रस को दबा देते हैं। ये तो केवल रसभाव के अंग बन सकते हैं, क्योंकि ये कवि के अतिरिक्त यत्न से निष्पन्न होते हैं, उसी यत्न से वहां खिले रस निष्पन्न होता है। रूपक आदि अलंकारवर्ग की अलंगरसता तभी अबाधित है जब व्यक्तिवाच्य में वहां कहीं और व्यंग्य हो रस की स्थिति विशेष के साथ समीक्षा करने की नहीं हो। यह समीक्षा निम्नलिखित है।-

१- रूपक आदि अलंकार अंग रसादि के साथ अंगरूप से ही उपनिबन्धित किए जायं। यथा- 'यद्यापांगं दृष्टं' इत्यादि में स्वभावोक्ति अलंकार है और वह वस्तुतः वस्तिवाच्यशृंगार में अंग बन रहा है।

२- ये अलंकार स्वयं प्रधान न बन जायं। यथा - 'यद्यापिबास' इत्यादि पद्य में यथासंख्य अलंकार ही प्रधान बन गया है, विप्रलम्भ रस अप्रधान। अर्थात् वहां रसादि के तात्पर्य होने पर भी, यथासंख्य अलंकार की ही प्राधान्येन विवक्षा है।

३- अंगरूप से उपनिबन्ध करते समय भी, उसका अवसर पर ही ग्रहण हो। यथा- उपमारहस्य के लिए उदाहृत 'उदात्तोत्पलिका' पद्य में उपमारहस्य को कवि ने तृतीयचरण में उपनिबन्धित किया, जो पानी ईप्सितविघ्नरूप के लिए मानसोपम बन गया और पद्माकरवासक के समान पानी घटना का सूचक भी।

४- और उसका अवसर पर त्याग भी हो। यथा- रहस्यव्यतिरेक के लिए उदाहृत 'एकस्मिन्' पद्य में पूरे पद्य में विवक्षित रहस्य को चतुर्थ चरण में व्यतिरेक के लिए छोड़ दिया है।

१- व्य० पृ० २२२ और आनन्दवर्धन की पृ० ४७६-४८०

२- व्य० २।१६ पृ० २२२ ३-४ व्य० पृ० २२८-२३१

५- अवसरोचित प्राकृत अलंकार का वहीं तक निर्वाह किया जाय, जहां तक उसकी आवश्यकता हो । आवश्यकता न होने पर उसका त्याग कर दिया जाय । यथा- 'कोवासु कोसइ' इत्यादि में कवि ने प्रथम चरण में जिस रूपक को 'वाहुलतिका' इस प्रकार उपस्थित किया है, उसे शेष तीन चरणों में भी रखने का प्रयत्न किया हो ऐसा नहीं ।

६- निर्वाह हो जाने पर अन्यभूषित रूप में ही रखना चाहिए । यथा- 'रयणाय-रणं चक्खिहरिणीपेरंतो' इत्यादि में कवि ने उपमालंकार को आरम्भ से तृतीय चरण तक निबाहा और अन्त में व्यतिरेक का भी पुट दे दिया, किन्तु ऐसे पर भी प्रधानता चित्रकल्प शृंगार की ही है ।

जो कवि अलंकारों का उपर्युक्त रीति से निबन्धन करते हैं, उनके द्वारा निबद्ध की रसाभिव्यक्ति होती है । यदि रसका अभिव्यंजन होता है तो रसवत् ही माना है । फिर भी बहुत से कवि हैं जो प्रबन्ध योजना में रस निबन्धन से पृथक होकर केवल अलंकार योजना में निपुण दिखाई देते हैं । ऐसे कवियों का आनन्दवर्धन सामाजिक नहीं करते । केवल इतना कहते हैं -'इन महात्माओं में दोष पूर्वक अपना ही दोष दिखलाना है ।अतः इस विद्या में अधिक विस्तार से जाना उचित नहीं' ।[५]

इन दोषों से बचने के लिए रूपक आदि अलंकारों की रसव्यंजना का जो सिद्धान्त अभी ऊपर कहा गया है उसके आधार पर जो अपने व्यभिचार्य का निर्वाह करता है , उसे महान् आत्म लाभ होता है ।[६]

इस प्रकार 'अलंकारों की रसानुकूल योजना' सम्बन्धी आनन्दवर्धन के विचारों को संक्षेप में ऊपर दिए गए विश्लेषण के रूप में देखा जा सकता है ।

१- ध्व० पृ० २१२ २- ध्व० पृ० २१३
३- ध्व० पृ० २१२ ४- ध्व० पृ० २१३-१४
५- ध्व० पृ० २१३-१४

संघटना का स्वरूपगत व्याख्याओं में इसका महत्व -

वामन की रीति को ही आनन्दवर्धन ने 'संघटना' संज्ञा दी है। किन्तु वामन से कुछ भिन्न रूप में उसे स्वीकार किया है। वामन ने 'रीति को' तीन प्रकार का माना है - वैदर्भी, गौडी और पांचाली। श्लेष और समास गुण वाली रचना 'गौडी' है। माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त रचना 'पांचाली', और सभी गुणों से युक्त रचना 'वैदर्भी' है। आनन्दवर्धन की भी 'संघटना' तीन प्रकार की है और वह गुणों पर आश्रित रहती हुई, रसों की व्यंजक है। वह अपने विन्यास और नियमन के लिए गुणों की अपेक्षा रखती है। यदि 'माधुर्य' गुण होगा तो संघटना मृदु और 'असमासा' या 'अल्पसमासा' होगी। इसके विपरीत यदि ओजस् गुण होगा तो 'दीर्घ' तथा 'दीर्घसमासा' संघटना होगी। 'प्रसाद' गुण में दोनों स्थितियां हो सकती हैं - मृदु और दीर्घ। इस प्रकार संघटना तीन प्रकार की होती है। -

१- असमासा
२- मध्यम समासा
३- दीर्घ समासा

आनन्दवर्धन ने संघटना और गुणों के सम्बन्ध पर तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं[१]:-

१- गुण और संघटना का ऐक्य(अभेद), और भेद मानने पर दो पक्ष संभव हैं-
२- गुणों के आश्रित संघटना, अथवा
३- संघटना के आश्रित गुण।

१- (१) असमासा समासेन मध्यमेन च मुचिता।
दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥ ध्व० ३।५
(२) गुणसमाश्रित्य त्रिरूपतां माधुर्यादिव्यञ्जकतां वा रसान्। ध्व० ३।६

२- अस्य च विकल्पस्य गुणानां संघटनाधारत्वेनैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वौ गतिः। गुणाश्रया संघटना, संघटनाश्रया वा गुणा इति।

संघटना की गौणि गुणों की आश्रितता का प्रश्न - यदि गुण और संघटना एक तत्व हैं अथवा संघटना के आश्रित गुण है, तब संघटना की गौणि गुणों की आश्रितता का प्रश्न उपस्थित होगा। क्योंकि गुण विभिन्न भिन्न व्यवस्थित हैं - यथा - माधुर्य, प्रसाद का प्रमुख कारण और विप्रलम्भ शृंगार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र, अद्भुत आदि हैं। किन्तु संघटना में यह भिन्न विभक्ति की बाधा है। यथा - शृंगार में दीर्घसमासा और रौद्र आदि में असमासा संघटना भी देखी जाती है। शृंगार में दीर्घसमासा, जैसे -

(१) मन्दाकिनीरेणुपिंजरितालका अथवा

(२) अपहरतमनक्षत्रपतिपतनपरिमुषितप्रसाधनेव रे।
करतलपिहितवदनमबले कमनीयं वं न तापयति ॥[१]

तथा रौद्र आदि में असमासा, जैसे -

'यौ वः श्रवं पिबति शत्रुशरीरमांसं पार्श्वद्वयीनां वसुधां' इत्यादि में। अतः गुण संघटना स्वरूप नहीं है और संघटना के आश्रित भी नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि संघटनाश्रित गुण नहीं है तो गुण किसके आश्रित है ?

इस पर कहते हैं - गुणों का रसाश्रयत्व और शब्दाश्रयत्व तो गुण विवेचन के प्रसंग में कहा ही जा चुका है।

गुणों के शब्दाश्रयत्व पर आक्षेप : यदि पूर्वपक्षी कहे कि - सब गुण शब्दाश्रित है तब वे संघटना स्वरूप या संघटनाश्रित भी हो जायेंगे। क्योंकि गुण जो रसाश्रित होते हैं, वे (गुण) असंघटित शब्दों के आश्रित नहीं हो सकते। क्योंकि गुण के जो व्यञ्जक हैं वे एक प्रकार विन्यासानुपात द्वारा संघटित हो कर ही अर्थविशेष का प्रतिपादन करते हैं।

इस पर सिद्धान्तपक्षी कहता है कि - ऐसा नहीं है क्योंकि रसादि का

१- ध्व० च० पृ० ३१२ २- ध्व० च० पृ० ३१२

३- ध्व० च० पृ० ३१२

अर्थात्मिक गुण और रस दोनों अन्वयव्यतिरेकसिद्ध हो चुका है। अथवा रस आदि को वाच्यधर्म्य मान लेने पर कोई विशेष संघटना गुणों का आश्रय नहीं होती। अतः अविशेष संघटना वाले शब्द ही अन्वयव्यतिरेक से समास और गुण के आश्रय हैं।

अविशेष संघटना वाले शब्दों के आश्रयत्व पर आक्षेप -

इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि माधुर्य के विषय में इस प्रकार कह सकते हैं किन्तु ओजस् का अविशेष संघटना वाले शब्दों का आश्रयत्व कैसे सम्भव होगा ?[1] क्योंकि अक्षमासा संघटना कभी भी ओजस् का आश्रय नहीं बन सकती।

इस पर सिद्धान्तपक्षी कहता है कि अक्षमासा संघटना भी ओजस् का आश्रय बनती है। उसका उदाहरण ओजो गुण के अभिव्यंजक के प्रसंग में - 'यौ वः शर्वं क्षिणोति' इत्यादि दिया जा चुका है। उसमें समासबहुल कोई अवान्तर भी नहीं आता। इस कारण गुणों के विशेष संघटना से रहित शब्दाश्रयत्व में कोई बाधा नहीं।

अतः गुण अन्वय हैं और संघटना अन्वय है। और संघटनाश्रित गुण नहीं है।[2] वरन् संघटना गुणाश्रित होती हुई रसों की व्यंजक है। वह अपने विन्यास और नियमन के लिए गुणों की अपेक्षा रखती है। इसी आधार पर संघटना तीन प्रकार की कही गई है -

१- अक्षमासा २- मध्यमक्षमासा ३- दीर्घसमासा

संघटना के नियामक :

संघटना के नियामक अनाद्य नहीं होते, वस्तुतः संघटना के नियामक वक्ता, वाच्य और विषय होते हैं, जैसा वक्ता होगा, जैसा वाच्यार्थ होगा तथा जैसा विषय होगा, वैसी ही संघटना भी होगी।

वक्ता -

वक्ता दो हो सकते हैं - (१) कवि (२) कविनिबद्धपात्र

१- द्र० व्य० पृ० ३२१-३२४

२- वाच्यस्यैवोत्कर्षापकर्षयोगित्वात् ।
विषयाश्रयाच्च तदुपलब्धेः ।। व्य० ३।६-७

यह दोनों प्रकार सरल और मिश्र दोनों ही प्रकार के होते हैं। इनमें वीरस कवि या उसके आश्रयभूत पात्र की वाचा में किसी भी प्रकार की संघटना हो सकती है। इनमें स्वतंत्रता है। किन्तु यहां उस सरल संघटना का सम्बन्ध है, यह रसोक्ति पर निर्भर है। रस नायकाश्रित तथा प्रतिनायकाश्रित होते हैं। नायक और पीठमर्द नायक स्वभाव से वीरोदात्त आदि (वीरललित और वीरप्रशान्त) हो सकता है। तदनुसार उनकी वाचा और वाक्यसंरचना भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है।

काव्य -

काव्य में प्रयुक्त वाक्यार्थ अनेक प्रकार का होता है - कहीं वह रस का अंग होता है, कहीं रसभाव से युक्त, कहीं अभिनेय होता है, कहीं अनभिनेय, कहीं वह उक्त प्रकृति के पात्रों के द्वारा प्रतिपादित होता है, कहीं उससे भिन्न मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों द्वारा।

जब कवि या कविनिबद्ध पात्र, रसभाव रहित होते हैं, तब संरचना में स्वतंत्रता रहती है। किन्तु जब कवि या कविनिबद्धपात्र रस भावादि से युक्त होंगे और व्यञ्जनात्मक सूक्ष्म रसव्यंग्य प्रधान होगा तब संघटना निश्चित ही असमासा और मध्यसमासा होगी। करुण और विप्रलम्भ शृंगार में असमासा संघटना होगी। क्योंकि दीर्घसमासा संघटना प्रसाद-रस-प्रकृति में व्यवधान उपस्थित करती है। विशेष रूप से नाट्य में। करुण और विप्रलम्भ शृंगार अत्यन्त सुकुमार होते हैं, अतः उनमें दीर्घ समास से होने वाली अर्थ की अवरुद्धता और उससे होने वाली विलम्ब से रसप्रतीति सहृदय को सह्य नहीं। यदि रौद्र रस हो और नायक वीरोद्धत हो मध्यसमासा संघटना प्रयुक्त होती है। और कहीं-कहीं दीर्घसमासा भी। किन्तु दीर्घसमासा संघटना केवल वहां प्रयुक्त होती है जहां रसोक्ति समास्य वस्तु दीर्घसमासा संघटना के बिना व्यक्त नहीं होती हो और जहां उससे रसप्रतीति में व्यवधान न होता हो।

सभी संघटनाओं में स्वं सभी रसों में समान रूप से प्रसाद गुण अवश्य व्याप्त रहना चाहिए। प्रसाद का अर्थ है - शब्द और अर्थ की स्वच्छता। इस प्रसाद गुण के अभाव

१- ध्व० ३।६ की वृत्ति २- द्रष्टव्य० पृ० ३२०-३२९

३- सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्याप्ती। स हि सर्वरसाधारणः सर्वसंघटना-साधारणश्चेत्युक्तम् - ध्व० पृ० ३२९। ४- ध्व० २।१० की वृत्ति पृ० २२३।

में, अलंकार संघटना भी करुण और विप्रलम्भ शृंगार को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होती । इसके विपरीत प्रसाद गुण के रहने पर मध्यमसमास संघटना भी करुण और विप्रलम्भ शृंगार को व्यक्त करने में समर्थ होती है । अतः प्रसाद गुण का सभी संघटनाओं में रहना आवश्यक है । रौद्र रस में भी वहां असमास संघटना होती है अथवा कठोर वर्णों का प्रयोग रहता है , वहां प्रसाद गुण से अभिप्रेत रस की अभिव्यक्ति की बात ही है । अतः अभिप्रेत रस की अभिव्यक्ति हो जाने पर असमत्व नहीं होता ।[1] गुण के अभाव में केवल संघटना रसाभिव्यक्ति में असमर्थ रहती है । अतः यह सिद्धान्त है कि रसव्यंजक संघटना -गुणाश्रित ही है ।

विषय :

विषयाश्रित औचित्य भी संघटना का नियामक तत्त्व है । यह काव्य प्रभेदों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है । काव्य के प्रभेद - संपूर्ण संस्कृत ,प्राकृत और अपभ्रंश में निबद्धत्व, छन्दानियम, विशेषक, कलाप, कुलक , पर्यायबन्ध,परिकथा खण्डकथा, सकलकथा,अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि के आधार पर भी संघटना का वर्गन किया जाता है । इनमें से प्रबन्ध की भांति मुक्तकों में भी कवि कौशल प्रकट करते हैं । जैसे - अलंकारों में । छन्दानियम आदि में पदों की रचना में विलक्षण अपेक्षित रहती है , अतः इनमें मध्यमसमासा और दीर्घसमासा दोनों ही रचनाएं हो सकती हैं । जहां ये संघटनाएं आकर प्रबन्ध में आते हैं वहां ये स्वयं अनुप्राण रहते हैं , अतः इनमें संघटना की योजना प्रबन्ध स्थिति के अनुरूप ही होनी चाहिए । पर्यायबन्ध में भी असमासा और मध्यमसमासा संघटना होनी चाहिए ,कभी कभी अर्थ के औचित्यानुसार दीर्घसमासा संघटना भी हो सकती है, किन्तु इसमें कथन और ग्राह्यता वृत्ति को छोड़ देना चाहिए । परिकथा में असंक्षिप्तता कोई भी संघटना हो सकती है ,क्योंकि इसमें इतिवृत्त मात्र रहता है, रसनिबन्धन का इसमें कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है । प्राकृत में निबद्ध खण्डकथा और सकलकथा में कुलक आदि के निबन्धन में बाहुल्य के कारण इनमें दीर्घसमासा संघटना होने पर कोई विरोध नहीं । इनमें इसी के अनुसार उचित वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए । सकलबन्ध में यदि रस में तात्पर्य हो, तब संघटना

१- व्य० ३।६ की वृत्ति ।

२- काव्य प्रभेदों का विवेचन आचार्य विश्वनाथ ने दर्पण में किया है । तथा द्र० दी० पु० ३२१-३२३ ।

की योजना रस के अनुरूप होनी चाहिए । अन्यथा संघटना में स्वतन्त्रता है । अभिनेयार्थ में अर्थ या रस के सिद्धान्त में अभिनिवेश करना चाहिए । यह था प्रधान काव्य का विवेचन हुआ ।

गद्य-प्रधान-काव्य - वाक्यावलि और कथा हैं । गद्य से इनका अन्तर स्पष्ट रूप से ऊपर है । इनमें संघटना विषयक तत्व पूर्वोल्लिखित पद्य-काव्य के समान ही माने गए हैं । अर्थात् समासयुक्त और वाक्यान्त औचित्य संघटना के सिद्धान्त हैं । जैसे पहले कथा या पुरुष है, कथा के रसभावरहित होने पर रसानुरूप संघटना होनी चाहिए । किन्तु वाक्यावलि और कथा इन दोनों में परस्पर विषय के कारण भिन्नता है । यदि विषय पर ध्यान न दिया जाय तो दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता । वाक्यावलि में मध्यसमासा और दीर्घसमासा संघटनाएं होती हैं । क्योंकि यह विशेष बन्ध के कारण विशेष छाया प्राप्त करता है और इसमें उत्कर्ष आता है । कथा में भी विशेष बन्ध प्रयुक्तावस्था में अवश्य रहता है किन्तु उसमें संघटना का बन्ध रस पर ही निर्भर होना चाहिए ।

अन्त में आनन्दवर्धन कहते हैं कि सर्वत्र (पद्य और गद्य में) औचित्य रचना होना वैसी है अतः पद्य और गद्य दोनों में संघटना रसानुरूप चुनी जाती है किन्तु, उसमें विषयवश औचित्यानुसार कुछ भेद हो जाता है । कथा वाक्यावलि इन प्रबन्धों में दीर्घसमासा रचना विप्रलम्भ शृंगार और करुण में होना नहीं चाहिए । इसी प्रकार नाटक आदि में असमासा संघटना होनी चाहिए । किन्तु रौद्र वीर आदि वर्णन में समास युक्त संघटना होनी चाहिए । अतः विषयानुसार संघटना की मात्रा घटती बढ़ती है । जैसे वाक्यावलि में अत्यन्त असमासा संघटना और नाटक में अति-दीर्घ समासा संघटना नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार संघटना के भेदों का अनुसरण करना चाहिए ।

ध्वनि में वृत्ति तत्व -

आनन्दवर्धन ने 'व्यवहार' को वृत्ति कहा है ।[2] वह दो प्रकार की होती है - १- उपनागरिका और २- अनुवृत्ति[3] ।

१- पृ० ध्व० ३।७-८ की वृत्ति ।

२- व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । ध्व० ३।३३ की वृत्ति ।

३- उपनागरिकाद्याः परिपोषोऽत्रानुवृत्तयः परा: ।
वृत्तयोऽपि प्रयुज्यन्ते यथौचित्यं रसाश्रयाणां ।। ध्व० ३।४७

ब्रम्बवृत्ति -

रस के अनुगुण से व्यवस्थित जो औचित्यवान् वाक्यादिक व्यवहार है वह उपनागरिका आदि वृत्तियां हैं। उद्भट ने तीन प्रकार की काव्य वृत्तियां मानी हैं - परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या। इन्हीं को आनन्दवर्धन ने ब्रम्बवृत्ति कहा। और उसे रसादि के औचित्यानुसार मानते हुए, काव्य का अनुसंधानात्मक माना।

वर्णवृत्ति -

भरत ने चार प्रकार की काव्य वृत्तियां मानी - भारती, कैशिकी, आरभटी और सात्वती। इन्हीं को आनन्दवर्धन ने वर्णवृत्ति कहा। तथा ब्रम्ब वृत्ति के समान वर्णवृत्ति के लिए भी कहा - रस के अनुगुण से, जो औचित्यवान् वाक्यादिक व्यवहार है वह कैशिकी आदि वृत्तियां हैं। इसमें काव्य में अनुप्रास होना मानी है।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है - उपनागरिका परिमृदु आदि तो हरीतुल्य हैं किन्तु रसादि इन दोनों(ब्रम्ब और वर्ण) वृत्तियों के औचित्यतुल्य हैं। अतः वृत्तियां रसादि के तात्पर्य से सम्बन्धित होकर काव्य और साहित्य में अनुप्रास होना ही चाहिये।

दोष -

यद्यपि काव्य में दोष का विवेचन करना व्यभिचार का अनौचित्य विषय नहीं था इसलिए उन्होंने दोष के महान् प्रभाव को उपस्थित न कर इसके उसी अंश का स्पर्श किया जिससे उनका प्रयोजन पूरा होता था। इन्हें व्याधि की संज्ञा कहीं भी अतः उन्होंने गुणों के ही समान दोषों के विषय में भी कहा कि जैसे गुणों की व्यवस्था रस पर निर्भर है, वैसे ही दोषों की दोषता और अदोषता की व्यवस्था भी रस पर ही निर्भर है। उदाहरित में कहते हैं -

दोष काव्य के शरीर में[2] रहते हैं, किन्तु उनसे हानि या ह्रास जिसका होता है वह शरीर नहीं है, वह रस है।

१- रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽौचित्यवान्।
औचित्यवान्यतया सर्वा वृत्तयो विदिताः स्थिताः ॥ ३।३३

२- ध्व० व्य० २।११

इसलिए ध्वनि प्रायः अनेक अंग्य-रसादि के बोध में सम्बाधित विरोधों का विवेचन, किसी परवर्ती आचार्य ने 'रसदोष' नाम से विवेचित किया है, सम्भवतः बड़े मन एवं संरम्भ के साथ यहां रखा है।

कारिका

रसों का विरोध अविरोध विचार -

अंग्यार्थ के त्रिविध भेदों - वस्तु, अलंकार और रसादि में रसादि अंग्य का विशेष महत्व है। उसी काव्य में विशेष चारुत्व आता है। अतः ध्वनिकार का मत है कि महाकवियों को अपने काव्यादर्श में उसे स्थिर विशेषतः उचित रखना चाहिए। अन्यथा काव्य में रसविरोधी तत्वों के आ जाने से नीरसत्व का प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इस स्थिति के साथ विरोधी तत्वों के प्रति विशेष भी अवधान रहने पर रस की स्थिति रसमय सम्भव न हो सकेगा। क्योंकि रस बहुत सूक्ष्मतम तत्व होता है थोड़ा भी विरोधी मसाला नहीं सह सकता। यह अवधान केवल मुक्तक काव्य में ही नहीं, प्रबन्ध काव्य में और भी अपेक्षित है।[1] क्योंकि वे रस की सुदृढ़धारें माने गए हैं।

अतः रस के स्थिर निम्नलिखित विरोधियों के परिहार की आवश्यकता है।[2]

१- विरोधी रस की सामग्री का उपादान
२- रस से सम्बद्ध नीरस वस्तु का अतिविस्तृत वर्णन
३- रस का अङ्गत्व में निबन्धन
४- रस का अङ्गत्व में प्रकाशन
५- पुनरुक्तः पुष्ट रस का पुनः पुनः दीपन
६- अनुचित अनौचित्य

१- विरोधी रस की सामग्री का उपादान - यदि प्रस्तुत रस से विरुद्ध रस के

१- ध्व० व्या० ३।१७ पृ० ३६०

२- ध्व० व्या० ३।१७-२६ पृ० ३६२

विभाव अनुभाव या संचारी भाव को स्थान दिया जाता है तो उससे प्रस्तुत रस अपनी विशालता तक नहीं पहुंच पाता। जैसे शान्त रस के अन्तर्गत, उसके उसके विभाव रूप से विकसित होने के बाद ही शृंगार आदि के विभाव का वर्णन कर दिया जाय तो शान्त रस अपनी विश्रान्ति तक नहीं पहुँच पायगा।

इसी प्रकार, विरोधी संचारी भावों से भी रस विरोध उत्पन्न है। जैसे - प्रिय के प्रति मानिनी के मूलभावना से दुखित होने पर, वैराग्य के उपदेश द्वारा अनुभव किया जाय।

विरोधी रस के अनुभाव के परिग्रह से भी रस विरोध उत्पन्न है। उदाहरणार्थ- मूलभावना होने पर क्रिया के प्रारम्भ न होने की स्थिति में क्रोध के आवेश से विषय नायक के रौद्र के अनुभावों का वर्णन करने पर।[1]

२- रस से सम्बद्ध अन्य वस्तु का अतिविस्तृत वर्णन -

जब कवि अन्य वस्तुओं का, रस के प्रसंग में अति विस्तृत वर्णन करने लगता है, तब भी मूल रस की अनुभूति में व्यवधान पड़ता है। जैसे - कोई कवि किसी नायक के विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन कर रहा हो, उस समय वसन आदि अलंकारों के विन्यास में रहीसता के कारण बड़ा-बड़ा कर चली आदि का वर्णन करने लगे।[2]

३- रस का अवसर में विलम्ब -

जब किसी स्थल पर कवि को रस का उपनिबन्धन करना आवश्यक हो किन्तु, उस स्थान पर रस का निबन्धन न किया जाय, तब भी रसानुभूति में विघ्न आता है। यथा - नायक नायिका के अत्यधिक स्पृहणीय सम्भोग के अवसर पर - शृंगार रस चरम परिपोष की अवस्था पर हो, और उन दोनों को परस्पर अनुराग भी विदित हो गया हो, तब भी उनके सम्भोग के उपाय की चिन्ता के उचित व्यवहार को छोड़कर, दूसरे व्यवहार का वर्णन करने लगना।[3]

४- रस का अवसर में प्रकाशन-

रस के अवसर में प्रकाशन से भी रसानुभूति में व्यवधान आता है।

१- द्र० व्य० पृ० ३६१ २- द्र० व्य० पृ० ३६२

३- द्र० व्य० पृ० ३६३

उदाहरणार्थ - मुख्य रस के अंगभूत जो रहे विविध वीरों के गाढ़ बाहे संग्राम में, विशुद्ध शृंगार के उपकरण के बिना और बिना उचित कारण के राम जैसे देवता का भी शृंगार क्या में पड़ जाने का वर्णन करने लगना । यहां केवल लगना कह देने से तात्पर्य नहीं हो जाता कि नायक जैसी आवश्यकता है वैसा कर रहा है । क्योंकि साहित्य दर्पण के अनुसार कवि की प्रवृत्ति का निरूपण मुख्यतः रसबन्ध में ही होना चाहिए । इतिवृत्त का वर्णन रसबन्ध का उपाय मात्र है । और यदि कवि इतिवृत्त मात्र के लिए साहित्य रचना करता है तो उसका प्रबन्ध अनुपादेय है । इसीलिए यह कहा गया है कि उस प्रतिभावान कवि आलोक को पाने वाला व्यक्ति वाक्यवाचक रस दीपशिखा के प्रति यत्नवान् होता है । यदि आलोक हो नहीं तो दीपक व्यर्थ है और यदि काव्य में रसव्यंग्य नहीं तो वो भी छिपा गया रस निरर्थक है ।[1]

इतिवृत्त का प्राधान्य होने पर रसभंग की यह त्रुटियां प्रायः कवियों से हो जाया करती हैं , इसलिए उन्हें दूर करने के लिए इस व्यभ्यालोक की रचना की गई है । यहां ध्वनिकार ने स्मरण दिलाया है कि केवल ध्वनि की स्थापना मात्र हेतु ही वह और प्रवृत्त नहीं हुए हैं । वरन् मुख्य प्रतिपाद्य यही है कि कविगण अपने काव्य में रसव्यंग्य का विशेष ध्यान रखें । इतिवृत्त के साथ रस के अंगांगिभाव के प्रति सचेत रहना चाहिए ।[2]

५- पुनः पुनः पुष्ट रस का पुनः पुनः दीपन-

रसभंग का एक कारण यह भी है कि जो रस पहले परिपुष्टावस्था को प्राप्त हो चुका है हो, उसका बार-बार उद्दीपन करना । ऐसा करने से उसमें कोई आकर्षण नहीं रहता उसकी स्थिति परिम्लान पुष्प के समान हो जाती है ।[3]

१- ध्व० प्र० पृ० ३६३ ।

२- अतश्च वैचित्र्यनाम्नणीप्राण्याम्ये,अंगाङ्गिभावरहितरसाद्यभिधन्येव कविभामेवं-विधानि स्खलितानि सह्यानि,इति रसाधिरूढव्यंग्यतात्पर्यमेवाश्रित्य प्रवृत्तमिदमस्माभिरारब्धः, न तु ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन ।ध्व० पृ०३६३-६४

३- उपयुक्तौ हि रसः परिम्लानपुष्पकल्पः कल्पते । ध्व० पृ० ३६४

६- वृत्तिगत अनौचित्य -

वृत्ति आदि व्यवहार का जो अनौचित्य है वह भी रसभंग का हेतु है। यथा - नायक के प्रति किसी नायिका सख के द्वारा उचित नीति के विरुद्ध स्वयं उपभोग की इच्छा प्रकट करना। अथवा नट की प्रवृत्ति कैशिकी आदि कुछ वृत्तियों का अथवा काव्यालंकार में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का अनौचित्य आदि शब्दार्थ में विद्यमान भी रसभंग का हेतु है।[१]

ये रसभंग के कतिपय हेतु हैं। रसभंग के ऐसे ही अन्य हेतुओं की कल्पना कवि स्वयं करें और उनका परिहार करें।

पुनः उक्त यह है कि कवि को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उसका मुख्य रस है। उसके विषय में इसे सजगता होनी चाहिए। क्योंकि वह प्रबन्ध का नायक होता है अतः कवि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

विरुद्ध रस और उनकी योजना -

अभी विरुद्ध रस विषयक विवेचन हुआ है। अतः इस पर विचार कर लेना उचित होगा कि किन किन रसों में परस्पर विरोध रहता है और उपयोग किस रूप में होना चाहिए -

विरुद्ध रस :

१- शृंगार और वीभत्स
२- वीर और भयानक
३- शान्त और रौद्र[२]
४- शान्त और शृंगार[३]

१- ध्व० पृ० २६३
२- एवमेवां रसविरोधिनामन्येषां चात्मना चिरा व्यवस्थानुप्रेक्षितव्यानां परिहारे अत्यन्तविरहाविशेषोपदेशत्वम्। ध्व० पृ० २६३
३- ध्व० पृ० २६३
४- ध्व० पृ० ३८८।

अविरुद्ध रस

१- वीर और शृंगार
२- शृंगार और शान्त
३- रौद्र और शृंगार
४- वीर और अद्भुत
५- वीर और रौद्र
६- रौद्र और करुण
७- शृंगार और अद्भुत [१]

रसभोजा

प्रायः विरुद्ध रसों के उपादानत्व में भी कोई दोष नहीं आता । यदि इन्हें निम्नलिखित दो रूपों में प्रस्तुत किया जाय ।

१- वाच्य रूप में
२- अंग रूप में

१- वाच्य रूप में विरुद्ध रस की योजना - वाच्य का अर्थ है रस आना या अभिव्यक्त । अर्थात् मुख्य रस का प्रतिपक्षी दो बार और विरुद्ध रस उससे अभिन्न दो बार , तब वाच्य रूप से व्यंजित होने पर भी विरोधी रस, मुख्य रस का पोषक बन जाता है । उदाहरणार्थ -

यथाकार्यं उद्भटकारः मम च मुखं, मुखोऽपि मुखस्य वा ।
योषाकारं मृगनाथ ये मुखमयी कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं मत्तस्यखलस्य चाटुनिपुणः स्वप्नेऽपि वा दुर्लभा
सेवः स्वामिमुखेक्षिकः सह सुखा मन्योऽवरं वाञ्छति ।।

यहां विपक्षस्थ शृंगार प्रधान रस है । इसमें विभाव और अनुभव है , यद्यपि उद्भटकार है, क्रोध स्थायी है और धृति चिन्ता से अभिन्न हुई, उसमें हर्ष प्रतीत

१- व्य० पृ० ३८०

२- विपक्षिते रसे उभयोपलिप्ते तु विरोधिनोऽपि
वाच्यावाक्यांगभावं वा प्राप्तस्यानुपलिप्तता।
व्य० ३।२०

हो रही है। औत्सुक्य स्मरण और दैन्य की चिन्ता में विद्युत्व प्रतीत हो रहे हैं। और यह चिन्ता भी अपने वर्ण में उक्त अनेक भावों को लेकर हुए सम्भोग-विप्रलम्भ रति में प्रतीत हो रही है। यहाँ अवश्य कहा जा सकता है कि अपने बंधु का वध, अपने शील और वैदुष्य की स्मृति और अपनी औत्सुक्यिचिन्ता का स्मरण ऐसे भाव हैं जो पार्थक्य विरोधी हैं। विषादचिन्ताक्रान्ता एक पार्थक्य ही है। इसके साथ कवि ने इन विरोधी भावों को भी प्रस्तुत किया है, किन्तु ये विरुद्ध प्रतीत नहीं हो रहे, क्योंकि कवि इन विरोधी भावों के आते ही अपने पुरस्कृत आने इन भावों का निरसन कहा गया है जो विप्रलम्भ रति के अंग हैं, और उसके पुष्ट करते हैं। फलतः विप्रलम्भ-रति के[1] आरम्भ से[2] अन्त तक अबाध धारा परिलक्षित हो रही है।

२- अंग रूप में विरुद्ध रस की योजना- अंगभाव का अर्थ है अनुगामभाव। जब एक रस मुख्य रूप से प्रतिष्ठित या होता है तब यदि विरुद्ध रस को उसके सहायक रूप में, अनुगामभाव से उपस्थित किया जाय तो कोई दोष नहीं होता।[1]

यह अंगभाव तीन प्रकार का होता है :-

१- स्वभावादि अंगभाव- कभी कभी स्वभावादि रूप से विरुद्ध रस दूसरे रस के प्रति अंग बनता है। उदाहरणार्थ -

प्रणिधिरविनयमुक्तया प्रथमं पुण्यकृतः प्रतीयमानम्।
मरणं च जन्तुजातं प्रकृतस्य परेण किं विरोधिनाम्॥

यहाँ करुण रस की स्थिति - प्रणिधि, अविनय, पुण्यकृत, अन्धकार, शारीरिक क्षोभित्व, आदि विप्रलम्भ शृंगार के स्वभावतः अंग बन रहे हैं। अतः करुण रस उतना पुष्ट नहीं है कि विप्रलम्भ का विरोध कर सके। अतः यहाँ कोई दोष नहीं है।

१- आनन्दवर्धन, पृ० ४६२ २- वही० पृ० ४६३

२- आरोपित अंग भाव- कभी कभी आरोपित रूप में विरुद्ध रस दूसरे रस का अंग बनता है। यथा -

पाण्डु पाण्डं वदनं मुखं वस्त्रं वसानां च वधूः।
आवेदयति नितान्तं शोणितरोधं वधि कृतघ्नः॥

यहां यद्यपि है विभीषिणी की व्याप्ति का, किन्तु यह इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उसके विशेषणों से करुण रस की भी प्रतीति होती है। इस प्रतीति में कारण है विशेषणों की अन्वयान्विता। और यहां विरुद्धत्व के अनुभावों पर करुण के अनुभावों का आरोप होता है, और मुख्य विरुद्धत्व ही रहता है। फलतः करुण उसका अंग बन जाता है।

३- परस्परविरुद्धों का किसी अन्य के प्रति अंगभाव-

इसमें अधिकारिक होने के कारण प्रधानभूत एक वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों अथवा भावों का अंगभाव प्राप्त होने पर भी दोष नहीं होता। यथा-

'शिरसो वसावसक्तः' इत्यादि में करुण रस भी है और शृंगार भी। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, किन्तु स्तुति से भिन्न जिस के प्रधानविशेष के प्रति दोनों ही स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष होकर अंग हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि - विरोध प्रधान रस के साथ ही रहता है, अप्रधान रस के साथ नहीं।

विशेष परिस्थिति :[2] विशेष परिस्थिति में विरोधी रस प्रधान परिपोष पाकर भी अप्रधान सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ - कुमारसंभव में पट पर गिरे पुरिकला के साथ गौरी को लेकर विलाप कर रही रति के वाक्यार्थ -'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादि में वाक्यार्थ शृंगार परक है किन्तु प्रकरण और वातावरण करुण है। इसलिए शृंगार अपनी पूरी क्षमता से व्यक्त होकर भी पुष्टि करुण रस की ही कर रहा है।

१- व्य० पृ० ३५६ २- व्यलो० २०६

अतः रस स्वभावतः विरोधी हो या अविरोधी, वह सभी विरोधी सिद्ध होता है क्योंकि वह मुख्य और मुख्य रूप से विवक्षित रस की अपेक्षा अधिक मात्रा में अनुभव में आता है।

यहाँ तक विरुद्ध रसों के उदाहरण दिए गए। अब अविरुद्ध रसों के उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः सस्मितं पश्यति।
स्नेहेन रणरंगेण च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥[2]

एक ओर प्रिया अश्रुपूर्ण नेत्र लिए खड़ी है और दूसरी ओर सस्मित देख रही है। ऐसी स्थिति में स्नेह और रणराग से भट का चित्त दोलायित हो रहा है।

यहाँ शृंगार और वीर दोनों का परिपोष समान मात्रा में हो रहा है। वह दोनों रस परस्पर अविरोधी भी हैं। यहाँ 'भट' शब्द से यह स्पष्ट हो रहा है कि वीर रस की प्रधानता है और वृत्त भी युद्ध का ही है। अतः यहाँ मुख्य रस वीर ही है, शृंगार उसके समान परिपोष पाकर भी उसका अंग बन कर ही स्थित है। इसका एक दूसरा उदाहरण -

कण्ठाश्लिष्टा क्वणितरशनं धत्ते जघनाभोगिनी।
दृष्ट्वा पार्श्वं पिहितहरिणा सैरिभायाः गुणेन।
तिष्ठन्नन्त्राभिवपतिरसौ रक्तरूक्षाक्षिरागस्तीक्ष्णैर्दंष्ट्राङ्कुरकवलितैः
क्रोडदेशैः करोति सहसाभिख्यं दृष्टा तु योऽन्यात् ॥[3]

यहाँ शृंगार और हास्य दो परस्पर अविरुद्ध रस हैं। कवि ने दोनों को समान पोषक सामग्री से पुष्ट किया है तथापि रति प्रधान हो जाती है। हास्य इतना अधिक परिपुष्ट नहीं हो पाता कि शृंगार की अपेक्षा अधिक चमत्कारी प्रतीत हो।

उपर्युक्त विवेचन का आधार था एक वाक्य अथवा कोई एक पद। इस संदर्भ में प्रबन्ध काव्य के आधार पर विवेचन भी उचित होगा।

१- अविरोधी विरोधी वा रसोऽपि रसान्तरे।
परिपोषं च नैस्वर्यात्तथा स्वादविरोधिता ॥ भ० ३।२४
२- भ० पृ० ३८४ की संस्कृत छाया। ३- भ० पृ० ३८३।

प्रबन्ध में रसयोजना

महाकाव्य अथवा नाटक आदि प्रबन्धों में नाना रसों का उपनिबन्धन होने पर भी, काव्य का उत्कर्ष पाने वाले कवि को केवल एक रस का अंगी रूपेण निबन्धन करना चाहिए, अन्य रसों का अंग रूपेण।[1] ऐसा करने से अंग रूप से विवक्षित रस अंगी रस को उपहत नहीं कर पाते। उस अंगी रस को प्रबन्ध में आरम्भ से अन्त तक बीच बीच में प्रकट होते रहना चाहिए। जैसे प्रबन्ध काव्य में ही आरम्भ से अन्त तक व्याप्त होकर विद्यमान रहने वाला कार्य - प्रयोजन के अतिरिक्त बीच-बीच में अन्य कार्य भी उपस्थित होते हैं किन्तु उनकी ओर बढ़ा व्यापक मुख्य कार्य के विरुद्ध नहीं ठहरता। जैसे प्रत्येक अवान्तर कार्य अन्त में मुख्य कार्य से जा मिलता है और फलतः मुख्य कार्य में ही रहती है।[2] इस प्रकार की योजना से सहृदय सामाजिकों को अधिक आस्वाद मिलता है।

जैसा अभी पहले कहा जा चुका है, उसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में भी विरोधी या अविरोधी रस का परिपोष न हो इसके लिए निम्नलिखित तथ्य अपेक्षित हैं -

१- रस यदि अविरोधी हो तो उसका परिपोष जहाँ मात्रा तक ही किया जाय उससे अधिक नहीं। क्योंकि उत्कर्ष का काव्य होने पर, उन दोनों का विरोध सम्भव नहीं।[3] जैसे -'स्मरो रोदिति स्त्रिया' इत्यादि में शृंगार की और की मात्रा तक ही परिपुष्ट किया गया है। इसी प्रकार 'कण्ठाश्लिष्टप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे' इत्यादि में शान्त को शृंगार की मात्रा तक।

२- रस यदि अविरोधी हो तो उसके संचारी भावों की मात्रा, मुख्य रस के संचारी भावों की मात्रा से अधिक नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा हो भी जाय तो वह बहुत देर तक न रहे, तथा शीघ्र ही प्रधान रस के संचारी भाव को उपस्थित करना चाहिए।[4]

१- भ्य० ३।२८ । २- भ्य० ३।२२ । ३- भ्य० ३।२३

४- संक्षेपतः इत्यादिके विषये प्रस्तावनालिखन प्रकृतौ । भ्य० पृ० ३८०

५- पूर्वोक्त कारिका भ्य० ३।२८ ६- भ्य० पृ० ३८२ । ७- भ्य० पृ० ३८३ ।

३- अंगभूत रस के परिपोष प्राप्त कर लेने पर भी, उसकी अंगता के प्रति सजग रहना चाहिए । अन्यथा ऐसा न हो कि वह अंगी ही बन जाए ।[१]

४- अंगभूत रस की मात्रा अंगी रस की अपेक्षा कम ही रहनी चाहिए ।[२] जैसे - यदि शान्त रस अंगी हो तो उसके साथ शृंगार की मात्रा उससे भी[३] कम रहनी चाहिए जिससे निर्वेद की दशा में परिणत या अनुराग से अभिभूत न कर दे । कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी होती है जिनमें रसान्तर स्वयं परिपोष पा लेते हैं । उनमें रसान्तर की मात्रा अधिक न हो और वे अंग ही के रूप में रहें - इस तथ्य के प्रति सजग रहना चाहिए ।

ऊपर जो रसों के अंगाङ्गिभाव की चर्चा हुई है ,उसमें 'रस-अंगता' के विषय में यह शंका हो सकती है कि - रस, रसत्व को प्राप्त तभी होता है जब वह अंगी रहता है । प्रमुखता रस का अनिवार्य धर्म है । अंग बनते ही रस, रस नहीं रह जाता। तब अंगभूत 'रस' को रस कैसे कहा जाय ?

रस की अंगता का अर्थ है - जिसे अंगभूत रस कहा जा रहा है वह रस नहीं, अपितु रस जैसी स्थिति तक पहुँचा हुआ स्थायी भाव है ।[४]

प्रबन्ध में विरोधी रस की योजना के उपाय-

यदि प्रमुख रस के साथ उसी प्रबन्ध में उसका विरोधी रस भी प्रस्तुत करना हो तो यह देखना चाहिए कि विरोध किस कारण है । यदि दोनों रसों का किसी एक आश्रय- नायक या एक ही पात्र में रहना विरोधजनक हो तो उन रसों को भिन्न भिन्न पात्रों में दिखला देना चाहिए । जैसे वीर और भयानक रस, एक ही व्यक्ति में नहीं दिखलाए जा सकते । इन्हें अलग -अलग व्यक्तियों में दिखलाया जा सकता है । वीर को नायक में और भयानक को प्रतिनायक में । इससे इनका विरोध समाप्त हो जाता है ।[५]

१- व्य० पृ० ३८४ २- व्यलो० ३८४

३- व्य० पृ० ३८५-३८७

४- विवक्षितान्यो वस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत् ।
यं विभिन्नाश्रयं कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ।।
व्य० ३।२५ तथा वृत्ति पृ० ३८७-३८८

२- वैरुप्यविरोधिहार[१] :

कभी-कभी विरुद्ध रसों का आश्रय एक ही व्यक्ति होता है, किन्तु विरोध निरन्तरता के कारण होता चिरकाल तक है। ऐसी स्थिति में कवि को चाहिए कि उन दोनों के बीच में, कोई ऐसा रस रख दे, जो दोनों रसों का अविरोधी हो[२]। नागानन्द में कवि ने शान्तरस के पश्चात् वत्स शृंगार रस को उपस्थित करना चाहा तो बीच में अद्भुत रस को उपस्थित कर दिया। अद्भुत के स्थायी भाव 'विस्मय' के आते ही वीभत्सजन्य जुगुप्सा तिरोहित हो गई और वत्स मलयवती का साक्षात्कार हुआ तब रति को उत्कर्ष का अवसर मिल गया।

वैरुप्य के निराकरण के कारण विरोध का परिहार केवल एक वाक्य में ही नहीं, एक वाक्य में भी हो जाया करता है[३]। उदाहरणार्थ -

'मुरेणुविस्मान् मदवारिवासनाद्' इत्यादि।

यहाँ पर परस्पर विरोधी शृंगार और वीभत्स रस के मध्य में वीर रस को आश्रय उपस्थित किया गया है। वीररस ऐसा रस है जो उक्त दोनों रसों का मित्र है[४]।

इस प्रकार कवि को विरुद्ध और अविरुद्ध रसों को अपने प्रबन्ध में अवधानपूर्वक निबन्धित करना चाहिए। किन्तु शृंगार रस में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि, यह रस उपजीव्य मधुर और सुखास्वाद्य है। और यह रति का परितोष रूप है, रति भाव का गुण भाव विरोधी से ही सम्बन्ध होता है। अतः शृंगार रस का थोड़ा सा भी विरोध असह्य हो जाता है[५]।

मुख्य कवि को इस रस की योजना में बहुत सावधान रहना चाहिए। क्योंकि इसमें प्रमाद होते ही कवि की अवज्ञा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

जो कवि रसादि के विरोध अविरोध की ठीक से समझ लेता है उसे काव्य-निबन्धन में कहीं भी कोई व्यामोह नहीं होता।

१- ध्व० ३।२६ तथा वृत्ति पृ० ४८८-४९६। २- ध्व० ३।२७

३- ध्व० पृ० ४९५ ४- ध्व० पृ० ४९६

५- ध्व० ३।२८ तथा वृत्ति पृ० ४९६-५०० ६- ध्व० ३।२९

७- विरोधैर्वं मुख्यशीलरसाविरोधिविरोधयोः।
विस्मयं कुरुते: कार्यं मुनेर्मुह्यति न क्वचित्॥ ध्व० ३।३२ ध्व० पृ० ५००

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक कवि की सीमाएँ

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ-साथ उसके सिद्धान्त के कार्यों का भी उल्लेख किया है। ये कार्य कवि और सहृदय दोनों को सिद्धान्त हैं। ध्वनि का आश्रय ले कर कवि अपनी काव्य-सृष्टि में विविध सुन्दर रचनाएँ कर सकता है और सहृदय विविध सरस काव्यार्थों का आस्वादन कर सकता है। ध्वनि के कवि काव्य-सृष्टि में वर्ण-विन्यास शैथिल्य अथवा पुनरुक्तिप्रदोषादि होते हैं, तथापि ध्वनि के किसी एक भेद के आश्रयण मात्र से वह सहृदय में उसी प्रकार चारुत्व का भासक है जिस प्रकार रसादि के वृत्तियों में।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि से प्राप्त होने वाले कार्यों का विस्तृत -विवेचन निम्न-लिखित प्रकार से किया है :-

काव्य-सृष्टि का प्रधानधि रचनाकार कवि ही होता है। वह जैसा चाहता है वह सृष्टि को वैसा ही बना लेता है।[1] वह स्वतंत्र होने के कारण अपनी सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि के जड़ पदार्थों को चेतनोचित और चेतन पदार्थों को जड़ोचित रूप में प्रस्तुत करता है।[2] लोक में शब्दों से वह अर्थ निकलता है जो शब्दानुशासन या अभिधानकोष में मुख्य होता है, किन्तु काव्य में शब्द से वह अर्थ प्रस्तुत होता है, जो कवि को विवक्षित होता है।[3] इसी कारण कवि के अभिप्रेत अर्थ को शब्द के वर्तु में ही ढूंढना पड़ता है। कुछ अर्थ ऐसे भी होते हैं, जो केवल कविप्रतिभा से प्रसूत होते हैं, अतः जिनका अस्तित्व केवल प्रातिभ होता है। इसीलिए कवि की काव्यसृष्टि में अनन्त एवं नवल की वैचित्र्य होता है।

१- अपारे काव्यसंसारे कविरेव: प्रजापति: ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।। ध्व० पृ० ४६८

२- यतोऽनन्तेऽभिधेयांशे लोकसीमातिवर्तिनि ।
अमतादृशमि सौन्दर्यं सुकवि: काव्ये स्वतन्त्रताम ।। वही

३- विवक्षातोऽन्यत्र यत्र काव्ये शब्दादयार्थ: । ध्व० पृ० ४६६

काव्यार्थ केवल शब्दानुशासनजन्य वाच्य-अर्थ तक सीमित नहीं होता, उसकी व्याप्ति व्यंग्यार्थ तक होती है। यही व्यंग्यार्थ ध्वनिकाव्य का प्राणभूत या रसस्वरूप तत्त्व है। व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर ध्वनिकाव्य होता है और अप्रधान होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य। इन दोनों ही स्थितियों में यह अर्थ कविकृतिमात्र के लिए अपरिहार्य है। क्योंकि अर्थालंकार-गणनातीत काव्यों के मूल्यांकन होने पर भी, कवि इन दोनों कोटियों (ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य) में रसस्वरूप- व्यंग्यार्थ का आस्वादन कराने वाले नित्य-मूल्य रचना कर सकता है।[1]

किन्तु इस व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य न तो प्रत्येक शब्द में होता है और न ही प्रत्येक कवि में। यह सामर्थ्य विरले शब्दों में ही रहता है, और यह व्यंग्यार्थ केवल महाकवियों की वाणी में ही स्फुरित होता है। यही महाकवियों की वाणी का अलंकार भी है।[2] अतः जिसे महाकवित्व शक्ति कहा जाता है, उसे पाकर ही वह उन विशिष्ट शब्दों को अन्यत्रदुर्लभ बनाते।[3] ऐसे शब्दों का सान्निवेश मधुर और मधुर रचना में ही होता है। अन्यथा व्यंग्यार्थ निरपेक्ष शब्द की रचना में कोई वैशिष्ट्य ही नहीं। क्योंकि वह सहृदयों के हृदय का आस्वादन नहीं कर पाती।[4]

इस प्रकार के शब्द और अर्थ की जो सूक्ष्मदृष्टि योजना हुआ करती है, उसी को कहा जाता है महाकवि का मुख्य कर्तृत्व। यही वह योजना है जिसमें प्रतीयमान अर्थ को पूर्ण परिपोष प्राप्त होता है।

१- (क) ध्वनेः गुणीभूतव्यंग्यस्याप्या प्रतीतिः।
अनेनानन्तरायातेन क्रमेणा प्रतिभागुणः॥ ध्व० ४।९
(ख) ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च दर्शनात्।
न काव्यार्थविरामोऽपि यदि स्यात् प्रतिभागुणः॥ ध्व० ४।६

२- मुख्या महाकविगिरामलंकृतिरूपादपि।
प्रतीयमानच्छायेव मुखा लावण्ययोषितः॥ ध्व० ३।३७

३- तदेवं शब्दशक्तिमूलत्वेनैव ध्वनेरस्य भेदाः।
मन्तव्याः प्रत्यभिज्ञेया वा इत्याहुः महाकवेः॥ वही ९।८

४- वही पृ० ९३७-९३८

५- काव्यार्थाः सरसाश्चैव न वक्रोक्तिमृते यतः।
स्वाभिधेयवशेनैव सर्वं मुख्यं महाकवेः॥ वही ३।२२

शब्दार्थ की यह योजना अत्यन्त कुशलतापूर्ण और गम्भीर व्युत्पत्ति की अपेक्षा रखती है। जो व्यक्ति प्रयत्न के बाद मिलती है। इसीलिए यह अतिविधिज्ञ कविश्वरा-वाणिनी संसार में अनेक कवि देखने को मिल रहे हैं किन्तु जिन्हें महाकवि कहा जा सके, ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि बहुत विरल हैं। ये कालिदास आदि पौरस्त्य या पाश्चात्य दो चार[1] अधिक नहीं।

इस तरह स्पष्ट है कि प्रतिभा सम्पन्न महाकवियों के काव्योत्कर्ष का मूल्य बिन्दु विविध व्यंग्यार्थ(वस्तु,अलंकार एवं रसादि) की है। इसीलिए जो कवि परिपक्व हो जाते हैं, जिनका कवि कर्म परम परिपाक को प्राप्त हो जाता है, उनमें 'ध्वनि'[2] के अतिरिक्त अन्य कोई काव्य प्रकार नहीं पाया जाता। यह विशिष्ट तथ्य है कि ध्वनि का बोध हो जाने पर कवि इस तरह निपुण योजना करने लगते हैं तो काव्य के परम प्रकर्ष को प्राप्त कर ही लेते हैं।[3] अतः ध्वनि से उन्हें बहुत लाभ होता है। यह कहा ही जा चुका है कि ध्वनि की संज्ञा इतनी अधिक है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती, फिर इस पर कहना ही क्या? यह उन्हें गुणीभूतव्यंग्य भी जा मिले।[4] इस कारण कवि में यदि प्रतिभा हो तो ध्वनि के ज्ञान से यह अत्यन्त विस्तार पा लेती है, क्योंकि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के असंख्य और अन्य प्रकारों में से किसी एक भी प्रकार का उन्हें बोध हो जाता है तो उसकी वाणी में नवत्व आ जाता है, भले ही बात पुरानी हो।[5] यहाँ तक कि चित्र अलंकार को काव्य का

१- ध्व० पृ० ६३।

२- (क) प्राच्यवारिणतीर्णां हु (तीर्णां) ध्वनिरेव काव्यम् - ध्व० पृ० १६६-१००

(ख) ध्वन्यंगे काव्यसर्वस्वापने त्रिजगति सतां वाङ्मयेषु ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्य-प्रकारः, अतः परिपाकप्राप्तां प्रतिभां रसादितात्पर्यविदुषो व्यापारं एव न तीर्णो यतो, पृ० ४६७।

३- उक्तप्रकारेण ध्वनिविषयनिपुणा हि सहृदयाः अनुवादेन विशेषेण काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति। यतो पृ० ४८६-८७

४- यतो ४।६ और ४।६

५- यतो ४।२

वाह्य अलंकार मात्र कह कर छोड़ दिया जाता है, वह भी व्यक्ति की कथा में आने की परंपरागत को प्राप्त हो जाता है।[1] अलंकार है व्यक्ति का।

उद्दीपन वस्तु, अलंकार एवं आलंबनविभाव में से भी रत्यादि भाव का विशेष महत्व है। क्योंकि कुशलियों के आकर्षण का मुख्य विषय 'रस' होता है।[2] जिस कवि का मूलभूत रसबोध अथवा गीरव होता है वही महान् अवश्य सिद्धहस्त है। इसलिए कवि को रस पहचानने अवश्य होना चाहिए। रत्यादि भाव को अपनाने से कवि को सफलता मिलती है। उसके अवसर, देश, और काल के मेल से निष्पन्न तैयार उपस्थित होने वाली सामग्री भी अधिक अच्छा सम्यक् प्रतीत होने लगती है।

रत्यादि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। रंग, राग, भावावेश, भावकृत्य आदि के मूलभूत विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का पूर्ण रूप से आश्रय लेने पर काव्य में विभिन्नता आ जाती है। इस कारण यदि उसका बुद्धिपूर्वक अनुसरण किया जाय तो अनन्त प्रकार की काव्य रचना हो सकती है।[3] रस के परिपक्व से कवि की पुरानी सामग्री में भी उसी प्रकार का नवत्व आ जाता है जिस प्रकार अनुराग के बुखार में। निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यक्ति के किसी एक भेद के संबंधी मात्र से ही काव्य में नवत्व आ जाता है। यथा -

> हेमन्ते निशिवारिरुत्थं च महान्तो गुरुः शिखराः।
> यद्वर्णिनवधिवारवल्लभां विभुर्न विभिन्नि॥

इस उक्ति के रहते हुए भी निम्नलिखित बाणभट्ट की उक्ति नवीन प्रतीत हो रही है -

---

१- इतीतिकरणं हेयां काव्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलंकारा परां छायां यान्ति व्यभिचारिणां यथा:॥ व्य० २।२८

२- वही पृ० ३५३

३- रसभावादिवैचित्र्यं यतोऽस्त्यानुरागिणी।
अन्तीयसी वस्तुनिष्ठेवाऽतोऽनिर्वाणिनी॥ वही० ४।६

४- मुख्यवाक्यार्थभूतत्वी रत्यादि यदु शिखरः।
शिखरीऽभ्यन्तरां प्राप्य: काव्यतामेति यद्यपि॥ वही ४।२

'वरणीधारणायासुता एवं डेव:'।[१]

क्योंकि यहां शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की योजना है। इसमें 'डेव' शब्द और 'वरणीधारण' शब्द से डेवनाग द्वारा उसके फणामण्डल पर पृथ्वी के टिके रहने की बात अभिव्यक्त हो रही है।

यही प्रकार -

दूती वरणवाडाणं दुमाणं: पुलोएमाणे:।
दूसन्ति सुहासन्तडिच्छायवलाणा:॥[२]

उपर्युक्त पद्य के टीके हुए भी काव्यादर्श के -

एवं वादिनी देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

इस पद्य में क्योंकि यहां देवर्षि नारद द्वारा शाप एवं विवाह-विषयक सन्देश को सुनकर उन्हीं के कारण मानसी पार्वती कमलदलगणना करने लगीं। इस प्रकार यहां वाच्य-अर्थ के सामर्थ्य से अवान्तर - उन्हीं उक्त अभिप्रायों-रूप अभिव्यक्त हो रहा है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति में क्रम के संलक्षित हो जाने के कारण यहां क्रमः उन्हीं असंलक्ष्यक्रमरूप अनुरणनोपमव्यंग्य ध्वनि है।

पूर्वोक्त पद्य में 'डेव' पद का प्रयोग किया गया है किन्तु काव्यादर्श ने उसी तथ्य को व्यंग्यार्थ द्वारा प्रतिपादित किया है। इसी कारण काव्यादर्श की उक्ति में वैशिष्ट्य है।

इसी प्रकार -

हुरन्तिअले पहुले उअहा पाहुणेन्ति रणणीआ:।[३]
रामणवाणुच्चलिआ: उवेव्व उअहारतलिणाणि:॥

इस पद्य के टीके हुए भी निम्नलिखित पद्य में अधिक चारुत्व और नवीनता है।

उन्नमति हुरन्तिमाडौ न शापवशेति युवतिकटकमुद्वान्।
अपि मकरालयानुद्वान्कपरतलवलनलालनैकरसः॥[४]

१- अभ० पृ० ४२८ २- वही
३- वही ४- वही
५- वही

यह कवि प्रौढोक्ति से निष्पन्न है।

इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट है कि अंग्य-अर्थ का संकेत होते ही पुरानी शब्दों में भी नवीनता आ जाती है और वह शब्दों अनुभाव के हुये के अभाव स्वभाव की प्रतीति होती है।

केवल अंग्यभेदों के आश्रयण से नहीं, अपितु वर्ण,पद, वाक्य,प्रबन्ध रूप अंगक-भेदों के आश्रयण से भी काव्यार्थों में नवीनता आ जाती है। इस प्रकार अंग्य -अंगकभाव के अनन्त प्रकार सम्भव होने पर भी कवि को रसादि रूप अर्थ के लिए आश्रयण रखना चाहिए। क्योंकि रस,भाव,रसाभास,भावाभास, रूप अंग्य में और वर्ण,पद,वाक्य, रचना और प्रबन्ध रूप अंगकों में अवधानयुक्त चित्त वाले कवि का पूरा काव्य अपूर्व (नवीन) बन जाता है। यथा- रामायण महाभारत आदि।

काव्यों में अंगक का बार-बार वर्णन होने पर भी रसादि के कारण उसमें नित्य नवीन चारुत्व -प्रतीति होती है।

प्रबन्ध काव्य में रसादि अंग्य का विशेष महत्व है क्योंकि एक अंगिभूत रस का आश्रय लेकर काव्य रचना करने पर एक ओर तो काव्यार्थों का ढाल होता है और दूसरी ओर प्रबन्ध अधिक शोभायुक्त हो जाता है। स्वतंत्र अलंकार के अभाव में भी , रस के अनुरूप अर्थ-विशेष का उपनिबन्धन करने पर काव्य सारुत्वातिशय युक्त हो जाता है। यथा -

महीधरेषि योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
शैलमुद्रे वृष्टौ तो विन्ध्यो मत्सरवत्सलौ॥

अर्थात् योगियों में श्रेष्ठ, महात्मा अगस्त्य मुनि की कथा हो, जिन्होंने एक मुद्रू में मत्सर और वत्सल को देखा।

१- व्य० १।५, २- वही पृष्ठ ५२६
३- वही पृ० ५२६ ४- वही पृ० ५३१
५- वही पृ० ५३१

यहां अनुप्रास है। एक ही पुलू में दिव्य मन्दार और दिव्य कल्पद्रु का वर्णन एक के अनुरूप घटता है। और एक ही पुलू में कुछ बैठता होने की बात भी उसके अधिक हो रही है, जो वस्तुतः आरोप की बात है। पुलू सम्बन्धी यह घटना अनुरूप एक के लिए और भी अधिक सौष्ठव है। इस पद में कोई अलंकार नहीं है, तथापि रसाभिव्यक्ति होने के कारण इसमें चारुत्व आ गया है। यही बात विद्या एवं सौन्दर्यविधि के इस में कही जाय तो इसमें कोई चमत्कार न होगा। इसी प्रकार अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं।[1]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्रतिभानुगुण सम्बन्ध कवि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का वाच्य और अवान्तर वाच्य रचना कर सकता है।

इसके अतिरिक्त व्यंग्य की अपेक्षा न रखने वाले वाच्य का भी वाक्यत्व होता है। क्योंकि यह वैदर्भी और अवैदर्भी का स्वभाव है कि उसमें अवस्था, देश, काल और स्वरूप के भेद से अन्यथा आ जाती है।[2]

१- अवस्थाभेद से वैदर्भीपना -

(क) इसका एक उत्तम उदाहरण है - कुमारसम्भव में पार्वती वर्णन। कालिदास ने पहले पूर्व सर्ग में उनका वर्णन किया, फिर तृतीय सर्ग में तत्पश्चात् अष्टम सर्ग में। इन पूर्व सर्ग में उनका वर्णन पहले हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस ऐसी कोई बात शेष नहीं रह गई है जिसके लिए पार्वती का पुनः वर्णन किया जाए, किन्तु तृतीय-सर्ग में कवि उन पुनः उनका वर्णन करता है और कल्पवृक्षों से अलंकृत वेष में उन्हें कामाग्नि के जगाने वाला है उस की वर्णन नवीन ही लगता है, उसे पढ़ने से चित्त अघाता नहीं। अष्टम सर्ग में विवाह के समय वह उन्हें पुनः कामाग्नि के जगाने विधि करता है उस की वर्णन अवैसा नवीन ही लगता है। यद्यपि ये सब चित्रण एक ही काव्य में हुआ है, किन्तु पुनरुक्त से नहीं लगते।

वैसे वस्तु भिन्न अवस्था में भिन्न प्रतीत होती ही है। जैसे एक नारी वर्ष कुमारी रहती है उस समय वो स्त्रियां रहती है वह उसमें कामभाव का आविर्भाव

१- ध्व० पृ० ४३१ २- ध्व० पृ० ४३८-४३९

होने की वजह वाली हैं। उस समय उसकी अनेक दर्शों में विशिष्ट क्रिया का समावेश है। उसमें भी कुछ विशेष होती हैं, कुछ अविशेष। उसकी स्थिति को और कार्यान्वित क्रिया जाए तो उसमें पुनरुक्तता स्थापित नहीं आती। इसीलिए विश्वनाथगङ्गोदा में कहा है -

न च तेषां यतोऽर्थानां च ते पुनरुक्ता अपि पुनरुक्ता:।
ये विशेषा: शिवाणमर्थां वा कुलिवाणीनाम् ॥[1]

अर्थात् शिवार्थों के विशेष और कुलि-वाणी के अर्थ की अपि(अनार्थ) नहीं होती और न ही वे पुनरुक्त होते हैं।

(ङ) अलङ्कारों का दूसरा प्रकार उस समय होता है, जब अचेतन वस्तु का वर्णन चेतन रूप में किया जाता है। जैसे हिमालय या गंगा का वर्णन, उसका वर्णन चेतनरूप में उपस्थित करने पर, उसमें कुछ और ही वैशिष्ट्य आ जाता है। उसका प्रमाण है - कुमारसम्भव में हिमालय का वर्णन। कवि ने हिमालय के वर्णन से ही काव्य का प्रारम्भ किया, वहां उसने स्थावर रूप का वर्णन किया। पुन: अगले सर्ग में अष्टमूर्तिधारक श्री औमापितृरूप-धारण के प्रसंग में उसका वर्णन किया, वहीं एक अधिराज या कुटुम्बी श्रीमान् के रूप में उसका वर्णन करते हुए, शिवाचार्य ने यह अलङ्कारों का स्वागत कर रखा है, उनके अनेक चित्र और विलक्षण वर्णन कर रखा है। यहां यह अर्थ ही मालूम पड़ता है।

ऐसे वर्णन अलङ्कारों के काव्य में बहुत: मिलते हैं। क्योंकि यह अलङ्कारों का प्रसिद्ध मार्ग है। आनन्दवर्धन ने विश्वनाथगङ्गोदा में यह तथ्य कविवर्तों के मार्गदर्शन के लिए विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है।[2]

जिस प्रकार अचेतन को चेतन रूप में प्रस्तुत करने से नवीनता आती है उसी प्रकार उसकी आरम्भ आदि अवस्थाओं के भेद से भी उसमें नवीनता आ जाती है।

१- न च ते शाण यतश्च यतोऽर्थी न च ते ते दीक्षन्ति तत्र ये पुनरुक्ता।
ये विज्ञता शिवार्थं अत्या वा कुलवाणीगणम् ॥ ध्वन्यु० ५३६(कीर्तिसंस्कृतशाया
२- वही पृ० ५३६ ३- वही ४- वही पृ० ५३६-५४०

इन अवस्थाओं का इस रूप में वर्णन किया जाए तो अनन्त काव्यार्थ हो सकते हैं। उदाहरणार्थ -

संध्यायां विरहेषु वैः कमलिनीराजन्यते मुग्धा-
मन्यः कोऽपि कपोलकन्दलदरापाण्डुरो विप्रः।
ते चन्द्रस्फटिकोपरागसुलभन्यांशुरत्नाकिनो
दिवसाः कलहायन्ते विलिनीकन्दाभिलाषप्रभवः॥[१]

किसी कवि ने कमल से उत्पन्न सौन्दर्यता का स्वर संध्या[२] मुख के मध्य विप्र उत्पन्न रहा था, अब वही वारणवधू के कोमल कपोलांदुर इतने अधिक सुन्दर लग रहे हैं कि उनसे स्पर्धा करने वाली कमलिनी के मृणालरूप कलाकारों में खिल गए हैं।

इस प्रकार यहां वारणवधू की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। और अचेतन कमलिनी के मृणालरूप को चेतनरूप में प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार अन्य वस्तुओं के अन्य उदाहरण भी खोजे या बनाये[२] हैं। कविता की सजीवता के लिए इस विधा का भी अनुकरण करना चाहिए।

(२) देश भेद से सजीवता -

अचेतनों में देशभेद से भी नवत्व और भावत्व आ जाता है। अचेतनों में एक ही वायु का वर्णन एक-एक दिशा और एक-एक देश को लेकर किया जाए तो अनेक नवीन उक्तियां प्रस्तुत हो सकती हैं। कमल, पुष्पोद्यान आदि की भी यही स्थिति है। इसी प्रकार चेतन पदार्थ भी देशभेद से नवीन और भावपूर्ण प्रकार के प्रतीत होते हैं। मनुष्य ग्रामवासी के रूप में जैसा रहता है, नगरवासी के रूप में वैसा नहीं। ग्राम्यवधू, आरण्य पशु से सर्वथा भिन्न होता है। इसी प्रकार नगर पत्नी, नगर से सर्वथा भिन्न होता है। मनुष्य की दीर्घता, देश देश के विभिन्न मनुष्य विधाएं देती हैं, जिनमें विशेष रूप से।

१- अभ० पु० सा० २- कवि पु० सा०

इनके व्यवहार एवं आधार (कार्य करने के ढंग) भिन्न-भिन्न होते हैं । इन सब विशिष्टताओं का पार पाना असम्भव है । तथापि कुन्तिक अपनी प्रतिभा के अनुसार इन सब को उपस्थित करते ही हैं ।

(३) काल्पेद से नवीनता -

जीवन पदार्थ काल्पेद से नवीन प्रतीत होते हैं । ऋतुओं के सब परिवर्तन के साथ विहारं, आकाश, पहाड़ में भी परिवर्तन एवं नवीनता आती है, यह प्रसिद्ध ही है ।

चेतन पदार्थ भी ऋतुओं के परिवर्तन के साथ उसी आकाश, उन्हीं विहारों और पहाड़ों में किसी चेतना में औत्सुक्य का अनुभव करते हैं ।

(४) स्वाभाव्य से नवीनता -

संसार की समस्त वस्तुओं का भी अपना स्वरूप है[1] वह स्वयं ही प्रतिक्षण भिन्नता लिए रहता है । स्वभावोक्ति पर आरूढ़ कवि यदि इन विभिन्न विशेषताओं का चित्रण अपनी उक्ति में कर दे तो यही गणनातीत काव्यार्थ सिद्ध हो जाता है ।

इस पर कोई कहे कि सभी वस्तुएं सामान्य रूप से काव्यभाव को प्राप्त होती हैं , न कि विशेष रूप से । कविगण भी स्वयं अनुभूत सुखादि और उनके कारणों के स्वरूप को अन्यत्र आरोपित करते हुए भी उनका सामान्य रूप से उपनिबन्धन करते हैं । न कि योगियों की भाँति अतीत अनागत एवं वर्तमान के स्वरूप का प्रत्यक्ष करते हैं । इस प्रकार सामान्य रूप से ही वस्तु का निबन्धन करने के कारण सभी कुछ प्राचीन कवियों ने कह दिया है । उनका पुनः प्रतिपादन पिष्टपेषण मात्र है ।

इस पर विद्वान्वक्ता का उत्तर है कि यदि पूर्ववादी यह मानता है कि काव्य में सामान्य रूप से ही सभी वस्तुओं का प्रतिपादन होने के कारण उसमें कोई नवत्व नहीं है । तब तो महाकवियों द्वारा कहे गए काव्यार्थों के अतिरिक्त अन्य काव्यार्थ में कोई भिन्नता ही नहीं होगी । और वाल्मीकि की छोड़ कर अन्य

१- स्व० पृ० छाः २- वही प० छाः
२- वही को दार्शनिक स्वाभाव्य नाम से पुकारते हैं । स्वाभाव्यं दृष्टिस्वरूप । देख अगले पृष्ठ पर देखिए ।

किसी को कवि संज्ञा से अभिहित भी नहीं किया जा सकेगा। आदि कवि तथा सामान्यतया सभी वस्तुओं को प्रतिष्ठित किया जा चुका है।

किन्तु इतीतिह अभिनवेभिक्षु से सामान्य वस्तु का प्रतिपादन करना कोई दोष नहीं है। उचित वाच्य विशेष के प्रतिपादन करने वाले वचन को कहते हैं। वाचक के वैभिक्षु से ही वाच्य में वैभिक्षु आता है। क्योंकि वाचक का वाच्य के साथ या वाचक का वाच्य अर्थ के साथ अनेक रहता है। इसलिए अभिनवेभिक्षुआदी को वाच्य में भी वैभिक्षु चिह्न होकर स्वीकार करना ही पड़ता है।[१]

(२) अभिनवेभिक्षु से मतीक्षा-

एक ही वस्तुतत्व यदि भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा जाए तो वह नई सुना सी लगता है। जैसे उपमा के माध्यम से कही गई बात रूपक के माध्यम से कही जाती है तो उसमें भी वैभिक्षु आ जाता है। यही बात यदि श्लेष या उपमारूपक के द्वारा कही जाए तो उसमें भी चारुत्व आ जाता है। यह चमत्कार मणिति वैभिक्षु का ही है। यदि इस पर ध्यान रख कर काव्य-रचना की जाए तो कविकृतियां एक भीव सैकड़ों आकर्षों वाले एक विशाल मुक्त का रूप ले लेता है।[२]

(३) वाचा वैभिक्षु से मतीक्षा-

मणिति वैभिक्षु केवल अलंकार पर ही निर्भर नहीं रहता। उसका एक आधार वाचा भी है। जो बात संस्कृत में कही गई है वही वाचान्तर में कही जाती है तो उसमें कुछ और ही-वैभिक्षु वैभिक्षु आ जाता है। उदाहरणार्थ-

मलय सरि मणन्तस्स वन्दणि काठो वणस्स।
तोड़ण ण देइ वणदण गोवरी गोवि मणसो॥

इसमें प्रयुक्त 'मह मह'- शब्द की एक संस्कृत छाया होगी मम मम अर्थात् मेरा मेरा और दूसरी होगी 'मधुप' अर्थात् श्रीकृष्ण।

पिछले पृष्ठ का शेष -मनसाधारणं ज्ञानं शेषं स्वसंज्ञानादि मनसंस्कारणार्थि,

शेषं वाच: स्वार्थसाध्यम्, तस्य स्वार्थि स्वार्थि ज्ञानाभ्यास।
साहित्यदर्पणवृत्ति- पृ० २४८

१- भ्व० पृ० ४१-४२। २-वही पृ० ४३-४४ ३- वही पृ० ४४।

इस गाथा का एक अर्थ यह होगा कि 'मेरा मेरा करते हुए व्यक्ति मरण को पहुंच जाता है उस की इसे खोज नहीं मिलती और यह एक बार भी भगवान् का ध्यान नहीं करता'। दूसरा अर्थ यह भी किया गया है कि 'दिन-रात 'मनुष्य' अर्थात् वीतघृण्य नहीं हुआ हैं उस को भगवान् शासन पहीं भी नहीं देते'। मनुष्य-पद विशेषणपद है, क्योंकि जो व्यक्ति मनुष्य होता हुआ भी वीतघृण्य अवश्य होते हैं। किन्तु यह विशेष संभूत है नहीं प्रतीत होता। यह भगवान् बुद्ध विभुदेशी अवश्य है ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार अवत्था,वैद्य, काल , स्वाख्याख्य, इत्यादिविशिष्ट आदि से जो गवीयसा आदी है उसका मुख्य हेतु अनका स्वाख्यत्व है क्योंकि किसी भी शास्त्रार्थ में उस उस पारतन्त्र्य नहीं आता, वह उस का स्वाभिन्न नहीं होता। इसीलिए भवाख्याख्य आदि में जहां उन उन शास्त्रार्थों को अनेक अनेक गवीयसार्थों में विस्तार हुआ पाते हैं , वहां उसीं स्वतन्त्रों स्वता है, वही है उनमें भावना आती है। स्वतन्त्रता है यह भी ज्ञान है कि वर्त्म-विषय में अवत्यता दीख नहीं आता। अवत्यादि भेद से एक ही वस्तु के यह सब अनेक वर्त्म होने पर भी, एक की अन्यथा के कारण उनमें परस्पर अन्यथा की प्रतीति होती रहती है।

इस प्रकार जितना भी शास्त्रार्थों के विषय में विवरण किया जाए,फिर भी उसका अन्त नहीं मिलता। क्योंकि शास्त्रार्थों का अनीय कोश है। एक कवि ही नहीं ,अनेक वाग्वरेण्य भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर अपने शास्त्रार्थों को अभिव्याप्त देना चाहें और उसे सम्पूर्ण कोश को समाप्त कर देना चाहें तो नहीं कर सकते, ठीक इसी प्रकार जैसे अनेक ब्रह्माण्ड-पिण्ड सिन्धुर की प्रकृति के विराट कोश के अपने वस्तुतत्त्व को व्याप्तुं नहीं कर सकते। देवी-सिद्धि-होने

१- यह व्याख्या शास्त्रार्थ अभिसमुच्य से की है।तत्पर्य दृष्टो० पृ० ७३

२- अवत्यादिविशिष्टानां शास्त्रार्थानां विशिष्यताम् ।
तुल्यैव पुरुषस्यैते अतु यावि स्वाभ्यात् ।। श्व० ४।८

३- वाग्वरेणि अनन्तानां अनीयसि यत्तः ।
विषया या तत्र वैवि प्रकृतिर्वीतयाभिव ।। श्व० ४।९०

उपालम्भ

कवियों पर बहुधा यह प्रहार किया जाता है कि उनके काव्य में कोई वस्तुवैचित्र्य या नवीनता नहीं है। किन्तु कवि की ऐसी बातों से विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि कवि स्वयं का वर्णन है पर काव्य रचना करता है, उसके काव्य में विषय नवीनता रहती है। यह वस्तुवैचित्र्य या नवीनता वस्तु में नहीं, वर्णनशैली और उक्ति में ही रहती है। उसका कारण यह है कि कवि जिन वस्तुओं को अपने काव्य-विषय का उपादान बनाता है वे प्रायः लौकिक होती हैं। उन्हीं लौकिक वस्तुओं को शैली में स्वयं के माध्यम से कवि नवीनता लाने का प्रयत्न करता है या उसमें कोई चमत्कार प्रकट करता है। अतः यह निश्चित है कि यदि कवि लोकवृत्त और वस्तुविन्यास का चित्रण होना उसकी कविता का स्थूलांश अन्य कवियों की रचनाओं से मिलता-जुलता रहेगा। यही है कविकृतिसाधर्म्य।

उपालम्भ निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं :-

१- पुनरुक्तवत्
२- वाक्यार्थावृत्ति
३- तुल्ययोगिता

(१) पुनरुक्तवत् -

पुनरुक्तवत् उपालम्भ[1] उस होता है, जहाँ कोई वस्तुवैचित्र्य या नवीनता नहीं रहती। अतः सादृश्यता और विषयवस्तु की भौतिकता के अभाव के कारण पुनरुक्त-उपालम्भ कवि को चाहिए कि वह इस प्रकार के उपालम्भ का सर्वथा परित्याग करता चले।

१- २ उपालम्भस्तु गर्हायोग्येन वस्तुनेन तुल्यस्य।
तेनैकस्यार्थस्य तु गर्हणमथ विपरीतस्य॥

उपालम्भो द्विप्रकारोऽपि,
तत्र पुनः पुनरुक्तवत्, वाक्यार्थावृत्ति तुल्ययोगिता च परीक्षितव्यः
अ० ४।१२-१२

३- अ० ४।१३

(२) वाक्यवाक्यम् - वाक्यवाक्यम् अर्थात् भिन्नपद संघात तुल्यात्मक[१] होता है। क्योंकि इसमें नीलिमा की माया बहुत ही क्षीण रहती है। अतः यह संघात भी त्याज्य है।

(३) पुनरुक्तिम् - पुनरुक्तिम् संघात पुष्टिरात्मक[२] होता है। यह संघात अनेक अवरितार्थ है। इसमें काव्य की आत्मा पुष्टि अर्थात् ध्वनि रहती है, शेष समस्त सामग्री अनेक अनिवार्य रूप रहती है। इसीलिए कहा गया है - विभिन्न प्रकार के अनेक शरीर के अवयव होने पर, संघात मुक्त होने पर भी कवियों के द्वारा काव्यवस्तु त्याज्य नहीं है।[३] क्योंकि शरीरी अन्य शरीर के अंग भी जोड़ कर रख ली है यह नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कवि की काव्य सामग्री का अन्य पूर्ववर्ती कवि के साथ साम्य होने पर भी, वह काव्यार्थ सम्पदा के प्रतिपादन में भी अधिक होना देखा है।[४] इसमें सूक्ष्म और अनेक शैलक्षण्य है। काव्य में त्याज्यस्वरूपीय है पुनरुक्ताभास-संघात। यदि इसमें अन्तर हो तो शेष सामग्री का संघात दोषावह नहीं माना जा सकता।

जिन अवयवों में काव्यत्व स्थित होते हैं वे सभी काव्यों में अभिन्न होते हैं, इसी प्रकार जिन पदार्थों का काव्य में उपादान किया जाता है वे भी अभिन्न ही होते हैं। अवयवों और पदों की दृष्टि में तो वाक्यवस्तु भी नवीनता नहीं ला सकते। वे सम्पूर्ण वर्णनम् में, सम्पूर्ण वाक्यम् स्थिरत्व में रख ही रहते हैं।[५] अवयवों और स्थिति में अनेक भेद कर यदि किसी मुख्य को अन्य मुख्यों से अभिन्न नहीं कहा जा सकता तो पदार्थों के अभिन्न होने मात्र से भिन्न काव्यों को अभिन्न कैसे माना जा

१- ध्व० ४।२।

२- ध्व० ४।२।

३- पुनरुक्तं तु विभिन्नानेकशरीरावयवोपगमे अपि
अनेकालंकारेऽपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना। ध्व० पृ० ४४७

४- वाल्मीकेरप्यतः सूत्रात् पूर्वविरचितादपि।
वस्तु गाम्भीर्यमर्थानां प्रतिष्ठायाश्चिरन्तनम्॥ ध्व० ४।२४

५- अवयवादिरचनैव वाक्यानां सा चवस्तुरचना पुरातनी।
तत्र सूक्ष्मरसि काव्यवस्तुनि अलंकृतेन वस्तु वा न दुष्यति॥ ध्व० ४।२५

उचित है। यह निर्णय तो अनुभव पर निर्भर है कि किसी काव्य में अनौचित्य है या नहीं। यदि अनुभव से यह ज्ञात हो जाए कि किसी काव्य में कहीं कोई त्रुटि है तो कवि को अपना यश अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए। त्रुटि के रहने पर प्राचीन काव्यों की छाया अधिकांश को पहुँचित नहीं कर सकती। त्रुटि का आधान करने वाला कवि प्राचीन विषयवस्तु पर भी काव्य-निर्माण करने महीयसी की गणना में, उसी किसी प्रकार की निन्दा का पात्र नहीं होता।

इस प्रकार त्रुटि को चाहिए कि वह किसी अन्य कवि की काव्यत्रुटि पान पूर्ण कर न दे। यह प्रतीकवाद की अनुभवी धारा तथा अन्य विशेषज्ञों से आई विविध मान्यताओं के साथ अपनी सरस्वती को प्रस्तुत करता रहे। जो कवि इस मुद्रिका पर आरूढ़ रहता है और इस त्रुटि से काव्यमुक्त करता है उसका ध्यान स्वयं मनस्वी सरस्वती को रखता है और यह मनस्वी इस त्रुटि से सिद्ध काव्योचित वाग्मिता स्वयं परिपूर्ति करती रहती है। यही है कारयत्री प्रतिभा और यही की प्राप्त करने त्रुटि 'भट्टतौत' के यह को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने चार उद्योतों में ध्वनि-स्वरूप को दो विद्वानों के मध्य विप्रतिपत्ति का विषय बना हुआ था, उसे सुप्रतिष्ठित कर दिया।

——:०:——

१- यदपि यदपि दृश्यं वस्तु लोकस्य नित्यं
स्फुटरसनिषण्णीयं सुधिरस्फुण्णीयते ।
अनुसरति पुनर्वाचा वस्तु वाग्यु
तुलितमपि तस्मात् सिद्धये गीयतायि ।। ध्व० ४।२६

२- प्रतिभवति यावत् सिद्धविद्याधिराजा
न खलु कविरनन्यः कविभिरन्यैः समानैः ।
परमपि तदनीन्द्रा-विह्वलन्ती वस्तु तुलैः
वरतनुरिव लोकं भारतीं नेतुकामा ।। ध्व० ४।२७

तृतीय अध्याय

दार्शनिक - विवेचन

आचार्य अभिनवगुप्त काश्मीर शैव दर्शन के दो मुख्य आचार्य हैं। उनके दार्शनिक विचारों की छाप उनके साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों में स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। अतः अभिनवगुप्त के काव्य सिद्धान्त को पूर्ण रूप से समझने के लिए और काव्य तत्व के प्रति उनकी दार्शनिक दृष्टि के विवेचन हेतु काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्त का विवेचनात्मक अध्ययन आवश्यक होगा।

क : काश्मीरी शैव दर्शन

काश्मीर शैव-दर्शन को प्रत्यभिज्ञादर्शन, त्रिकदर्शन, माहेश्वर दर्शन आदि संज्ञाएं प्राप्त हैं। शैव दर्शन अद्वैतवाद की भूमि पर स्थित है। अद्वैतवाद में अद्वैत का अर्थ है - दो का नित्य अनस्तित्व। शैव दर्शन में- शिव और शक्ति का नित्य अनस्तित्व स्वीकार किया है तथा इसे एकात्म रूप परमशिवतत्व कहा जाता है। इसी परमशिवतत्व की प्राप्ति शैव दर्शन का चरम लक्ष्य माना गया है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में छत्तीस(३६) तत्व माने गए हैं। परमशिव को शैवागमादि से परे कुछ आगमतत्व,ज्ञानतत्व एवं क्रियातत्व कहा गया है। परन्तु जब ये सृष्टि की कामना करते हैं तो उनसे शिवतत्व कहा जाता है और उनसे ही क्रमशः अन्य तत्वों का विकास होता है। अतः शिवतत्व ही सृष्टि का मूल तत्व है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के छत्तीस तत्व इस प्रकार हैं -

(१) शिव(२) शक्ति(३) सदाशिव (४)ईश्वर (५) शुद्धविद्या (६)माया (७) कला(८)विद्या(९) राग(१०)काल (११)नियति(१२) पुरुष (१३)प्रकृति (१४) बुद्धि(१५)अहंकार(१६)मन(१७-२१)पांच ज्ञानेन्द्रिय,अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय,(२२-२६)पांच कर्मेन्द्रिय,अर्थात् वाक्,पाणि,पाद,पायु, उपस्थ,(२७-३१)पांच तन्मात्राएं शब्द,स्पर्श,रूप,रस,गन्ध और(३२-३६) पांच स्थूल भूत अर्थात् आकाश,वायु,अग्नि,जल और पृथ्वी।

शिव तत्व :-

प्रत्येक जीव में रहने वाला शिवतत्व ही आत्मतत्व है। यह चैतन्यतत्व है। इसी को 'परा संविद्' 'परमेश्वर' 'शिव' या 'परशिव' भी कहते हैं। यह तत्व सद् और चेतन इसी में समाहित है। यह अनन्त वस्तुओं में रहने पर भी एक है और एक-एक में इसी वस्तुओं में है। यह देश और काल से अतीत है। फिर भी, इसी देश और काल में यह एक रूप में समाहित है। यह शिव है।

शक्ति तत्व :-

इसे विमर्श भी कहते हैं। 'विमर्श शक्ति' आत्मा का स्वभाव है। सृष्टि अवस्था में विश्वाकार होने से, स्थिति में विश्व को प्रकाश द्वारा तथा संहार में आत्मसात् करने से 'शिव' में पूर्ण की अहमिति अर्थात् है इसी को 'विमर्शशक्ति'[1] कहते हैं। यदि शिव में विमर्शशक्ति न हो तो वह अनीश्वर तथा जड़ हो जायेंगे। परमात्मा की विमर्श शक्ति का महत्व स्फुरत्ता आदि शब्दों द्वारा आगम में वर्णित किया जाता है। यह शक्ति के अनन्त स्वरूप हैं किन्तु इनमें से पांच मुख्य इस प्रकार हैं - चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अभिनवगुप्त का मत है कि परमेश्वर में चित् शक्ति की प्रधानता होने से वह शिव-तत्व कहलाता है, आनन्दशक्ति की प्रधानता होने पर सदाशिवतत्व कहलाता है, इच्छाशक्ति की प्रधानता होने पर ईश्वरतत्व कहलाता है, और क्रियाशक्ति की प्रधानता होने पर वही परमेश्वर विद्यातत्व के नाम से अभिहित किया जाता है।[2]

शक्ति के इन पांचों स्वरूपों से सम्पन्न शिव अपने आप अनन्त विश्व की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः यह सब शिव की शक्ति का ही विस्तृत रूप है, जिसे शिव ने अपने में (स्वयंही) संकुचित करके अभिव्यक्त किया है। परन्तु अभिन्न

१- परा प्रत्यवमर्शिनि

२- चित् प्रधान्ये शिवतत्वम्, आनन्द प्रधान्ये सदाशिवतत्वम्, इच्छा प्रधान्ये ईश्वरतत्वम्, क्रियाशक्ति प्रधान्ये विद्यातत्वम् इति। (तन्त्रसार)

महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि बिना इच्छा के शिव इस प्रकार से अकल् हैं। इसी इच्छा के कारण शिव अपने में अहं का बोध प्राप्त करते हैं। इसलिए ईश्वरानन्द ने भी कहा है कि -

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥[1]

परन्तु यह भी सत्य है कि बिना शिव के इच्छा भी नहीं रह सकती। इन दोनों में अभेद है, तादात्म्य है, सामरस्य है। इसी शिव पूर्ण रूप में परमशिव तत्व हैं।

परमशिवतत्व स्वातन्त्र्य चिन्मय सारस्वरूप तथा अद्वैतरूप हैं। उसी से सभी पदार्थ आविर्भूत होते हैं फिर उसी में लीन हो जाते हैं। सृष्टि तो उसका उन्मीलन मात्र है। इसलिए कहा गया है -

अन्तःस्थितस्तावेव बहिरात्मना।[2]
उन्मीलनम् आत्मलाभेन प्रकटीकरणम् ॥[3]

सदाशिवतत्व -

तीसरा तत्व सदाशिवतत्व कहलाता है। इसका विकास शिवशक्ति से ही हुआ है। जब इस इच्छा में 'इन्मेष' होता है, तब सृष्टि होती है और जब यह आँख मूँद लेती है तब जगत् का लय हो जाता है। यह 'इन्मेष' और 'निमेष' अनादि और अनन्त हैं। इसी इन्मेष के कारण 'सदाशिवतत्व' की अभिव्यक्ति होती है। यह इच्छातत्व का प्रथम और स्थूल निमेष है। इसे सदाख्यतत्व भी कहते हैं। इस अवस्था में 'इच्छाशक्ति' की प्रधानता रहती है, क्योंकि 'सर्ग' अंश अव्यक्त रहता है। इसलिए 'अहमिदम्' इस प्रकार प्रतीति होती है अर्थात् जगत् का अव्यक्त रूप में यहाँ भान होता है।

१- आनन्द लहरी
२- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा - पृ० ४२
३- प्रत्यभिज्ञाहृदयम् - पृ० ६
४-ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (भाग-२) पृष्ठ १६४-१६५।

ईश्वरत्व -

चौथा अर्थ ईश्वर माना गया है। अनु की प्रकृति अधिव्याप्ति वाली अथवा होती है। 'अनु' धातु सौम्य होता है और 'अनु' धातु की प्रधानता रहती है। 'अनु अनु' इस प्रकार की प्रकृति विशेषताओं में अधिकांशतः होती है। यहां 'आधिक्य' की प्रधानता रहती है।

अनुकम्पा -

इस विशेषत्व को पांचवां अर्थ माना गया है। इस वृत्ति में 'अनु' और 'अनु' इन दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है। 'अनुकम्पायाम्' अर्थात् में अनु धातु का प्रयोग होता है। यहां क्रिया-शक्ति प्रधान रहती है।

इन पांचों अर्थों को सम्पादक ने क्रमशः साम्य, सादृश्य, सम्बन्ध तथा भक्ति की संज्ञा दी गई है। और ये विद्वान अन्य आचार्य हैं। इनमें कुछ अर्थात् कुछ पार्थ की भी संज्ञा दी गई है। और इनके अतिरिक्त शेष(३८) अवशिष्ट अर्थों को बहुव्याप्यत्व अर्थात् बहुत अर्थ माना गया है। इसका कारण यह है कि इन पांच अर्थों का सीधा सम्बन्ध शिव से है और शेष माया से होकर पृथ्वी तक अवशिष्ट(३८) अर्थों का सम्बन्ध माया से माना गया है, जो अपने विविध रूपों द्वारा शेष अर्थों को आवृत किए रहती है।

माया -

यह ब्रह्म-जगत शेष सृष्टि का पोषक है। अतः शिव की एक शक्ति मानी गई है, जो शिव में अधिष्ठित होकर शेष पूर्ण सृष्टि उत्पन्न करती है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है :-

ज्ञानक्रियाभिन्नशक्तिरूपवत्ता शिवस्य माया त्रिगुणात्मिका अपि च अविद्या[१] (माया)

अर्थात् जो शेष उत्पन्न करती है उसे माया कहते हैं।

१- सम्पादकीय(भाग-६) पृ० ३० २- सम्पादकीय (भाग-६) पृ० ४२
३- वही पृ० ४१ ४- वही पृ० ४६-४७
५- वही पृ० ११६

भेदभावना करने के कारण इसे 'परमशिव' भी कहा गया है। यह वह अवस्था है, जहाँ पर स्वयं यह भेद-भाव भी नहीं रहता है। वैसे यह पूर्ण एवं व्यापक है और शिव-शक्ति से अभिन्न होकर शिव का मूल कारण मानी गई है। इसी से आगामी सृष्टियों का विकास होता है और यही अन्तत शिव को उत्पन्न करती है। यह माया अन: उन्मनी शक्ति रहती है और तीनों पाशों का बन्धन भी यही माया ही होती है। इसे त्रिगोचिनी शक्ति भी कहा गया है, जिसके पुर्ण पुरुषशक्ति शिवशक्ति का पुरुषत्व आत्माशक्ति की माया है और शिवात्मा इसे सूक्ष्मशरीर नहीं पर पाता।

दार्शनिक के इस सिद्धान्त की गति यहाँ पर माया के कुछ बहुत- से भेद नहीं किए गए हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में इसका केवल एक कुछ रूप ही स्वीकार किया गया है और उसी उत्पन्न पांच रूप - कला, विद्या, राग, काल और नियति भी यहाँ कुछ माने गए हैं।

माया के पांच कंचुक -

'परमशिव' अनंता, अनंत, पूर्ण, शिव, व्यापक, अकुंचित शक्ति, उत्पन्न होता हुआ भी अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल तथा नियति माया के पांच कंचुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होता है।

माया के इन्हीं पांच कंचुकों के कारण पुरुष: परमशिव के अकुंचित गुणों में भी संकोच हो जाता है। अतएव कुछ ही करने का सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यत्व का बोध तथा संकुचित शक्ति का भाव पुरुष को अपने में होने लगता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में माया और उसके पांच उत्पन्नों को अणु कंचुक संज्ञा दी गई है और कहा गया है कि इनके द्वारा आवृत होकर आत्मा परिच्छिन्न हो जाती है। यह परिच्छिन्न आत्मा भी अणु संज्ञा दी गई है और उसके इन कंचुकों को आणव-मल कहा गया है।

१- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (भाग-१) पृ० ११६-११७ | २- वही पृ० १२८
३- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (भाग-२) पृ० ३७८-७९ | ४- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग-१ पृ०-३७
५- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (भाग-१) पृ० १२८ | ६- वही पृ० १५८-१५९

पुरुषतत्व-

इन्हीं संगुणों को आवरणतत्व में स्वीकार कर पुरुषतत्व संहारी हो जाता है। इन्हीं संगुणों से बाकृत चैतन्य 'पुरुषतत्व' है।

प्रकृतितत्व -

मूल तत्व से ऊपर प्रकृतितत्व पर्यन्त सभी तत्वों का मूल कारण प्रकृतितत्व है। यह तत्व, रजस् और तमस् की समानावस्था है। इस अवस्था में गुणों के प्रधानतोन्नताव नहीं होता। ये गुण प्रकृतितत्व में परस्पर विलय नहीं हैं।

बुद्धि से पृथ्वी तक -

इसके अतिरिक्त महतत्व या बुद्धितत्व से ऊपर पृथ्वी तक जिन २३ तत्वों का वर्णन प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मिलता है, वह गुणवेत्ता सांख्य दर्शन के ही समान हैं अर्थात् सांख्य की भांति यहां पर भी प्रकृति से बुद्धितत्व, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा पांच तन्मात्राएं और पांच तन्मात्राओं से संगुणों अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति मानी गई है।

३६ तत्वों का यह अति संक्षिप्त विवरण है। यहां सूक्ष्म से स्थूल तत्वों के प्रति अभिव्यक्ति का क्रियाओं दिया गया है।

पुरुषप्रवृत्ति -

अब इस बात का भी प्रतिपादन करना आवश्यक है कि कैसे जीवन सूक्ष्म से पुनः: स्थूल तत्व की ओर जाता है।

पुरुषतत्व से ऊपर प्रकृति तत्व पर्यन्त सो सांख्य के समान ही तत्वों का विचार है। यहीं 'प्रकृति' विशुद्ध होकर 'मायातत्व' में लीन हो जाती है। 'माया' के पांच संगुण परमशिव के सभी गुणों को संकुचित कर देते हैं। इसीलिए पुरुषतत्व में आकर परमशिव की शक्ति संकुचित हो जाती है।

१- तन्त्रालोक(भाग-६) पृ० १७७-८०८ २- भारतीय दर्शन - उमेश मिश्र

इन तत्वों से परे जब तुरीयातीत तत्व में साधक प्रवेश करता है तब तुरीयातीत अपने को पूर्ण पूर्ण अनुभव करने लगता है। इस अवस्था में 'मैं अब हूं' इस प्रकार की प्रतीति उपलब्धि होती है। यहाँ 'मैं' चैतन्य है और 'अब' प्रकृति है। यहां 'मैं' और 'अब' दोनों परापर तत्व के होते हैं। यही भी भेद भाव स्पष्ट है। इसके अनन्तर यह 'तुरीयातीत' पूर्ण पूर्ण के साथ तादात्म्य भाव करने लगता है और 'अब मैं हूं' ऐसी स्थिति इसकी चिदाकाश में भासित होने लगती है। इस परिस्थिति में 'अब' अंश की पृथकता मिटती है। इस अवस्था को 'शिवतत्व' कहते हैं।

धीरे-धीरे 'अब अंश' में' में लीन हो जाता है और 'मैं हूं' इतनी ही प्रतीति रह जाती है। किन्तु फिर भी भेदाभाव स्पष्ट है। 'मैं' और 'हूं' ये दोनों स्वरूप 'चिति' में भासित होते हैं। इस अवस्था को 'सदाशिवतत्व' कहते हैं।

अब यह 'हूं' को भी दूर करना उचित है। तत्पश्चात् इसके भी पूर्ण भूमि में यह साधक प्रवेश करता है तब 'अहं' की प्रतीति विलीन पड़ती है। इसे 'शक्तितत्व' कहते हैं। यही 'परशक्ति' की 'उन्मीलनावस्था' है। इसी अवस्था में साधक 'परशक्ति' के स्वरूप को समझ लेता है। यहीं आत्मा के आनन्दस्वरूप का पूर्ण चार भाव होता है। यही शक्ति और शक्तिमान् की युगलमूर्ति है। यह अवस्था भी एक प्रकार से भेद की ही है। किन्तु, वस्तुतः यहां पहिले से कि भेद है या अभेद। यह 'भेद' भी है और 'अभेद' भी। यह अवस्था अन्त में 'परशक्ति' में लीन हो जाती है। यही 'परशिवतत्व' है।

<u>विन्दु साधक की अवस्था -</u>

यहां पहुंच कर विन्दु अपने अस्तित्व को परम-शिव में लीन कर देता है। यही तत्व 'परशक्ति' में लीन होकर विन्दु हो जाते हैं। यही मनुष्य-जीवन तथा यहीं का परम तत्व है।

'विन्दु' यह कि पूर्णचिता यहीं में चिति को उपाधि माना गया है। शिव और शक्ति के साक्षात्कार के रूप में चिति का ही वर्णन किया है। इन दोनों की पूर्ण एवं उसकी विभूतियां, शक्ति एवं उसकी क्रियायें तथा साकार और उसकी लहरों के सुख अभेद अविभिन्न रूप माना गया है। ये शिव की अभिन्न एवं

परमाणु हैं,परमाणु हैं और शिव,आनन्द,सत्ता,ज्ञान,शिव रूप हैं । यह दीपालंकार अलंकार की परिभाषा रूप है, जो संपूर्ण वर्ण पदों से व्याप्त रहने के कारण अपनी वास्तविक रूप को नहीं त्यागता । शिव रूपक को अपने वास्तविक रूप का प्रत्यक्षीकरण की भावना है,इस रूपक पद में शिव रूप की प्राप्त सौंदर्य सौन्दर्य पुरुष सुन्दर आनन्दादि सत्यरूप की भावना है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि भावाद्वैतवाद, अनुभवात्मा, एवं आनन्दवाद का विवेचन भी आवश्यक प्रतीत होता है । क्योंकि ,इसके अभाव में अभिनव की काव्य तत्व के प्रति दार्शनिक दृष्टि समझना कठिन होगा ।

अभेदवाद, आत्माद्वैतवाद-

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक ३६ तत्वों की एक विधि रूप परमात्मस्वरूप प्रकाशैकरूप शिव से अभिन्न रूप में स्फुरित होते हुए बताया गया है । शिव में जो माया-कलादिक परिभाषिक पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं , वे सभी प्रकाश रूप शिव ही हैं ।[१] इनसे रहित किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है । समस्त शिव ही माया प्रमाता की विभिन्नताओं के साथ स्फुरित हो रहे हैं ।[२]

शिव सदृश ही पूर्ण विकसित मयूर के सभी अंग एवं पीछादि रंगों का विकास उसके अण्डे में होता है और मयूर के अण्डे में ही मयूर के अंग एवं रंगों की स्थिति अभेद रूप से रहती है, वैसे ही यह शिव इस विधि के अनन्तरित अभेद रूप से विलास रचता है ।[३] यही कारण है अभेदवाद कहते हैं ।

शैव दर्शन का यह अभेदवाद 'आत्माद्वैतवाद' भी कहलाता है । इसका कारण

१- सर्वं शिवरूपं विराजते- डी० पृ० ४४१

२- दीपालंकारनिदर्शनेन पुनः विश्वरीत्या विश्वात्मक परमात्मस्वरूप-प्रकाशैकरूपस्य एवं शिवस्यैव शिवादि परमान्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति । न तु परस्परं भिन्नम् पृथक् पृथक् वा ,अपितु दीपालंकारन्यायेन एवं इत्थं माया वैचित्र्यवशेन स्फुरति । - प्रत्यभिज्ञाहृदयम्- पृ० ४

३- एवं वैचे मायूरे च सर्वमेव अण्डस्थं मयूराकारवत् अभिन्नमेव प्रतिपादितमिति ।- शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ४२

यह है कि अंतस्थ विषय दर्शन में प्रतिबिम्बित-सदृश मुकुरादि से समान हैं। अप्पयदीक्षितार्य का मत है कि चित्त अपने विविध दर्शन में विभिन्न पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे ही पूर्ण दर्पण् उन विधि में यह सम्पूर्ण विश्व प्रतिबिम्ब रूप से समाहित होता है।[1] इसी प्रतिपादन 'सिद्धान्तलेशसंग्रहदीपिका' में भी किया है कि यह विधि ही अपने दर्शन में समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्बवत् आभासित रहती है।[2] इसी कारण यह 'आभासवाद' कहलाता है।

अवस्था-

पूर्वमीमांसा दर्शन में अवस्था के सिद्धान्त का एक विशिष्ट स्थान है। स्वयम्भू शम्भु ने लिखा है जैसे एक नदी बहुत से मिलकर अवस्था को प्राप्त होती है और बहुत समय उस नदी में किसी प्रकार की भी पृथकता या भिन्नता नहीं रहती, उसी प्रकार यह आत्मा परमात्मा-तत्व को प्राप्त होकर पुनर्वार एक विलक्षण हो जाता है, उसे 'आवरण' कहते हैं।[3]

अप्पयदीक्षितार्य का मत है कि (आनन्दस्थिति विलासे योगी अवस्थी - नवेत्) आनन्दस्थिति में विलासित होने पर ही योगी को अवस्था की स्थिति प्राप्त होती है तथा (चित्ते अवस्थी मुनौ अयोरोन्मनी स्थितिः) अर्थात् अवस्था की स्थिति को प्राप्त होते ही चित्त में क्षेत्र के प्रति उन्मनीभाव व्याप्त हो जाता है अथवा पूर्ण क्षेत्र को प्राप्त हो जाता है। साथ ही अप्पयदीक्षित के मत से अवस्था की अनुत्तरावस्था है, क्योंकि इस स्थिति में पहुँच कर योगी के लिए कुछ शेष नहीं रहता और वह सदैव आनन्दमग्न विलसित हो जाता है।

आनन्दवाद -

जैनों के इस आनन्दवाद का मूल स्रोत उपनिषदों में विद्यमान जैसा है

१-निर्मले मुकुरे यद्वत् मुनिच्छायाः। प्रतिभासन्तेऽविशेषेऽस्मिन्विश्वे विश्वपुरः
सरम्। तद्वदेव निजे चित्ते स्वभेदाभासशालिनी ॥ शम्भुस्तोत्र २-३-४-५
२- जैनानां हि स्वात्मस्वरूपे यावत् प्रतिबिम्बवत् आभासवादे इति सिद्धान्तः
शैवदर्शन कुवलयदीक्षा विवृतिटीका (भाग२) पृ०५३
३-स्वयम्भू शम्भु(भाग१)पृ०२७८-२७७ ४- शम्भुस्तोत्र(भाग-१) पृ०२६
५- शम्भुस्तोत्र - २१।२६।२७ ।

क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं तथा अन्त में प्रयाण करते हुए अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

छान्दोग्य में अनुशासना के अन्तर्गत आनन्द की प्राप्ति होना लिखा है[1], और बतलाया गया है कि जिस की जिस शक्ति से आनन्द रस का स्फुरण होता है। उस आनन्द स्फुरण करने वाली शक्ति को आनन्द-शक्ति कहा गया है, जो जिस की प्रधान पाँच शक्तियों में से एक है और जिसके द्वारा सुख में आनन्द की मध्यस्थता या सहस्थता दूर हो जाती है।[2] और उसके द्वारा शक्ति के सुख में आनन्द-स्वरूप होने लगता है।

पूर्वमिमांसा में जिस को विधानरूपता कहा गया है और विधानरूपता रूप क्रियारूप की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। वल्लभ ने जैसे के उस आनन्दवादी विचारधारा को अपने साहित्यिक पूर्वों में भी पुनर्जीवित स्थान दिया है।

उपरोक्त में वल्लभानुसार 'रस' एवं आनन्द और साहित्यिक आनन्द की महान सम्भावनाओं से ओतप्रोत है। रस का परिपाक साहित्यानन्द-प्रदान के लिए आवश्यक सोपान के रूप में है। रस और आनन्द की स्थितियाँ ऊपर हैं। इन दोनों में रस को सुख और आनन्द को ऊपरी सुखानुभूति के रूप में ग्रहण करते हैं। दोनों के मध्य यह आनन्द अत्यन्त मधुर और स्निग्ध है। यदि इन्हें उपयोगी और पुष्ट के रूप में स्वीकार किया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

ख : काव्यशास्त्र और आचार्य वल्लभानुज की ऐसे पदोन्नति दृष्टि -

ऐसे पदों के ऐतिहासिक क्रम के विवेचन के अनन्तर यह विचारणीय है कि काव्य का यह कौनसा तत्व है, जिसके प्रति वल्लभ की दृष्टि ऐसे पदोन्नति है और किन कारणों से इस तत्व को एक नाद ऐसे पदों से ही सम्बन्धित मानने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

१-अनुशं यजमानं सर्वेऽनन्दानन्द सूत्रे: छान्दोग्य २।३।१६० २- छान्दोग्य ३।१०

व्यापि काव्य का प्राणभूत तत्व -'रस'[1] है। यही 'रस व्यंग्य' की शैलेन्द्रो के रूप में रीति पर अपने विशुद्ध एवं पुष्ट दार्शनिक पीठिका पर आसीन करने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त को ही है। अभिनवगुप्त ने जहां जहां रस का विवेचन किया है, वहां रस के साथ अपने दार्शनिक विचारों को इस प्रकार मिला दिया, जैसे शरीर में नीर। लोचन और अभिनवभारती इन दोनों ही कृतियों में जहां भी रस का विवेचन हुआ है वह पुनश्चि: दार्शनिक पृष्ठभूमी में एवं दार्शनिक पद्धति पर किया गया है।[2] अभिनव गुप्त न केवल साहित्यिक मूल्यों में ही अपनी दार्शनिक प्रतिभा का परिचय देते हैं बल्कि अपने दार्शनिक मूल्यों के व्याख्यान में शृंगार आदि रसों का उल्लेख करना नहीं भूलते।[3]

१- काव्यस्यात्मा स एवार्थ: - ध्व० १।६ ।

२-(१) यद्यपि स्वयमेवैष न स्वतन्त्रमाम्नायो न लौकिकव्यवहारपतितः, किं तु रम्यतन्मीलनसूत्रवर्णनाचतुरविनायानुशासनप्रणीतिप्रतिभिविष्टत्वादि-वासनानुरञ्जनद्वारेणैवंविधानन्यवर्णनाव्यापारतलीयत्वो रसः स काव्यव्यापारैक गोचरो रसः । लो० च० ५१-५२.

(२) अतस्य सूत्रवर्णनाचतुरविनायानुशासनप्रणीतो रम्यतन्मीलनेनास्वादमान एव रसनास्वेद्यात्मा: सिद्धप्रमातृसाक्षात्कारः परिस्फुरति।लो०भू० ७६-८०

(३) अनुशासनविनायकवर्णनारचनेन रम्यतन्मीलनसूत्रता त्रिविनायानुशासनप्रणीतिप्रतिभिविष्टवृत्ति-वासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्द घनेनात्मनोपरोऽयं रसास्वाद स्फुरति। लो०भू०८२

३- यत्राप्यत्यन्तान्यथाभावनिरुद्ध सुखास्वादो नीलादिविलक्षणविभावादि-निरवशेषविलीनस्वविशेषसंस्कारो गाढ्तमोमोहविलयने, तत्र नीलविलक्षण-देवादौ रजस, घनेना,स्थिति: प्रीति: प्रमातृविलक्षणैव, तत्र स्व सुखेन-रागसंज्ञितेनेव प्रमात्रात्मनैवास्वादविशेषस्वादि प्रमाणान्तरस्य वैषयिकस्वभा-वावरणरजस्तमोभ्यां इति विविक्तमात्मानं स्वभावस्य रजोमात्रोपरीकायोरिक्त-मूलो रसा नीलस्वभावोऽभिलाषात्मा गाढ्वेदविमूतो विलक्ष्य व्युत्पादितोऽस्वा-दयति । वि० प्रतिवि० भाग-२ पृ० १७८ ।

विश्वनाथ के अनुसार 'रस'- वाक्यात्मकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रस के प्रति विश्वनाथ का यह दृष्टिकोण उनकी परिभाषा(२।७)में भी पद रस के स्वरूप के अनुरूप है - जिसमें 'रसो वै सः' इस पद रस के स्वरूप को प्रकट किया गया है। अतः रस का अर्थ है 'आनन्द' और आनन्द चित्तवृत्ति न होकर आत्मा ही होता है। चित्त, आत्मपरार्थी या आत्मातिवाद का वाच्यार्थ मात्र होता है,इसके द्वारा अनुभव प्रमाता सीधे विभावादि ज्ञान कहता है। यह सीधे विभावादि आनन्दरूप ही है।

काव्य या नाटक के वाच्यार्थ से आनन्द की अभिव्यक्ति अनुभव आत्मक या प्रमाता के चित्त में किस प्रकार होती है? इस अनुभव को जानने के लिए विश्वनाथ की रसानुभूति प्रक्रिया को जानना होगा। विश्वनाथ के अनुसार रस-प्रक्रिया का विवेचन इस प्रकार है -

नाट्यगत अथवा काव्यगत की देखा में काव्य के विभावादि द्वारा अनुभव[१] प्रमाता के चित्त में प्रसुप्तावस्था में पड़ी हुई रत्यादि वासनाएं या संस्कार व्यंजना द्वारा रत्यादि स्थायीभाव के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रकार अनुभव के रत्यादि और काव्य द्वारा अभिधा विभावादि के साथ संयोग होने अथवा दूसरे शब्दों में अनुभव के आनन्दस्वरूप का अनुभव होता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में चर्वणा इस व्यापार कहते हैं। यह आनन्द बोध इस अवस्था में[२]

१- विश्वनाथ अनुभव का उदाहरण देते हैं - यथा' काव्यानुशीलनाभ्यासवशादतिशयिनी- पूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वसंवेदनसंवेद्यत्वात्: अनुभवा:-(सा०द० पृ०२८२)

२- प्रमाता के चित्त में प्रसुप्तावस्था में संस्कार या वासनाएं रहती हैं। कोई भी प्राणी वासना शून्य नहीं होता-(न कश्चिदप्यनुत्पितवासनाशून्य: प्राणी भवति -अभिनव पृ०२८२)प्रमाता का चित्त वासनादि वासना से विशिष्ट होता है। ये वासनाएं अनादि होती हैं। जाति,देश,काल से व्यवधान होने पर भी वासनाओं का क्रम बना रहता है (जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कार योरेकरूपत्वात् इति- यो०सू०,४,९,१०)अभिनवगुप्त ने इस पंक्ति को तो० २।४ पृ० १७८-८८ पर उद्धृत किया है)अतः प्रमाता के चित्त में प्रसुप्तावस्था में पड़ी हुई ये वासनाएं(या संस्कार) जगजाती हैं, ये ही विभावादि द्वारा व्यक्त होने पर स्थायी-भाव कहलाते हैं।

३- स्थायीभाव का विवेचन साहित्य में इस प्रकार किया गया है -

स्थायीभावं तम प्राहु: शामुदरादयनि।
मुलिरिवस परा कान्ता सेवस न कदाचनम् ।।

शेष अगले पृष्ठ पर

होता है जिसमें प्रमाता वीतविघ्न होकर प्रमेय में निमग्नित अथवा लीन हो जाता है। यह स्थिति साधारणीकरण की होती है। साधारणीकरण रसानुभव की एक विशेष स्थिति है। इस समय साधारणीभूत प्रमाता साधारणीभूत प्रमेय के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। इस तन्मयता में होने वाला रसीय,वैशाद्य-सम्बलीभूत स्वप्रकाश आनन्दमय रूप होता है। यह आनन्द चतुर्वर्ग पुरुषार्थों - धर्म,अर्थलाभ, काम और मोक्ष का पारमार्थिक मूल्य रखता है।

उपर्युक्त रस-प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

जैन मतों के छहीं तत्वों में से दूसरे अजीवतत्व से ही अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त सम्बन्धित है। अजीव तत्व का वैशिष्ट्य विभावीकरणता है। जिसमें के आलम्बन, उद्दीपन, अलंकार, रसना, स्वात्मविश्रान्ति आदि अनेक पदार्थ हैं। यह सभी जैन मतों के प्रमुख तत्व हैं। रसानुभूति के समय आत्मा अपने को आनन्द अथवा जिसमें के रूप में अभिव्यक्त अथवा स्फुरित करती है।

आनन्दस्वरूप रस की अभिव्यक्ति जैन मतों में प्रतिपादित आत्मवाद के अनुसार होती है अर्थात् वैसे दृष्टि तत्वितत्व का ही सम्भेद है, जो वस्तु मतों की सभी की मान अभिव्यक्ति होती है, और पाकर रहने वाली नवीन वस्तु की

पिछले पृष्ठ का शेष अंश - सम्बन्धीकरण की स्थिति किस प्रकार होती है,इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

> तथा पुरःस्थे मुकुरे स्थितं वस्तु विलोकयन् ।मुखं मुखत्वेनात्मानं वेत्तिविम्बात्मना
>
> तथा चित्तमुकुरे व्यापृतावात्मानमात्मनि।आत्मानं वेत्ति सहजमभिरामं सम्बलीभवेत्
>
> (सम्बालोक १ । २७८ पृ०२३७ भाग-३)

१- डी० पृ० ३८ २- रसतन्मयताद्याख्य १६०

३- (१) इस वीतविघ्नप्रमात्रैक्यवादी रसना,चर्वणा,स्थिति: प्रतीति: प्रमातृविश्रान्ति-रेव । ईश्वरप्रत्यभि० भाग-२ पृ० १७८

(२) रसनादनुकूलविभावादिसाधारणीकरणेनात्मचैतन्यस्य स्वसम्बलीभव रूपेण-अथवा परामर्शः रसनानन्दो निर्वृतिरित्यलंकार कौस्तु- वही पृ० १७८

(३) ---- आनन्दो निर्वृतिश्चात्मा चमत्कारःपरश्चयं: --- । डी० पृ० ३६

४- अनुभावविभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तत्र विभावानुभावयोर्भितविषयबुद्धि-ग्राह्यत्वात्पुरोवस्थितस्त्रीरत्नादिवत्स्वयंग्राह्यत्वाभावेऽपि रत्यात्मा स्फुरति । डी०पृ०८८

उत्पत्ति नहीं होती । उसी प्रकार स्मृत्यनुभूति के समय कोई नवीन वस्तु सामने नहीं आती, वस्तु अनुभव सामाजिक के अन्तःकरण में ही स्थित आत्मा का जो संस्कार आत्मभू है उसी की मात्र अभिव्यक्ति होती है ।[1] उत्पत्ति, अनुभूति का पुनः नहीं ।[2]

जैन मत के समरूपता सिद्धान्त के अनुसार अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण प्रक्रिया की व्याख्या किया । जिस प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार में विलीन होने पर योगी को समरूपता की स्थिति प्राप्त होती है, जिस में ज्ञेय के प्रति तन्मयीभाव समाप्त हो जाता है, योगी पूर्ण अद्वैत को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार रसानुभूति के समय अनुभव प्रमाता की भी स्थिति हो उठती है । अनुभव प्रमाता विभिन्नता विषयक अवस्थाओं से रहित होकर साधारणीकृत हो जाता है । और साधारणीकृत प्रमाता, साधारणीकृत प्रमेय के रूप में प्रकट होता है अर्थात् प्रमाता का प्रमेय से पूर्ण तादात्म्य हो जाता है ।

रसानन्द और ब्रह्मानन्द में सादृश्य स्थापित करने के लिए अभिनवगुप्त ने रस को लोकोत्तरानुभूति रूप सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं -

ब्रह्मास्वाद का अधिकारी सहृदय सिद्ध योगी प्रमाता ही हो सकता है उसी प्रकार काव्यानुशीलन के आस्वाद के कारण जिसका मन रजो गुण रहित हो गया है, वही सिद्ध प्रतिभासम्पन्न सहृदय काव्यास्वाद का अधिकारी है ।

अभिनवगुप्त जब सहृदय को सिद्ध प्रतिभासम्पन्न कहते हैं तो उसके साथ ही उसके लिए अधिकारी शब्द का भी प्रयोग करते हैं । इसका अर्थ यह है कि सहृदय ही काव्य का अधिकारी है, हर व्यक्ति नहीं । और वह अधिकारी इसलिए है कि उसमें काव्यार्थ को ग्रहण करने की 'मानसी साक्षात्कारात्मिकाशक्ति' होती है । इस शक्ति के द्वारा वह काव्य के विभावादि का मानस-साक्षात्कार करने में समर्थ होता है । और विभावादियों की मानस-वस्तुओं के समरस साक्षात् परिचित होते हुए

१-अभिव्यक्तयो रसाः प्रतीत्यैव न रत्यन्ये इति । ती० पृ० ६०

२- उत्पत्ति, अनुमिति एवं पुनः मानने वाले आचार्य प्रायः भट्टलोल्लट, श्री शंकुक एवं भट्टनायक हैं ।

देखता है ।

रहस्यवाद के लिए निवृत्ति की एकाग्रता , निवृत्ति का विषय में पूर्ण तन्मयीभाव आदि जैसे तत्व रहस्यवाद के लिए अनिवार्य माने गए हैं वे परब्रह्मवाद के पक्ष में भी घटित होते हैं । इसीलिए शैवाद्वैतवादी आचार्य अभिनवगुप्त निरतिशय स्वात्मा की शिवरूपता एवं का स्वातंत्र्यभाव मानते हैं ।

रहस्यानुभूति के लिए साधनगत का उल्लेख होता है ऐसा महायान का मत है किन्तु अभिनवगुप्त की चिन्तन पद्धति में सत्व,रजस् और तमस् का स्वरूप परिवर्तित हो गया है । अभिनवगुप्त ने इन तीनों को पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में स्वीकार किया क्योंकि काश्मीर शैवागम में ये ज्ञान,क्रिया तथा माया की संकुचित शक्तियां हैं । इस प्रकार अभिनवगुप्त की चिन्तन-प्रणाली में तत्व 'शुद्धस्वरूप' है, क्योंकि यह प्रकाश और विमर्श (या आनन्द) दोनों के गुणों से युक्त है । फिर भी अभिनवगुप्त आनन्द और सुख में अन्तर मानते हैं । 'आनन्द' तत्व शिव् की चेतना है तो 'सुख' व्यक्ति-चित् का बोध है । शैवागम की पारिभाषिक भाषा में यह 'विमर्श' अथवा 'स्वशक्ति' - प्रकाश में विश्रान्त होता है तो आनन्द कहलाता है । रहस्यानुभूति के लिए भी यही स्थिति होती है - विषयानुभाव के बोधन के अनन्तर तन्मयीभाव से साधक इस निवृत्ति से अनुरंजित स्वसंविदानन्द की चर्वणा का गोचर एवं इस आनन्द समुल्लसित होता है । यही आत्मा अन्तः अनुभव है चित् में विश्रान्त होता है तथा जिसे तत्व, आत्मसंवित् आदि भी कहा जाता है ।

रहस्यवाद एक आत्मानुभूति है । क्योंकि , रस-सामग्री के विभिन्न अंगों - विभाव, अनुभाव,व्यभिचारि आदि के संयोग से स्वात्मादि स्वातंत्र्यभाव से शिवरूपादि रस की प्रतीति-आस्वाद- स्वसंवेद्य प्रतीति के रूप में होती है ।

रस की आस्वाद्यता को स्पष्ट आत्मानुभूति प्रतिष्ठित किया गया कि काव्यार्थ और रहस्यानुभूति के बीच कोई बाधा या विघ्न नहीं स्वीकार किया गया । रस के स्वरूप की व्याख्या के प्रसंग में अभिनव गुप्त कहते हैं - विभावादि प्रतीति में चित

१- डी० पृ० ४८

२- आत्मैव-आत्मादि आत्मा परमेशः आत्मा: - प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ६१

स्वादीभाव का अनुभव किया जाता है वही रस है। रसका विवेचन का प्रयोग अभिनवगुप्त ने रसानुभूति की स्थिति निर्धारित करने और रसका की व्यंजना के लिए किया है, जिसे प्रमाता की पूर्ण तन्मयता या तल्लीनता की व्यंजना होती है। जैन दर्शन में रसनवता शैक्षिक की एक विशेष अवस्था है जिसमें चित्त किसी प्रकार के विघ्न से बाधित नहीं होता।

रस चिन्मय, अन्यप्रकाशरहित और स्वप्रकाश है। उसमें अनुभव प्रमाता देश, काल, परत्व और परत्व सम्बन्धी अन्य सभी से क्षणिक मुक्त हो जाता है। प्रमाता का प्रमेय से पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। यही रस आनन्दमयचित् का स्फुरण होता है। तन्मयीभाव की स्थिति आत्मलीनता की, आत्मस्थता की स्थिति है। यह शैक्षिक की 'स्वशिवरूपता' है।

अभिनवगुप्त ने काव्यगत 'तन्मयीकरण' के स्पष्टीकरण के लिए शैवतन्त्रप्रक्रिया का एक अत्यन्त सटीक उदाहरण उपस्थित किया है। घट एक घट का प्रमाता कहते हैं। घट सामग्री पदार्थों पर प्रतिबन्धित होकर सारे मानस-पटल पर उपस्थित होता है। मनःपटल व्याप्त चेतना का ही प्रमुख रूप है, जिसे का ही एक स्थानिक रूप है। इस प्रकार घटाकार घट सामग्री प्रमातृचित्तवृत्ति का ही एक अंश बन जाता है। विषय की यह आत्माकार परिणति ही 'तन्मयीकरण' है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के तन्मयीभाव का अर्थ है - 'प्रमेय की आत्मरूप में परिणति'। काव्य के संदर्भ में काव्य-विषय की अनुभव-मुखाकार परिणति ही तन्मयीभाव है।

इस तन्मयीभाव की स्थिति में ही रसानुभूति होती है यह अलौकिक चमत्कार प्राण है। आनन्दवर्धन ने भी काव्यगत सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उसे चमत्कार रूप माना है। उनका कथन है कि अनुभव की जिस वस्तु के सम्बन्ध में नवीन स्फुरण

१- तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽयं? न नवीनं स्फुरणं स्वप्रकाशचित्: अनुभवाकारश्च एव, चित्तवृत्ति - रसनिष्पत्ति का शास्त्रीय अध्ययन-पृ० २०२

२- The term 'Camatkara' means aesthetic experience, the whole significance of the term Camatkara in aesthetic experience of Indian-R.Gnoli : The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta. P. 72

का प्रत्यय हो, वाक्यात्मक वाक्य कहे, उस वस्तु को रूप्य कहा जाता है, अर्थात् विषय-रूप में जो सौन्दर्य है, विषयी रूप में वही चमत्कार है। सौन्दर्य वस्तु धर्म है और चमत्कृति वाक्यार्थ रूप।

अभिनवगुप्त ने दो तरह से चमत्कार की व्युत्पत्ति मानी है। एक तो - 'चमत्कार' - जिसमें 'चमत् उस विस्मय बोधक है और 'कार' क्रिया की उस स्थिति के बोधक का या प्रक्रिया का। अर्थात् जो आश्चर्य क्रिया की अवस्था विस्मयाभिभूत कर देता है। और दूसरी - 'चमत्' की व्युत्पत्ति 'चम्' से स्वीकार की गई है, जिसका अर्थ है गति या आस्वाद जन्य आनन्द। अतः 'चमत्' का अर्थ हुआ, किसी विषय का विशेष कर सौन्दर्यात्मक या रसवात्मक आस्वादजन्य आनन्द में रूपान्तर होना। अभिनवगुप्त ने दोनों व्युत्पत्तियों को स्वीकृति दी है। इनकी आलोचना के अनुसार चमत्कार स्वात्मविश्रान्ति की स्थिति है[१]। यह चेतना की एक विशिष्ट अवस्था है जिसमें विलक्षण आस्वाद आता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में 'चमत्कार' पद का प्रयोग इस पूर्ण चेतन तत्व के लिए किया जाता है जो आत्मा या चेतन की वह है जहाँ रहता है। अभिनवगुप्त की 'परात्रिंशिका-विवरण' के अनुसार चमत्कार का सीधा अर्थ ही महत्ता है और अनुभवता चमत्कार के आधेय[२] आश्रित है। इसलिए जिसका हृदय प्रकाशानन्द अथवा काव्यानन्द में जन्य गौण का अन्वाधी है, वही अतिशय चमत्कार का स्वाद पाता है।

१- रसगंगाधर और सौन्दर्यशास्त्र - पृ.६८

२-(क) चमत्कारो हि इति स्वात्मन्यन्यापेक्षो विस्तरणम्। एवं पुंवाक्यार्थ चमत्कार, अथवा करोति हृदयमे विस्मृति वाक्यार्थानुवादादि। चमत् इति विस्मयविशेषणम्, अथवा एव वा धातो विस्मितावस्थापत्तिः चमत् इति वा अन्तरन्तर्वाक्यार्थोपलब्धिपरायणेषु अन्तर्वाक्यार्थानुकरणम्। काव्यार्थ-रसास्वादादि वाक्यार्थोपलब्धिनिमित्तत्वात्तत्रिमित्तविस्मयादिरूप स्वात्मादौ रूपान्तरता चमत्कार-शब्दवाच्यम् जन्यम्। R.Gnoli : The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, Abhinavabharati-P2

(ख) चमत्कृतिरिति वाक्यार्थतया बुद्धिरित्यर्थः - ध्वन्या० पृ० १६८

३-यत्रो चमत्कारे महति, अभिनवभारत्यादेव एव वीक्षितोपरान्ता अनुभवता उच्यते, अर्थात् रसवत् पोषाकाव्यार्थविशेषाभिनवप्रकाशीयं प्रतिभा हृदयं संवेद्य वर्तिष्यमाणता। R.Gnoli : A.E.A.A. P.73

निःसन्देह शाब्दाद्वैत के लिए 'वाक्यकार' शब्द का प्रयोग सही के रूप में ही अपनाया गया। शब्द में वह वाक्य विभक्त्यादि का संयोग होता है, वहाँ की अपेक्षा में वाक्यार्थ रूप वाक्यकार अनुभूत होता है। इस प्रकार, वाक्यकार के दो पक्ष हुए - एक वाक्यार्थ, दूसरा - विभक्ति रूप। इस की वाक्यकारपूर्णता का यही अभिप्राय है।

अप्पिल मुच्च ने स्फोटानुमिति के प्रसंग में वाक्यार्थ,रूप, विभक्ति आदि शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुतः ये विशेषणवाचं प्रकारान्तर से शाब्दानन्द की ही व्याख्या हैं। विभक्ति का अर्थ है - संख्यैक विभक्ति। इसी को अप्पिलमुच्च प्रायः रूप-संख्यैक-विभक्ति भी कहते हैं, और इस संख्यैक विभक्ति का दूसरा नाम 'शाब्दानन्द' है। इसी को 'रूप' भी कहा जाता है। और वाक्यार्थ भी। 'वाक्यार्थ' वाक्यार्थ का ही पर्याय है। इन दोनों के साथ ही स्फोटानुमिति के संदर्भ में अप्पिलमुच्च 'वाक्यकार' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका सम्बन्ध वाक्यविभक्ति से है। 'वाक्यकार' का अर्थ है किसी अन्य की अपेक्षा न रखने वाले अपने ही वाक्यरूप में विभक्ति का होना। यहाँ पृथियों का पारिभाषिक अनुवाद अनावश्यक ही लगता है। ये विभक्ति ही होती हैं। इस स्थिति में केवल वाक्य-स्वरूप का परामर्श होता है। किन्तु विभक्तिरूपता वाक्यार्थ की व्यापकता या न्यूनाधिकता नहीं है। पाणिनि और पतिञ्जलि स्फुट शब्दों के विश्लेषण या संख्याओं से युक्त होते हुए भी संख्यैक विभक्ति में वाक्यरूपत्व होता रहता है। जैसे भेषजादि में विष्णु - रूपत्व। इस प्रकार वाक्यविभक्ति में विभक्ति के साथ ही वाक्य रूपत्व के लिए भी विधान है। अप्पिलमुच्च के अनुसार शाब्दानन्द विभक्ति के साथ रूपत्वाकार अवस्था[का] भी द्योतन करता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि स्फोटवाद और ध्वनिवाद में सादृश्य

१- वाक्यकारो हि इति स्वार्थादि अन्वयोद्देशे विभक्तिजन्यः। एव मुंडानादा वर्णं वाक्यं, सर्वेण करोति संख्यैके, विभक्तिषु न अन्यत्र अनुपपत्ति - - - पदादिति वा वाक्यरूपत्वान्वोक्ति परामर्शेन। ई० पूर्वमीमांसा विभक्तिवाद, अप्पिलमुच्च पृ० २६६ पर पृष्ठव्य।

२- स्फोटसिद्धान्त और शाब्दबोधवाद पृ० १२७-१३८

है। ये दोनों दूसरे के समान नहीं हैं। इस तथ्य की पुष्टि महानाटक, अग्निपुराण, चित्रमीमांसा आदि आचार्यों के कथन से होती है। साधुत्व में अलंकार के साथ ही अलंकार्य की होती है। क्योंकि, साधुत्व का अर्थ ही है दो भिन्न पदार्थों की अलंकार। रसालंकार के प्रसादगुण से भिन्न होने के साथ ही साथ, उसका अलंकार वैशिष्ट्य भी है।

रसालंकार का प्रसाद वैशिष्ट्य यही है कि जिस आनन्द को योगीजन ब्रह्मानन्द से प्राप्य कहते हैं उसे सहृदय सुकुमति अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। अग्निपुराण ने इस तथ्य की पुष्टि के लिए महानाटक की भिन्न कारिका उद्धृत की है।

> वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसे एवास्य यत्नवत्ता।
> तेन नास्य रसः स स्याद् युक्तो योगिभिर्हि यः॥

काव्यानन्द योग द्वारा प्राप्य आनन्द की तुलना में अधिक सुलभ एवं सुकुमार है, इसका उल्लेख अग्निपुराण ने दोहन में अन्यत्र भी किया है।[1] अग्निपुराणकार भी यहाँ 'योगिगम्य' की विषयालंकार-मूल्यता के कारण 'रूक्ष' कहा गया है यहाँ रसप्रतीति को 'सुखादिरूप' ही मुख्य माना है।

इसके अतिरिक्त योग एवं काव्य दोनों के आनन्द के स्वरूप में भी अन्तर होता है। योगी दो प्रकार के होते हैं : भिन्नयोगी एवं अभिन्नयोगी। भिन्नयोगी का ज्ञान खण्डित एवं परमेश्वरात्मक होता है, अतएव उसमें रसात्मकता नहीं होती।

१- ..... अत्यन्तनिर्वाणरसावगाढधियामाप्तिकराणः परब्रह्मास्वादसदृक्षः। (तौलु० १८३)

२-.....।रसोक्तिरानन्द घनोऽनपेक्षोऽयं रसात्मा स्फुरति - (तौ० पृ० ८८)

३- अत्यौक्षाक्षयसत्यकृताद्यानन्दविग्रहः। वेदान्तरसपीयूषी प्रसादगुणसोदरः॥ (तौलु० ३।२)

४- तौ० पृ० ६९-९२

५- ब्रह्मसत्यगुणप्रत्यक्षसंवादसदृग्दर्शनावसानसुखिप्रायविधिष्ट - रत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंवित्तानन्दघनीभावव्यापाररसीकरणो रसः (तौलु० ६९)

६- योगिगम्यत्वान्न विषयालंकार-मूल्यात्मकत्वात्तिरोधान-सुखदुःखादि-विविध-वासनानुवेधोपजीव्यसुखादिरूप-संविन्मयीनास्वादना मुख्यो रसः।

अग्निपुराणी भाग-९ पृ० २६०

इसी प्रकार परमयोगी इसी विषयों के उपराम से शून्य और पूर्ण स्वरूप आत्मा मात्र को अवशेष रहता है, अतः वह भी बौद्धसंवित्ति होता है। रसास्वाद इन दोनों प्रकार के अनुभवों से अतिरिक्त विशिष्ट होता है कि अनुभव काल विषयों के अवशेष नहीं रहता वरन्, अनुभव का विषयशून्य विभावादि विषयों से संवलित रहता है। रसास्वाद विषय विशेष रूप विभावन्य होता है तो आस्वादन्य विशिष्टादि स्थायीभाव रूप। इस प्रकार योगी जहाँ इसी प्रकार के अन्यों सर्व विषयों को ज्ञानाग्नि द्वारा विनष्ट करते, स्वयं स्व आत्मन्य प्राप्त रहता है, वहाँ अनुभव के चित्त में स्थित रत्यादि वासनाएं ही, वासना रूप और विभावादि द्वारा रत्यादि स्थायी भाव के रूप में अनुभूत होती हैं।

रस की अलौकिकता

अभिनवगुप्त ने रसों की अलौकिकता के तथ्य प्रमाण देते हुए लौकिक विभावादि-रस न कारण हेतु है और न ज्ञापक हेतु। लोक में कारण और ज्ञापक दो प्रकार के हेतु पाए जाते हैं, रस के अंगभूत हेतु हेतु विभावादि इन दोनों से विलक्षण हैं, अलौकिक हैं।[१]

१- सा च..... योगिनिरूपरागविगलत्स्वरूपोपलब्धिरानन्दचिद्घनः परब्रह्मास्वादसविधभाजो विदितिष्ठते। तस्यां यथायोग-मनीषादिविभान्तरविलयादवस्थायां स्फुटत्वविभवायैव वेद्यवृत्तेरन्तर्मीलनात्।

- अभिनवभारती भाग-१ पृ० २७१

२- Mystical experience involves the annihilation of every pair of opposites, every thing is reabsorbed in its dissolving fire.Sin,merit,night and day,beautiful and ugly, etc., no longer exist in it. The limited I is completely absorbed into Siva or Bhairava,the shared object, every thing vanishes from the field of consciousness. Aesthetic experience, on the other hand,requires the presence of the patent traces of delight,etc(aroused by the operation of the Determinants,etc.)-K.Gnoli : The A.E.A.P.100

३- तस्मिन्नानुमानादा द्वयवसंवादानुभवादा विभावादिसाधनत्वा ऽलौकिकत्वात् -

ओ० पृ० २७०

रस की अलौकिकता की सिद्धि के लिए एक अन्य प्रमाण अभिनवगुप्त यह भी देते हैं कि रस न विभावरूप है और न विभावजन्य वस्तु विभावादि दोषदर्शनादि है। अतएव रसानन्द को ब्रह्मानन्द नहीं कहते विन्तु, उसके सदृश स्वीकार करते हैं। क्योंकि ब्रह्मानन्द निर्विशेष रूप है, उसमें प्रमाता प्रमेय प्रमिति: इत्यादि रूप की बातें हैं फिर भी दोनों (प्रमाता और प्रमेय) विभिन्नता विभावादि अलौकिकता से रहित होते हैं अर्थात् साधारणीकृत होते हैं। इस प्रकार काव्यानन्द की स्थिति मध्यवर्ती है, वह विषयानन्द की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं चिन्मय है और ब्रह्मानन्द की तुलना में स्थूल तथा अल्पायी है।

अभिनवगुप्त रस को आनन्दरूप ही मानते हैं - एक स्थल पर रस को दुःख रूप मानते हुए कहते हैं - रस दुःख रूप होते हैं, क्योंकि रत्यादि की परिणति ही उनका रूप है तथा यह परिणति स्वयं एवं प्रकाशनी होती है और आनन्द स्वयं आत्मा रूप है। दुःख अन्तरात्मरूप विश्रान्तिरूप होता है। और दुःख अविश्रान्ति रूप। इसीलिए कवि आदि वर्णनीय दुःख की रसोद्भूति का कर्म मानते हुए, पार्वतय को ही दुःख का प्राण मानते हैं। रसास्वाद के क्षणों में सहृदय का चित्त स्वयं संविति में विश्रान्त होता है, अतएव सभी रस आनन्द-रूप होते हैं।[1]

अभिनवगुप्त ने सहृदय के सुख को स्वरूप अभिन्नरूप माना है। यह स्वरूप अभिन्न - आनन्दाभिन्न है। मधुर गीत आदि के श्रवण से तथा चन्दनादि के स्पर्श से बाह्यसुख का परिहार होकर सुख की जो स्वरूपलाभ अवस्था होती है, उसी को आनन्दाभिन्न कहते हैं, जिसके कारण मनुष्य सहृदय कहलाता है।[2] काव्य-

---

१- परप्रमात्रवाद्यवस्तुरूपत्वं चास्यरूपत्वं रसरूपत्वम् - लो० पृ० १६०

२- सर्वेऽपी सुखरूपाता: । स्वसंविन्मयैकघनरूपत्वेनैवास्य प्रकाशरूपानन्दसारत्वात्

.... अन्तरात्मरूपविश्रान्तिरूपत्वात् सुखरूप । अविश्रान्तिरूपत्वेन दु:खम् ।
अत एव कविभि:दु:खस्य पार्वतयमेव प्राणत्वेनोक्तं रसोद्भूतिर्हि वस्तुभिरित्यादा-
वानन्दरूपता सर्वरसानाम् । अभिनवभारती भाग-१ पृ० २८२

३- तथा हि सुखं नीते स्पर्शे वा चन्दनादिके ।
बाह्यवस्तुविनाभूते यदन्यत् सुखमेव वा
आनन्दरूपि: सैवोक्ता यत: सहृदयो नर: । - ध्वन्यालोक ३।२२०

अपने से अनुभव की वही आनन्दरूप स्वरूप का अनुभव होता है। जिसमें वैषयिक विषयों का सम्पर्क नहीं होता, वे अनुभव हैं।

अभिनव गुप्त ने इस को आनन्दरूप ही माना है - उन पृष्ठों में कुछ पाठभेद अंश पर लगते हैं कि वहाँ पर इस के पृष्ठों में भी क्या सामाजिक को आनन्दानुभूति होती है?

इसका समाधान अभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनव गुप्त ने किया है - इस का अर्थ है - इत्यादि आदि के माध्यम से जिस भाव-भूमिका में आत्मा का आस्वाद - 'आनन्दरूप' होता है, उसमें दुःख की झलक ही कैसे हो सकती है? केवल उसके वैशिष्ट्य के लिए रति क्रोध आदि संचारों(स्थायीभावों) का व्यापार होता है।

अतः वहाँ इस में व्यक्तिगत क्रोध की प्रतीति या प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, परन्तु साधारणीकृत (व्यक्ति सम्बन्धों से मुक्त) क्रोध की भूमिका में आनन्दमय आत्मा का आस्वाद होता है, जो सदा आनन्दमय है। साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक केवल ज्ञप्ति सिद्ध रहता है। इसीलिए वह किसी भी भाव का आस्वादन करता वह आनन्दमय ही होता। भरत भावों से अनुभाव 'काव्य' - अनुभव को रागद्वेषादि से मुक्त कर आत्म-साक्षात्कार आनन्दमय रसानुभूति में प्रवृत्त करता है, अतः काव्य में भाव के लौकिक स्वरूप का महत्व नहीं, भाव की अकृत (कल्पनात्मक) अभिव्यक्ति का ही महत्व है, जो अनुभव को व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त कर आत्मानन्द रूप रस की अनुभूति में प्रवृत्त करती है। यह सिद्धान्त[2] विशेषतः अभिनव पर आधृत है जो आत्मा को परम आनन्द रूप मानता है।

अभिनवगुप्त ने जहाँ का फलितवाद शान्त रस में ही माना है, उसके मूल में भी उसकी दार्शनिक दृष्टि ही है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जहाँ

१- शेषं च सम्भोगसुखिनो रसादिनिमज्जनम्।
अभिन्नो मन्मतेऽभिन्नावास्वादसुखदा इति॥ यही सम्भोग ३।२७०

२- अतएव तु लौकिकेनाक्रन्दनादिव्यापारेण। अस्य का दुःखावेश कैसे सहृदय
विभावादिरूपो रतिस्थायिनोऽभिव्यापारः। अभि० भा०

३- इस- सिद्धान्त

का आस्वाद ब्रह्मानन्द की कोटि है।[१] यही नहीं, वरिक वे ब्रह्म एवं को सभी रसों की मूलप्रकृति भी मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि अपने-अपने अनुरूप कारण को प्राप्त करके ब्रह्म एवं के सभी भाव उत्पन्न होते हैं और उस स्थिति में आनन्द होने पर फिर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। अतएव सभी रसों की प्रकृति ब्रह्म एवं है। वस्तुतः विद्वद् आनन्दस्वरूप एवं और ब्रह्म एवं का एक ही स्वरूप होता है। तो, इस प्रकार ब्रह्म एवं वास्तव में कोई विशिष्ट एवं नहीं है वरिक एवं का सामान्य स्वरूप यहां या कहा है जिसे अभिनवगुप्त ने प्रकट एवं कहा है। इससे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त का काव्यानन्द ब्रह्म एवं के निकट का अवश्य यह भी कहा या सुना है कि उनकी दृष्टि में काव्यानन्द का स्वरूप अन्ततः ब्रह्म रूप ही था।

यहां तक ब्रह्मरस के स्वरूप का प्रश्न है, उसके बारे में अभिनवगुप्त ने लिखा है कि वह वीतरागत्व का निमित्त है, तत्त्वज्ञानार्थ हेतु है संकुल है तथा निःशेष रूप से सुलभ है। इस सुविधि से अभिनवगुप्त का काव्यानन्द अपने चरम रूप में वीतरागत्व, तत्त्वज्ञान तथा निःशेष रूप से संकुल माना या कहा है। स्पष्ट ही, आनन्द का यह स्वरूप तत्त्वज्ञानी सामान्य धारणा से बिल्कुल स्वतंत्र एवं भव्य है। अभिनवगुप्त ने ब्रह्म एवं को सब रसों का मूल माना है। उनका प्रमाण हेतु वेदान्ती की आनन्दवादी विचारधारा है।

१- सब वीतरागत्वं ब्रह्मास्वाद सवादनादी न विभावेन्यो विलक्षणत्वात्, ।अभि०भा० गीय-२ पृ० ३२८

२- सर्वं सर्व विभिन्नास्वाद ब्रह्मास्वादायः प्रकाशे ।
पुनर्विभिन्नास्वादे तु ब्रह्म एव प्रतीयते ।। हो०पृ० ३६१
इत्यादि रसान्तरप्रकृतित्वमुक्तम् ।

३- अभिनवगुप्त की दृष्टि में ब्रह्मानन्द का स्वरूप अन्ततः ब्रह्म रूप इसलिए है क्योंकि ब्रह्मस्वभाव ही आनन्द है यह सो लौकिक है जैसे स्वादिष्ट भोजन का आस्वाद होने पर एकाग्र चित्त आनन्द होता है किन्तु काव्य में जो आनन्दानुभूति होती है वह अनुभूति अभिलौकिक होती है। फलतः काव्यानन्द, ब्रह्मरति में निमज्जित हो जाता है। ब्रह्म रस में भी फलतः की यही स्थिति है, वह कृष्णरति रूप का अनुभव करता है, वह 'कृष्णरति' आत्मरति की है क्योंकि अन्ततः कृष्णरूपं आत्मा (चैतन्यात्म) के ही कारण होती है। आत्मरति शरीर की कहां होता है। जब तक शरीर में आत्मभाव रहता है तभी तक

शेष अंश अगले पृष्ठ पर देखिए-

उपर्युक्त अभिनवगुप्त की दार्शनिक दृष्टि-प्रक्रिया को आधार में रख प्रकार रखा जा सकता है -

१- हेगलजी के 'इन्टिग्रल आर्ट' के ही अनुसार अभिनवगुप्त का दृष्टि-सिद्धान्त अन्वयात्मक है ।

२- हेगल दर्शन के 'डायलेक्टिक' के ही अनुसार अभिनव ने रसाभिव्यक्ति की व्याख्या की है ।

३- हेगल दर्शन के 'अनुभूति' सिद्धान्त के आधार पर ही साधारणीकरण प्रक्रिया का विवेचन किया ।

४- अभिनवगुप्त ने रस को विश्वात्मक ब्रह्मानन्द में मानी है । रस को ब्रह्म-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मानकर रस की अलौकिकता का प्रतिपादन करते हुए रसानन्द और ब्रह्मानन्द में सादृश्य स्थापित किया है ।

(१) अनुभव आधारित में और ब्रह्मानन्द के प्रकाश में सादृश्य है ।

(२) रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद अन्योन्य की स्थिति में होता है । जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति,आत्म और आनन्दानुभूति में होती है ।

(३)रसानन्द और ब्रह्मानन्द निर्विघ्न और अखण्ड होता है । यह विघ्न, अन्य आवरणों और स्वप्नवत होता है ।

(४)दोनों लोकोत्तर चमत्कार प्राण हैं ।

(५)इसीलिए रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है ।

(६)रस के लोकोत्तर होने पर भी उसका अपना वैशिष्ट्य है ।

५- हेगल दर्शन के आत्मवाद के ही अनुसार अभिनवगुप्त ने आत्मस्वरूप रस का प्रतिपादन किया है ।

(१) ब्रह्मानन्द रस की अनुभूति भी आत्मस्वरूप ही होती है ।

(२) शान्त रस सब रसों का मूल है ।

पिछले पृष्ठ का शेष अंश -

अनेक दृष्टियाँ रखी हैं । दृष्टियों का भाव हो जाने पर आत्मतत्व की शेष रहता है । अतः आत्मतत्व को सुख होना यह आत्मानन्द रूप ही होना तथा आत्मरति भी यह सकते हैं । अतः केवल शान्तरस ही ऐसा रस है जिसका स्थायीभाव आत्मसुख,आत्मानन्द, आत्मरति रूप होता है । इसीलिए अभिनवगुप्त शान्तरस को रस सामान्य का स्वरूप मानते हैं ।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने पहली बार ईश्वरवाद के तात्त्विक प्रश्न को दूर दार्शनिक पीठिका प्रदान की। ईश्वरवाद को ईक्षति के आधार पर उन्होंने तथाकथित आत्मवाद से अधिक पीछिक किया। इसी स्थापना का एक दूसरा परिणाम यह भी हुआ कि उन्होंने ज्ञेय-आत्मवाद के आधार पर एक को अनात्म आत्मवाद की स्थापना की। ज्ञप्ति के आधार पर ईशानुग्रह और अभिव्यक्ति का तीरेकन्द एक प्रतिभाक्षि पर एक और उन्होंने एक को विज्ञान्त अभिव्यक्ति आत्मपरक ईश्वर का निर्मुक्ति आत्मवाद किया, दूसरी ओर ज्ञेय-सिद्धान्त के आधार पर एक के अन्तर्गत सभी अभिनव को परस्पर सम्बद्ध कर दार्शनिक स्थिति प्रदान की।

—:०:—

चतुर्थ अध्याय

विवेचन और विश्लेषण

ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में लोचन का मूल्यांकन-

वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में व्याख्याता शंकराचार्य एवं रामानुज की भाँति साहित्य क्षेत्र में आचार्य अभिनवगुप्त भी केवल व्याख्याकार ही नहीं, वरन् मौलिक चिन्तक भी हैं। उन्होंने ध्वन्यालोक का अतिविस्तृत व्याख्यान करते हुए आनन्दवर्धन के विचारों का नया परिधान दिया है, जिसका प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर मूल-ग्रन्थकार से भी अधिक पड़ा और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय अभिनवगुप्त के प्रति अधिक निष्ठावान् रहा, आनन्दवर्धन के प्रति कम। आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त को अधिक प्रतिष्ठा मिलने का मुख्य कारण उनकी लोचन टीका ही है। वस्तुतः यह टीका इतनी प्रौढ एवं वैदुष्यपूर्ण है कि अध्येता को ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त ही जटिल है। जिसके कारण उनमें ऐसी धारणा ही बन गई कि बिना 'लोचन' टीका को पढ़े ध्वन्यालोक के ठीक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। किन्तु यदि वैदुष्यपूर्ण ध्वन्यालोक का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि-सिद्धान्त में कोई जटिलता नहीं है। आनन्दवर्धन का सिद्धान्त जैसा सरल एवं ऋजु है, जटिल स्वयं लोचन टीका है।

तथापि अभिनवगुप्त अपनी लोचन टीका की उपादेयता प्रतिपादित करते हैं-

यद्यं लोचनं बिना लोको यातीति वन्ध्यकल्पा एव हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥[२]

यद्यपि यह सत्य है कि 'लोचन' 'आलोक' को ग्राह्य बनाता है, तथापि अपने मूल रूप में नहीं। क्योंकि उन्होंने अपनी अभिनव बात मुख्य रूप से कही है।

१- द्रष्टव्य - डा० चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल का लेख :-
" What Ānandavardhana Meant By Dhvani? J.G.N.J.R.I. Alld. Vol.22, Nov.1965. - Feb. 1966 P.13-22.

२- लो० पृ० १५३ ।

ध्वन्यालोक को आधार बनाकर उस पर जो चिन्तन अंकित किए गए, वह बहुत कुछ उनसे अपने हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में,लोचन में स्थान-स्थान पर अंकित अभिनव-गुप्त के स्वतंत्र मतों का विवेचन अभीष्ट है।

आनन्दवर्धन ने मुख्य कारिका में मुनि द्वारा उपन्यास 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस मत का उल्लेख किया है और विवाद मूलक होने के कारण उस ध्वनि के स्वरूप को निःसन्दिग्ध एवं प्रमाणित रूप से विवेचित करने का संकल्प किया है। किन्तु इस मुख्य विषय-'ध्वनि स्वरूप विवेचन' से पूर्व भूमिका रूप में ध्वनि के प्रमाण तत्व 'प्रतीयमान-अर्थ' के स्वरूप एवं महत्व के विवेचन में (ध्व० १।२ से ध्व० १।१२) पूर्ण संरम्भ के साथ प्रवृत्त होते हैं। संयोग से वे पूरी की कारिका से इस प्रकार का उपोद्घात करते हैं कि वह प्रायः टीकाकारों एवं सामान्य पाठकों के लिए भ्रमकारक हो ही जाता है। क्योंकि आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में स्थान-स्थान पर विभिन्न अर्थों में 'आत्मा' पद का प्रयोग किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'आत्मा' पद के अनेक अर्थ दिए हैं किन्तु आनन्दवर्धन ने जिस अर्थ में माना है, अभिनवगुप्त उस अर्थ में उसकी व्याख्या कभी-कभी नहीं करते। परिणामतः विद्वान् में मतभेद हो जाता है।

आत्मा पद के विभिन्न अर्थ -

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'[1] में प्रयुक्त 'आत्मा'[2] पद का अर्थ सारभूत अंश के अतिरिक्त स्वभाव, स्वरूप या प्रकार भी है।

(१) यदि 'आत्मा' पद का अर्थ सार-अंश माना जाए तो 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का अर्थ होगा - ध्वनि अर्थात् काव्यविशेष, काव्य अर्थात् काव्यसामान्य में आत्मा अर्थात् सारतत्व होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'ध्वनि' जिसका आगे

१- ध्व० १।२ ।

२-अमरकोश में भी कहा गया है-आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म कर्म च ।

विशेषण दिया जायेगा तथा जिसमें गुणीभूत व्यंग्य आदि होंगे, उसको तथा काव्य सामान्य में रहने पर भी 'काव्य' प्राणवान् बनता है। जैसे प्रसिद्ध श्लोक 'पितः प्रेम-मुखस्पर्शनस्तटं' इत्यादि में 'अलम्' पद में यद्यपि काव्य है और उसी भाग से सम्पूर्ण श्लोक वैशिष्ट्यपूर्ण होता हुआ, उत्तम कोटि का काव्य बन जाता है। जैसे किसी एक अंग में किया जानेवाला वैसे ही उसका सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव पड़ता है। उसी प्रकार व्यंग्य के अन्य भेद जहाँ भी काव्य में रहते हैं, वह काव्य प्राणवान् हो जाता है। यही तात्पर्य का 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहने का।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है 'ध्वनि काव्य विशेष' जैसे काव्य सामान्य की आत्मा होगा?

इसका समाधान आनन्दवर्धन ने अपनी उक्त कारिका द्वारा किया है[1] कि ध्वनि-काव्य विशुद्धरूप में उत्तमोत्तम के समान है अर्थात् जैसे देवरूप में उत्तमोत्तम एक पुरुष विशेष है। उसी पुरुष-विशेष के कारण उस स्थान का महत्व है, वह विशुद्धरूप है।

उस पुरुष-विशेष के अभाव में वह स्थान, देवरूप नहीं, केवल पुरुष-मात्र रह जायेगा। अतः वह उत्तमोत्तम देवरूप का प्राणभूत है। उसी प्रकार 'काव्य-सामान्य' में 'ध्वनि काव्यविशेष'प्राणभूत अंश है। उस काव्य विशेष के अभाव में काव्य' काव्य ही नहीं होगा। काव्य का चित्र मात्र रह जायेगा। इसीलिए आनन्दवर्धन ने इस प्रकार कहा है - 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'।

(२) यहाँ'आत्मा'शब्द का स्वभाव या स्वरूप अर्थ भी माना जा सकता है। अर्थात् 'काव्यस्यात्मा-ध्वनिः' कहने का तात्पर्य होगा कि काव्य का स्वभाव या स्वरूप ध्वनि ही है।'आत्मा'शब्द का स्वभाव अर्थ में आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में अन्य स्थल पर भी प्रयोग किया है। यथा -'काव्यव्यवहारस्यास्य: शब्दात्मा (अर्थात् शब्दस्वभाव:) काव्यविदि व्यवहारो व्यंजकत्वाच्छब्दानां ध्वनिरित्युक्त:'[2] इत्यादि।[3]

१- पितः प्रेमसुखस्पर्शं जातवेदो द्वितीयकम्।
अत्रैतौ पुरुषौ किञ्चित् सन्ध्यां वेलां तनुः।
विशुद्धादिषि प्रकृति काव्यस्यैवमवस्थितौ सत्यां,
यायां स्यादुत्तमो यद्वत् स पुरुषस्तथायमस्तथाविधम्॥ काव्यप्रकाश पृ० ३०

२- काव्यस्यैऽविवक्षितवाच्ये विशुद्धोदाने ध्वनिर्गीडिः
सोऽयं प्रभेदरूपतामनधिगा गौण्यादिरस्तु सर्वात्मत्वात्॥ ध्व० पृ० ४४२

३- ध्व० पृ० ९३

इस प्रकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के दो अर्थ हो सकते हैं -

(१) वास्तु-अंश

(२) स्वभाव, स्वरूप या प्रकार

२- 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः'[१] में प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ - प्राणभूत या सारभूत तत्त्व है। अर्थात् ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्त्व है। अर्थात् ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्त्व - सहृदयश्लाघ्य, व्यंग्यार्थ है।

इस प्रकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' और 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः' इन दोनों कारिकाओं में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इनकी संगति इस प्रकार होती है -

काव्य-सामान्य का वास्तु-अंश ध्वनि-काव्यविशेष[२] अथवा 'ध्वनि' काव्य का इस प्रकार है।[३] और उस ध्वनि-काव्य का प्राणभूत-तत्त्व व्यंग्यार्थ है।[४] यह आनन्दवर्धन का सिद्धान्त है।

किन्तु अभिनवगुप्त की लोचन टीका आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मन्तव्य को स्पष्ट नहीं करती।[५] अभिनव गुप्त 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का अर्थ करते हैं - काव्य की आत्मा[६] ध्वनि है। पुनः 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थित-

---

१- ध्व० १।२ २- ध्वनिः काव्यविशेष एवोक्तः। ध्व० पृ० ३००

३- ध्वनिर्विधिः प्रकारः काव्यस्य..... । वही पृ० ४६८

४- मुख्यया वृत्त्यावगतो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। वही पृ० २७८

५- (१) द्र०लो०पृ० ६-२१ (२) वही पृ० ४२-४६

६- अभिनवगुप्त की मान्यतानुसार आत्मा' पद का अर्थ- प्राणभूत या सारभूत तत्त्व के अतिरिक्त स्वभाव, स्वरूप या प्रकार भी होता है। तभी तो वे व्यक्ति-विवेक (२।३) में प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ करते हैं -'आत्मशब्दः स्वभावस्वरूपप्रकारवाचः'(लो०पृ०२७८)। और ध्व० ३।६ की वृत्ति में भी 'व्यक्त्यात्मतार्थ' की व्याख्या करते हुए कहते हैं -'व्यक्त्यात्मा व्यक्तिस्वभावो'(लो०पृ०४६६) किन्तु 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ- सारभूत के अतिरिक्त स्वभाव, स्वरूप या प्रकार भी हो सकता है- इस तथ्य की ओर उनका ध्यान नहीं है।

व्यक्तिरूप[1] में 'अंग्य अर्थ' को काव्य की आत्मा कहा जा रहा है। यहाँ आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में विरोधाभास प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा तो एक ही हो सकता है, दो नहीं। अभिनवगुप्त यह निर्णय नहीं कर पाते कि काव्य की आत्मा ध्वनि है या अंग्यार्थ? अन्ततः दोनों को ध्वनि रूप मान लेते हैं[2] और इसी रूप में इन दोनों को 'लोचन' में रखते हैं। वस्तुतः अभिनवगुप्त की लोचन टीका की लोकप्रियता का मूल कारण ध्वनि और प्रतीयमान-अर्थ में ऐक्य की प्राप्ति ही है।

ध्वनि और प्रतीयमानार्थ का पार्थक्य - जैसा कि ऊपर कहा गया है - काव्य-सामान्य में ध्वनि काव्यविशेष सार-अंश रूप है और प्रतीयमानार्थ या अंग्यार्थ रूप ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्व है। यह आनन्दवर्धन का दीपक-वत् सिद्धान्त है।

परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त द्वितीय कारिका के पूर्व कही गई पंक्ति - 'तत्र ध्वनिरेव तावत्काव्यस्य मुख्यां वृत्तिमनुवृत्तो'[3].....इत्यादि- की व्याख्या इस प्रकार करते हैं --

'..... तथा ध्वनिरूपे प्रतीयमानार्थे निरवधिके[4].....' इत्यादि यहां अभिनवगुप्त कह रहे हैं कि प्रतीयमान नामक ध्वनि स्वरूप का निरूपण होने पर इत्यादि। यदि ध्वनि-स्वरूप 'प्रतीयमान' नामक है तो 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि ही ध्वनि की परिभाषा हो जाती। फिर २रवीं कारिका में 'यत्नार्थः शब्दो वा तमर्थं' इत्यादि जो ध्वनि की परिभाषा प्रस्तुत की गई है, वह पुनरुक्त हो जाती, पुनरुक्त हो जाने पर भी यदि दोनों कारिकाओं में पृथक् पृथक् नाम हों तब कोई बाधा नहीं। किन्तु, दोनों कारिकाओं में

१- ध्वनिरूपेऽपि प्रतीयमानाख्ये निरवधिके इत्यादि। लो० पृ० ४२

२- ध्व० पृ० ४२ ३- लो० पृ० ४२

४- ध्व० १।४.

प्रकृत तत्त्व भिन्न हैं। अतः दोनों की व्याप्ति का स्वरूप मानना उचित नहीं है क्योंकि एक वस्तु की परिभाषा का एक ही स्वरूप होता है। भिन्न भिन्न नहीं।

इस प्रकार का आक्षेप अत्यन्त उग्र है यदि आनन्दवर्धन के उपर्युक्त सिद्धान्त को अच्छीतरह समझ लिया जाए कि - व्याप्ति वस्तुतः सहृदय ज्ञाप्य ज्ञापकत्व रूपी उपाय का सार अंश है और प्रतीयमानार्थ व्याप्तिज्ञाप्य अर्थात् ज्ञाप्यत्व(वस्तुतत्त्व) है। तब इस प्रकार की शंका का कोई अवसर ही नहीं उठता। अभिनवगुप्त भी यह कहते हैं - प्रतीयमान मानक व्याप्ति स्वरूप इत्यादि वह उचित भ्रान्तिवाद है। उन्होंने 'इत्र व्याप्तिरेव..... इत्यादि' की व्याख्या ठीक नहीं की। वस्तुतः ध्व० १।२ से ध्व० १।१२ तक का भाग व्याप्ति की परिभाषा के पूर्व भूमिका भाग है जो व्याप्ति के प्रतिपाद्य अंग्यार्थ का परिचय करा रहा है। अतः ध्व० १।२ से ध्व० १।१२ तक अंग्यार्थ का विवेचन व्याप्ति स्वरूप को सुनिश्चित करने के लिए ही किया गया है। आनन्दवर्धन ने स्वयं ध्व० १।१२ के अन्त में वृत्तिभाग में कहा है -

'एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यंग्यस्यावश्यं वृत्तेरापि प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोक्तव्यत्वात्'[1]।

(अर्थात् - वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ का सद्भाव प्रतिपादित करके, प्रकृत अर्थात् ध्वनि-स्वरूप में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं।)

अतः यह निश्चित है कि व्याप्ति और प्रतीयमान भिन्न हैं। इनके स्वरूप को परस्पर मिलाना नहीं चाहिए।

प्रतीयमानार्थ के भेद - प्रतीयमानार्थ या व्यंग्यार्थ के तीन भेद[2] हैं -

(१) वस्तुव्यंग्य
(२) अलंकार व्यंग्य
(३) रसादि व्यंग्य

१- ध्व० पृ० १०१ ।

२- (१) स च द्विधा.... वस्त्वलंकाररसादय: - वही पृ० ५०
(२) प्रतीयमानो हि द्विविधोऽपि: प्राक्प्रसिद्धि: - वही पृ० ४६५

(ध्व० १।१) 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इत्यादि का जो व्याख्यान अभिनव-गुप्त ने किया है, उसमें कुछ उन्होंने अपनी ओर से भी जोड़ा है। उसे लोचन की निम्नपंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

'स एवेति प्रतीयमानस्यापि मुख्यस्य तुरीय स्य रसध्वनिरिति भावः ... तेन स एव वस्तुन आत्मा, यस्त्वलंकारध्वनी तु अलंका एवं प्रति पर्यवस्यतीति काव्यानुपपत्तौ तात्पर्यविग्रहेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में अभिनवगुप्त वस्तु, अलंकार एवं रस को 'ध्वनि' कह रहे हैं,+ [illegible] तथा रसध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हैं। किन्तु आनन्दवर्धन ने सम्पूर्ण ध्वन्या-लोक में कहीं भी 'वस्तु अलंकार एवं रस' को 'ध्वनि' संज्ञा नहीं दी है। वस्तु 'व्यंग्यार्थ' संज्ञा दी है। और 'व्यंग्यार्थ' को ध्वनि काव्य की आत्मा मानते हैं, रसध्वनि को नहीं। वस्तु 'रसव्यंग्य' को काव्य का प्रधानभूत तत्व माना है।

प्रतीयमान के विविध भेदों में से वस्तु, अलंकार एवं रसादि व्यंग्य में से रसादिव्यंग्य का व्याख्यान अभिनवगुप्त कुछ अपनी ओर से करते हैं। रसादिव्यंग्य का परिचय देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

वह काव्य की सम्पूर्ण से व्याप्त होकर प्रकाशित होता है। वह सामान्य शब्द-व्यापार का विषय नहीं है। जहाँ केवल शृंगार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो, वहाँ थोड़ी मात्रा में भी रस प्रतीति नहीं होती। और यदि शब्दज्ञ का अभिधान न हो, तब भी केवल विशिष्ट विभाव आदि द्वारा रसादि की प्रतीति होती है। अतः रसादि अभिधेय(काव्य) की सम्पूर्ण से ही व्याप्त होते हैं, न कि अभिधेयत्व(काव्यत्व)। - यह आनन्द-वर्धन का सिद्धान्त है।

1- लो० पृ० ८४-८५.

२- (i) वही पृ० ५०.
(ii) यदि आनन्दवर्धन कहीं वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि या 'रसध्वनि' जैसा प्रयोग करते भी हैं तो वहाँ 'वस्तु, अलंकार रस का व्यंग्यो यस्मिन् स चासौ वस्तुध्वनिः अलङ्कारध्वनिः रसध्वनिः वा' - इस प्रकार का मध्यमपदलोपी समास मानना चाहिए।

३- (१) काव्यस्यात्मा स एवार्थः इत्यस्य। ध्व० पृ० ७७।

(२) प्रतीयमानस्य मुख्यस्यापीत्यत्र रसादीनामपि प्राधान्यात् ध्व० ८१-८०

(३) अपने मूल्य - आनन्दवर्धन में डा० देवीप्रसाद त्रिवेदी ने यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि ध्वन्यालोक के अध्येताओं से हमारा अनुरोध है कि वे इस मूल्य का अध्ययन स्वतंत्र रूप से करें। इसके लिए सम्पादक लोचन पर निर्भर न रहें वे स्वयं इस ग्रन्थ पर अवलंबित हो गए हैं। वे लिखते हैं-

अभिनवगुप्त 'लोचन' में उपर्युक्त अंश का व्याख्यान अपने ढंग से करते हैं -

'अभिधेयोत्थ वाच्यपूर्व रसादिरिति विशेषणं रसध्वनौ उपचरित व्यंग्ये, अभिधेयत्व च पुनरन्यत्रार्थभित्तयोगपद्येनोपायो वाच्यव्यतिरिक्ते विभावोक्तानुभावव्यभिचारिसंघातोक्तिविषयत्वेन वाचकानुव्यापारविषयत्वेन वाचकानुव्यापारव्यतिरिक्ते व्यंग्ये रसादौ इति: विभिन्नवस्तुविषयवाचकत्वमिति अत्रापि उपायोपेयभावं व्यापार: । एवं हि पदानुप्रासादौ दुष्यित: विभिन्नवस्तु एवंविधदुष्यित:, एवंविधेनोपायेन दुष्यित: व्यंग्यविशेषेणोपेयभूत: वाचकानुव्यापारव्यतिरेकेण दुष्यित: व्यंग्यविशेषेणोपेयभूत: '।

यहाँ वाचकत्वमात्र को ही केवल रसादिगत का अभिधेय के वाच्यपूर्व से व्यतिरिक्तत्व बताना ही अभीष्ट है । किन्तु अभिनवगुप्त अपने इस कथन से मूल-वाक्य का इस प्रकार विशेषीकरण करते हैं जिसमें वे स्वयं अपनी ही बात पुष्टता से रख सकें हैं ।

रसादि का महत्व - व्यंग्यार्थ के प्रकरण में वस्तुव्यंग्य एवं अलंकार व्यंग्य की अपेक्षा रसादि व्यंग्य ही प्रधान है । आनन्दवर्धन स्वयं ध्व० १।५ में कहते हैं- 'काव्यात्मा स ध्वनि:' इत्यादि । अर्थात् काव्य की आत्मा वही(रसादि) व्यंग्यार्थ है । इसमें 'स एव' से यह प्रतीत होता है कि व्यंग्यार्थ के अन्तर्गत भी हैं अर्थात् वस्तु व्यंग्य और अलंकार व्यंग्य । और वाच्यार्थ इन दो व्यंग्यार्थों को ध्वनि काव्य की आत्मा - 'यो5र्थ: सहृदयश्लाघ्य: काव्यात्मेति व्यवस्थित:' इत्यादि(ध्व०१।२) में पहले ही कहा जा चुका है । तथापि ध्व० १।५ में रसादादि को विशेष रूप से उसकी महत्ता के कारण प्रतिपादित किया गया है । यथा-

---

पिछले पृष्ठ का शेष अंश - ध्वनि के तीन भेद हैं - वस्तु अलंकार और रस । इनमें से जो रस काव्य व्यभिचेद है इस पर और अधिक ध्यान देना चाहिए । इसी व्यक्तियों में यही रस ध्वनि है जिसे वस्तुत: काव्यात्मा कहा जा सकता है । इत्यादि (आनन्दवर्धन पृष्ठ ३८) आनन्दवर्धन ने वस्तु, अलंकार और रसादि को ध्वनि का भेद नहीं वस्तु व्यंग्यार्थ का भेद कहा है । ध्वनि के भेद तो अविवक्षितवाच्य और और विवक्षितान्यपरवाच्य हैं। और रसध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं कहा है। यद्यपि उन्होंने ध्वनिकाव्य में रसव्यंग्य की प्रधानता प्रतिपादित की है ।

५- ध्व० पृ० ७८-७९ ।

'प्रतीयमानस्य वाच्यापेक्षयाऽपि रसादेरुत्तमोत्तमतानं प्राधान्यात्' यहां पर रसादि का अभिप्राय 'रसादि' से है। दूसरे शब्द पर आनन्दवर्धन कहते हैं — वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य की विवक्षा काव्यत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है, उसके अनुसार जैसे रस व्यंग्य ही काव्य की आत्मा बना रहे, वह आवश्यक नहीं, वहीं वहीं वस्तु और अलंकार व्यंग्य भी काव्य की आत्मा हो सकते हैं।

'प्रतीयमानस्य वाच्यापेक्षयाऽपि रसादेरुत्तमोत्तमतानं प्राधान्यात्' — इस मूलांश में प्रयुक्त 'प्राधान्यात्' पद की व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं-

'प्राधान्यादिति। रसवदलंकाराश्चित्यर्थः। तात्पर्याश्रयेणान्यतापि वाच्यताव्यवहाराश्रयेण वस्तुनोऽलंकारस्यापि वीक्षितत्वोचित्यानुसन्धिति भावः'।[1]

अभिनवगुप्त के अनुसार से यह ज्ञात होता है कि 'वस्तु और अलंकार' व्यंग्यार्थ के प्रकार होने पर भी तथा प्रधान होते हुए भी रस में ही पर्यवसित होने के कारण उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। वे केवल रस के उत्कर्ष में सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार अभिनवगुप्त का मत है कि वाच्य व्यंग्य आदि के प्रधान होने पर भी वे काव्य की आत्मा नहीं बन सकते। उचित रस के उपकारक होकर ही रह सकते हैं। अतः काव्य का प्रधानतत्व और अनुपेक्षित विषय 'रस' ही है। वस्तु और अलंकार इस दोनों तब ही प्रधान माने जा सकते हैं। यह दोनों है - रसमात्र वाच्यार्थ से प्रधान होना।

अतः 'रस ही काव्य का प्रधानभूत तत्व है, तथा वस्तु एवं अलंकार, रस में ही पर्यवसित हो जाते हैं'- अभिनव के इस कथन से यह शंका हो सकती है कि ध्वनि को एक काव्य प्रकार बताना और उस ध्वनि काव्य की आत्मा व्यंग्यार्थ मानना तथा व्यंग्यार्थ के तीन प्रकार - वस्तु, अलंकार और रसादि को मानने की क्या संगति है? प्रश्न उठता है, आनन्दवर्धन ने दोनों-दोनों रस को ही काव्य की आत्मा क्यों नहीं कह दिया?

१- ध्व० पृ० ६०

उसका समावेश आनन्दवर्धन ने ही ध्वनि में किया है। उदाहरणार्थ सम्पूर्ण रामायण एक काव्य है और उस काव्य के अलग-अलग पद भी काव्य कोटि में आते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण संरचना भी काव्य हो सकता है और उस संरचना का एक पद भी काव्य हो सकता है। एक सम्पूर्ण प्रबन्ध काव्य में कोई एक रस अवश्य प्रधान रहता है। किन्तु साथ ही कुछ वर्णों में 'वस्तु ध्वन्य' है ही चमत्कार मिलता है, और कुछ में 'अलंकार' है। यह सिद्धान्त है - जहां वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान हो, वहां ध्वनि काव्य होता है। प्रधान व्यंग्यार्थ - वस्तुध्वन्य भी हो सकता है, अलंकारध्वन्य भी और रसध्वन्य भी। जिस प्रकार 'रसध्वन्य' के प्रधान होने पर उसे 'ध्वनिकाव्य' कहा जा सकता है उसी प्रकार 'वस्तु और अलंकार ध्वन्य' के प्रधान होने पर भी 'ध्वनि काव्य' कहा जा सकता है। यही कारण है कि आनन्दवर्धन को रस के साथ वस्तु, अलंकार ध्वन्य भी कहना अभीष्ट था। अतएव उन्होंने अतिविस्तृत क्षेत्र वाले 'ध्वनि' को काव्य कहा है।

यह बात सत्य है कि वस्तु और अलंकार की अपेक्षा रसध्वन्य अधिक महत्वपूर्ण है। उससे काव्य में विशेष चारुत्व आता है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने रसध्वन्य का महत्व स्थल-स्थल पर प्रतिपादित किया है।

(१) काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा वृत्तमनुसृत्य क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगजः शोकः श्लोकत्वमापद्यत इति (ध्व० १।५)

(२) रसादिरूपव्यंग्यात्मभूतामेनां पुरातनैः कथामाश्रित्य रामायणमहाभारतादिषु प्रबन्धेषु रसादयः प्रधानतया व्यवस्थापिताः। तैश्च तत्र वाच्यप्रतिनियमरूपिण्या वृत्तेरनौचित्यात् परित्यक्तत्वात् रसाद्याक्षिप्ततया व्यंग्यत्वमापादितम्। अतस्तत्र

(२) रसभावादितात्पर्यभाविताः काव्यविशेषाः इति ।
अलंकारनिबन्धो वः स चित्रविषयोक्तः ।। ध्व०वृ० ४६७

(३) यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते ।
संवृत्त्याभिहितौ वस्तु तदाऽलंकार एव वा ।।
काव्यात्मनि ध्वनिर्योऽयमुपरिष्टान्व्यवस्थितः ।
असौ सत्त्व विचारौ त्रैव: समुपयोगी: ।। ध्व०वृ० ६००-६०१

ध्वनि की परिभाषा या लक्षण -

ध्वनि का लक्षण आनन्दवर्धन इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं[1] -

यहां वाच्य अर्थ अपने(स्वरूप) को तथा वाचक शब्द अपने वाच्य अर्थ को गौण (अप्रधान) बनाकर, उस प्रतीयमान अथवा व्यंग्य-अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करते हैं, विद्वान् उस काव्य-विशेष को ध्वनि कहते हैं ।

काव्यविशेष की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं - 'काव्यं च तद्विशेषश्चासौ । काव्यस्य वा विशेषः[2] । अर्थात् काव्य और उसका विशेष इस प्रकार (कर्मधारय समास) या काव्य का विशेष इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा 'काव्यविशेष' को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । किन्तु इस व्याख्या में 'सत्' और 'असत्' की संगति कैसे बैठ पायेगी, अभिनवगुप्त को इसकी चिन्ता नहीं है ।

ध्वनि के पांच अर्थ -

तदनन्तर, अभिनवगुप्त स्वयं मानते हुए भी कि कारिका में आनन्दवर्धन को केवल काव्यविशेष को ही ध्वनि कहना अभीष्ट है, फिर भी (१।१३ कारिका के बहाने) ध्वनि के पांच अर्थ गिनाते हैं[3] -

---

१- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। ध्व० १।१३

२- किन्तु 'विशेष' शब्द का समास आने पर इस प्रकार का विग्रह प्रायः नहीं किया जाता । अभिनव ने केवल अपनी व्याख्या की संगति बैठाने के लिए यह विग्रह किया है ।

३- अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा व्यनक्तीति,शब्दो चेतनः । व्यंग्यो वा व्यक्त इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्व्यञ्जनमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । लो० पृ० २०५-२०६ ।

१- व्यंग्य अर्थ
२- वाचक शब्द
३- वाच्य अर्थ
४- व्यंजना व्यापार
५- अनुराग तथा काव्य ।

अभिनवगुप्त[१], ध्वनि के सब पांच अर्थ वृत्ति के निम्नलिखित अंश से निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं -

'तत्रैवान्यैस्तत्प्रकाशानुकारिभि: सूरिभि: काव्यस्यार्थं पदैरभिव्यक्तिप्रकाशस्य: शब्दात्मा काव्यमिति व्यवहरन्ती व्यंजकत्वाच्छब्दाद् व्यतिरिच्यते:'[२]

वस्तुत: वृत्ति के इस अंश से ध्वनि के पांच अर्थ निकालना दुष्कर है तथापि अभिनवगुप्त पांच अर्थ भिन्न प्रकार से निकालते हैं -

'अभिनवगुप्त वाच्यवाचकस्थिम:', 'शब्दात्मा' और 'काव्यमिति व्यवहरती' में प्रत्येक पद को पृथक् पृथक् 'व्यतिरिच्यते:' से सम्बद्ध करना चाहते हैं । अभिनव के अनुसार 'वाच्य-वाचकस्थिम:' में तीन तत्व हैं -

१- वाच्यार्थ
२- वाचक शब्द
३- स्थिम = व्यंग्यार्थ

स्थिम: पद की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं - स्थिम्नो स्थितावनुवाद: व्यंजनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनि: । अत: अभिनव के अनुसार व्यंग्यार्थ भी ध्वनि है ।

शब्दात्मा की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं - 'शब्दनं शब्द: शब्दव्यापार: .... यदि स्वात्मभूत: सोऽपि व्यवहरन् ध्वनि:' इस प्रकार व्यंजना व्यापार भी ध्वनि है

४- शब्दात्मा = व्यंजना व्यापार
५- काव्यमिति = ध्वनि काव्य

१- डा० सुबल चन्द्र दास ने The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics. में पृ० ७८-७९ पर दिखाया है कि अभिनवगुप्त किस प्रकार ध्वनि के इन पांच अर्थों को निकालते हैं । इन्होंने बड़ी ही बुद्धिपूर्वक इन स्थलों को भी खोजा है जहां से अभिनव ने अभिनव द्वारा कहे गए । ध्वनि के इन पांच अर्थों की सम्भावना हो सकती है ।

२- ध्व० पृ० १११ ३-४ - वो० पृ० १११

अभिनवगुप्त का यह तर्क बाद विवाद आवश्यक विस्तार प्रतीत होता है। और उनकी यह दीर्घतापी से अनुवर्ती को उद्वेग होता है।

उपर्युक्त कथन में कुछ विशेष तथ्य अवश्य हैं -

काव्य में शब्दों के साथ अर्थ भी होते हैं। इसीलिए आनन्दवर्धन स्पष्ट रूप से कहते हैं - काव्यशब्दोऽयम् गुणवात्वा काव्यमिति व्यपदेश्यः इत्यादि। अर्थात् गुणवत्व लक्षण काव्य में काव्य शब्द का आधिक्य होता है। अतः आनन्दवर्धन के इस कथन को अधिक महत्व देना अर्थ नहीं निकालना चाहिए बल्कि यह पूरा कथन सापेक्ष है।

किन्तु अभिनवगुप्त ने इसका खण्डन करते, प्रत्येक पद का विश्लेषण करते पांच अर्थ निकालने का प्रयत्न किया है।इसमें उनके अनुसार शब्द,अर्थ और अनुप्रास को काव्य कह भी दिया जाय, फिर भी प्रश्न उठता है कि क्यों अभिनव गुप्त व्यंग्य अर्थ और व्यंजना व्यापार को ध्वनि कहने के लिए आतुर हैं ? संक्षेपतः अभिनव के अनुसार इसका हेतु यह ही लगता है कि[१] (ध्व०१।२) में अनुवर्ती द्वारा प्रतिपादित व्यंग्यार्थ को ध्वनिकाव्य की आत्मा कहा गया है तथा ध्व० १।५ में रसव्यंग्य को विशेष रूप से काव्य का प्राणभूत कहा गया है। इन्हीं सब कारणों से अभिनव ने ध्वनि के व्यंग्यार्थ का वाचक न मान कर व्यंग्यार्थ को भी ध्वनि ही कह दिया

और, अभिनवगुप्त व्यंजना व्यापार को ध्वनि किस युक्ति से कह रहे हैं ? यह हम और लगाया है। आनन्दवर्धन अपने ध्वनि सिद्धान्त विरोधियों को ध्यान में रखकर गुणवृत्ति इत्यादि का खण्डन करते हैं -

(१) अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितः काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः (ध्व० पृ० २८)

(२) यदप्युक्तं गतिर्व्यक्तिरिति (ध्व० पृ० १४१)

ऐसे कथनों से , सम्भवतः अभिनवगुप्त यह समझ रहे हैं कि आनन्दवर्धन गुणवृत्ति का विरोध करते व्यंजावृत्ति कहना चाह रहे हैं। अतः व्यंजना-व्यापार को भी ध्वनि कह दिया जाय। यही सोच कर शायद अभिनव ने व्यंजना-व्यापार को भी ध्वनि कहा है।

१.२- पु० The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics पृ० ८२

अग्निमित्र ने तो व्याप्ति के इन चारों अर्थों की पुष्टि हेतु वाक्यवदीय से प्रमाण भी उपस्थित किए हैं। कुछ भी हो, व्याप्ति के इन चार अर्थों के विषय में विद्वान भी विभेद है, यह संकेत निश्चित एवं अन्तिम नहीं है।क्योंकि आनन्दवर्धन ने व्याप्ति को काव्य मानने का केवल एक कारण दिया है -'अंशांशि-भावात्' - वो न अंग्य अर्थ में है और न अंशवा आधार में। अंशक शब्द, अर्थ इत्यादि को आनन्दवर्धन ने कहीं भी व्याप्ति नहीं कहा है। वस्तु यह सब तो व्याप्ति काव्य के अंग मात्र हैं। जैसे मनुष्य का एक पूरा शरीर होता है और उसमें हाथ, पैर, आँख,कान,नाक आदि विभिन्न अंग होते हैं उसी प्रकार व्याप्ति काव्य रूप शरीर के अंशक अर्थ, अंशक शब्द,अंशवा आधार आदि विभिन्न अंग हैं। अतः अंशक शब्दार्थादि को व्याप्ति कहना वैसे ही अनुचित होगा जैसे कि हाथ या शरीर के किसी एक अवयव को शरीर कहना।

अग्निमित्र के परवर्ती आचार्यों ने अग्निमित्र द्वारा प्रतिपादित व्याप्ति के चार अर्थों को स्वीकार भी कर लिया। इन लोगों ने आनन्दवर्धन से अधिक अग्निमित्र को प्रमाण माना और इस प्रकार आनन्दवर्धन के 'आलोक' को अग्नि-मित्र के 'लोचन' से कहना अपने बुद्धि लोचन से नहीं।

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत की अग्रिम कारिका(२।११) में आनन्दवर्धन व्याप्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

इसी प्रकार में स्फुट रूप से संसृष्ट अंग्य का अनाक्षिप्त होना ही व्याप्ति का पूर्ण त्राण है।

किन्तु अग्निमित्र इस कारिका की व्याख्या करते हुए विभिन्न ढंग से कहते हैं -

अनाक्षेपमिति। नाक्षेपमनाक्षेपमिति न्यायबलाल्लभ्यम्। व्याप्ति स्त्राणं व्याप्तेः स्वकं पूर्णम्, अनाक्षेपं वा त्राणं तत्त्वमेवेत्राणं स्त्राणं, तस्य पूर्णं, पूर्णव्याप्तिसम्भवनिबन्धनत्वात्। अथ वा त्राणेन व्याप्ति स्त्राणं, स्त्राणस्य त्राणत्वनिबन्धनत्वात्।

१- संसृष्टेन स्फुटत्वेनाक्षेपाक्षम्।
संसृष्टांग्यस्यानिक्षेपस्त्राणं पूर्णं व्याप्तिस्त्राणम् ॥(ध्व० २।११)

२- डॉ० पु० इतं - २७७

वसिष्ठसुत्र एक एक पद का शब्द शब्द करके अर्थ निकाल रहे हैं। किन्तु वात्स्यायन[क] होने से सूत्र -'अन्य अर्थ का बोध कर के असाधित होना ही व्याप्ति का पूर्ण ज्ञान है'- इस सूत्र को न छू कर अर्थ प्राप्ति प्रामाण्यवाद कहते हैं और असाधित अर्थ निकालते हैं और अन्त में कहते हैं - ज्ञान ही व्याप्ति का प्रमाण है।

निःसन्देह वसिष्ठसुत्र का लौकिक व्याप्ति सिद्धान्त को स्पष्ट करने के स्थान पर और अधिक उलझा देता है।

व्याप्ति के विरोधी - वात्स्यायन ने न्यायभाष्य के प्रारम्भ में ही व्याप्ति-सिद्धान्त के तीन विरोधियों की स्थापना की है -

१- अनाप्तवादी
२- नास्तिकवादी
३- वसिष्ठसूत्रार्थवादी

वात्स्यायन का व्याप्ति विरोधियों को उत्तर - प्रथम कारिका की वृत्ति में वात्स्यायन कहते हैं -

'.....[१]अनवबोधिनामाप्तोपनिषदनुसारिलक्षणोपपत्तिरपि... ..प्र..' इत्यादि।

वसिष्ठसुत्र इस अंश का व्याख्यान लौकिक में करते हैं -[२]'..... अतोऽन्य नास्तिकसूत्रार्थोपनिषिद्धलक्षणोद्धरणं दूषयति - अनेत्यादिना'।

इसका मतलब - यहाँ पर प्रत्येक पद की विवेचना करते वसिष्ठसुत्र - अनाप्तवाद, नास्तिकवाद एवं वसिष्ठसूत्रार्थवाद का निराकरण भी करते हैं।[३]

१- न्या० पृ० ३१ २- लौ० पृ० ३०

३- अनवबोधिनामनधिगतेन च प्रकारेण वसिष्ठसूत्रेणेति निराकरोति। वसिष्ठसूत्रेणेति नास्तिकसूत्रविशेषणम्। न खलु 'सिंधौ वटुः' 'गंगायां घोषः' शेष अंश अगले पृष्ठ पर

यहां यह विचारणीय है कि किस व्याप्ति लक्षण को लेकर व्याप्ति विरोधियों का निराकरण प्रथम कारिका में ही कर दिया गया ? न्या० १।१३ वीं कारिका में व्याप्ति लक्षण निरूपण के अनन्तर सकल व्याप्ति विरोधियों का निराकरण होगा । किन्तु अभिनवगुप्त ने न्या० १।१३ वीं कारिका के आधार पर न्या० १।९ में ही अन्यथानुपपत्ति लक्षणाभास के व्याप्ति विरोधियों का निराकरण किया है ।

व्याप्ति ज्ञान का भेद - व्याप्ति विरोधियों ने व्याप्तिज्ञान को ज्ञान की किसी एक विधा में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया था किन्तु व्याप्ति के स्वयं ही अनन्त भेद हैं । अतः वह ज्ञान की किसी एक विधा में अन्तर्भूत नहीं हो सकता ।

आनन्दवर्धन ने व्याप्ति के भेद-प्रभेदों की अवधारणा है किन्तु अन्त में यह भी कहा है कि किसी के लिए भी व्याप्ति भेदों की गणना करना सम्भव नहीं । अतएव वह व्याप्ति भेदों का दिग्दर्शनमात्र करा पाते हैं ।[1] यद्यपि अभिनवगुप्त ,मम्मट और विश्वनाथ ने व्याप्ति भेदों की गणना करने का भी प्रयत्न किया है ।

आनन्दवर्धन ने व्याप्ति के सर्वप्रथम दो भेद किए -

(१) अविनाभावव्याप्ति और(२) विनाभावान्वयव्याप्ति ।

१- किसी पुस्तक का शेष अंश-

इत्थम् एतद्व्याप्तिम् अनिबन्धनतुल्यत्वेन तु अनुमितानुमानाकरणम् इत्यादि निराकुरुते । अनियतोपाधित्वादिना गुणालंकारान्वयभूतत्वं दूषयति । अथ भेदादिना अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिम् इत्यादिना अन्वयव्यतिरेकत्वं दोषितं । तस्मिन् राक्षसादीत्यादि । रामावणगतायाम् अन्वयव्याप्तेः प्रभृति सर्वेण एव दूरनिरस्तादरः भूत इति मन्यते । अन्यथाख्यातिरूपेण यावत् विज्ञानमिश्रम इति परामर्शति । अन्यथेऽभेदेति अन्यो अन्यात्मा । अनेन विज्ञानम् अन्यत्र,तेषां अन्यत्वादीनां विज्ञानाभिन्नत्वं: । (ध्व० पृ० २०-२८)

२- न भेदाभिन्नस्य व्यभिचारित्वानुपपत्तेरनुपलम्भस्य महाविषयस्य अनुपलम्भं तद्विरुद्धा-संभवाभावप्रतिपादनेन सुस्थानिति तदुपादित्सेतरार्थयुक्त एव संरम्भः ।

ध्व० पृ० २३६-२३५

२- ध्व० ३।३३ ३- ध्व० पृ० २३५-२३७

ध्वनि भेदों के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य उल्लेखनीय है - अभिनवगुप्त पहले ही कह आए हैं कि ध्वनि के तीन भेद हैं - वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसादिध्वनि । किन्तु आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त ध्वनि के सामान्यतः दो भेद बता रखे हैं - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य । अतएव अभिनवगुप्त के विचार में प्रश्न यह पैदा होता है कि यह भेदों की अव्यवस्था है ? यदि ध्वनि के ये ही सामान्य भेद हैं, तो फिर [illegible] — वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि - ध्वनि के कैसे भेद होंगे ? अतः इसकी संगति बैठाने के लिए वस्तुतः लिखते हैं -

वस्तु, अलंकार और रस रूप से तीन भेदों वाला भी, यह ध्वनि इन्हीं दोनों में अंतर्हित हो जाता है । इतना कहने के पश्चात् भी उन्हें संतोष नहीं हुआ । अतः और उपस्थित करते हैं - ध्वनि नाम के पश्चात् इस नाम के रखने का क्या लाभ है ? पुनः स्वयं समाधान प्रस्तुत करते हैं - इन दोनों नामों - (अविवक्षित-वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य) से ध्वनन रूप व्यापार में पूर्वोक्तिवाचित - अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप तीनों व्यापारों से अवगत अर्थ की प्रतीति का और प्रतिपत्ता या श्रोता में रहने वाली प्रबोधन के अभिप्राय रूप विवक्षा का सहकारित्व कहा है । इस प्रकार दोनों नामों से ध्वनि का स्वरूप ही प्रोन्मीलित है ।

वस्तुतः अभिनवगुप्त का यह व्याख्यान भ्रान्तिमूलक है । उन्होंने प्रतीयमान ध्वनि समझ लिया । यदि प्रतीयमान अर्थ को अर्थ को ध्वनि से पृथक् मानते और ध्वनि का जो स्वरूप आनन्दवर्धन ने परिभाषित किया है, उसे समझते तो यह बुद्धि व्यामोह न होता और न इतना अर्थ का श्रम करना पड़ता, जिससे उनकी व्याख्या भी जटिल हो गई । आनन्दवर्धन का सिद्धान्त इतना स्पष्ट है कि उसे किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं । ध्वनि के दो भेद हैं - अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपरवाच्य । अर्थान्तर के तीन भेद -

---

१,२,३- सामान्येनेति । वस्त्वलंकाररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरनयोरन्तर्भूत इति भावः । ननु तन्नामपृष्ठे तत्सामान्यनिर्देशस्य किं फलम् ? उच्यते - अनेन हि नामद्वयेन ध्वननव्यापारे पूर्वोक्तिवाभिधातात्पर्य-लक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगताया: प्रबोधनाभिप्राय-रूपायाश्च विवक्षाया: सहकारित्वमुक्तमिति ध्वनिस्वरूपं नामद्वयेन प्रोन्मीलितम् । (लो० पृ० १३७)

वस्तु, अलंकार और रसादि । यह बात दूसरी है कि ये दोनों पद किसी को स्पष्ट विवेच्य के साथ, जैसे आचार्यमम्मट ने इसे प्रस्तुत किया है -[१]

संलक्ष्यक्रम पुनरस्य व्यंग्यस्यो भेदाः ,व्यंग्यस्य विशेषत्वात्

किन्तु , अग्निपुराण की तो व्याप्ति - व्यंग्य अर्थ के रूप में ही विशेष विचारणीय पक्षता है । काव्यरूप में तो ये उपचारतः मानते हैं । लोचन टीका की उलझनों और मूल अवधारणा का मूल कारण इनकी यही भ्रान्ति है ।

व्याप्ति के द्वादशान्तः दो भेद बताए गए -

१- अविवक्षितवाच्य २- विवक्षितान्यपरवाच्य

अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं -

१- अत्यन्तिरस्कृतवाच्य और २- अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ।

ये दोनों भेद कहीं रस पद से प्रकाशित होते हैं, कहीं अलंक पदों से । अलंक पदों से प्रकाशित होने पर इन्हें वाक्य से प्रकाशित कहा जाता है । इस प्रकार इनके चार भेद हो गए -

१- पदप्रकाश्य अत्यन्तिरस्कृतवाच्य व्याप्ति ।

२- वाक्यप्रकाश्य अत्यन्तिरस्कृत वाच्यव्याप्ति ।

३- पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यव्याप्ति ।

४- वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यव्याप्ति ।

इन सब का विवेचन इस द्वितीय अध्याय में हो कर चुके हैं । प्रस्तुत प्रसंग में केवल पदप्रकाश्य और वाक्य प्रकाश्य अत्यन्तिरस्कृतवाच्यव्याप्ति के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है ।

व्याप्ति के दोनों भेदों अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य के पदप्रकाश्यत्व के विवेचन के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं कि व्याप्ति को काव्यविशेष कहा जा चुका है अतः अतः उसकी पदप्रकाश्यता पर शंका करते हुए कोई कह सकता है -[२]

१- काव्यप्रकाश पृ० २२६ २- ध्व० पृ० १००-१०१

'ननु व्यक्तिः काव्यविशेषः सम्पूर्णः सत्कवेः वचनरचना । काव्यविशेषोऽपि विशिष्टार्थप्रतिपादिकैकः उच्यतेऽनेनेति विशेषः । तस्मादत्र वचनरचनायां गौणवृत्त्या पदानां प्रकारत्वेनाप्रयोजकत्वात् ।'

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

'उच्यते - स्यादेष दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोक्तुं व्यक्तिव्यवहारे स्यात् । न त्वेवम्, तस्य व्यंजकत्वेन व्यवस्थापनात् ।'

अर्थात् व्यक्ति स्वरूप विवेचन का प्रयोजन व्यंजकत्व है, वाचकत्व नहीं । इसलिए पदप्रकाशत्व की अनुपपत्ति का कोई प्रश्न नहीं उठता । जिस प्रकार उक्ति के एक अंग में स्थित आनुषंगिक विशेष सम्पूर्ण शरीर को उद्दीप्त करता है, उसी प्रकार काव्य में पदों से हुई जो वाचक्य प्रतीति सम्पूर्ण काव्य में चारुता ला देती है । अतः काव्य में पदों के व्यंजक होने पर भी व्यक्तिव्यवहार किया जा सकता है ।

व्यक्तिविवेक के उपर्युक्त अंश का अभिनवगुप्त लोचन में अपने ढंग से व्याख्यान करते हुए कहते हैं -

'तस्मिति । अनुवाद एव व्यक्तिरित्यत्र पदे पर्यवसेत्'[१]

इस पंक्ति में प्रयुक्त 'पदे' पद से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त पूर्व प्रतिपादित[२] व्यक्ति के चार अर्थों में से अनुवाद वाले पदार्थ पर आक्षेप की बात कर रहे हैं । किन्तु आनन्दवर्धन को व्यक्ति के चारों अर्थ अभीष्ट ही नहीं हैं । उन्होंने व्यक्ति को मात्र एक काव्यविशेष के अर्थ में ग्रहण माना है और प्रस्तुत प्रसंग में भी आनन्दवर्धन को यही अर्थ अभिप्रेत है ।

उपर्युक्त संदर्भ में एक तथ्य अवश्य है - आनन्दवर्धन ने 'ननु व्यक्तिः..... से लेकर पदानां प्रकारत्वेनाप्रयोजकत्वात्' तक पूर्वपक्ष रखा है । उसके बाद सिद्धान्त रखा । किन्तु अभिनव गुप्त पूर्वपक्ष का और विस्तार करते हुए कहते हैं[३]:-

---

१- लो० पृ० १००
२- लो० पृ० १०४ — १०५.
३- लो० पृ० १०१

'यदि परो ब्रूयात्' - न मया अव्यापकत्वं व्यभिचारे हेतुत्वं यिं तूक्तं कार्यं यदि: । कार्यं यावत्कालप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति ब्रवीत - इत्यर्थः, यापि पदं न व्यभिचारित्वलक्षणाधिकरणम् । अथ तु ब्रूयाद् एव..... ।' इत्यादि

उपर्युक्त तथ्य अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में अपनी ओर से जोड़ा । आनन्दवर्धन तो केवल व्यभि व्यापक निरूपण का प्रयोजक-व्यापकत्व को नहीं किंतु व्यंग्यत्व को बताते हुए पदप्रकाश व्यभि का निरूपण कर रहे हैं । किन्तु, अभिनवगुप्त केवल ब्रूयाद् को ही व्यभि मानने वाले मीमांसक आदि के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन कर रहे हैं ।

- यहां अभिनवगुप्त सम्भावना कर रहे हैं - 'यदि परो ब्रूयात्' - यह पूर्व पक्ष है । इसकी 'कार्यं यावत्कालप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति ब्रवीत' - इत्यादि पंक्ति को देखने से स्पष्ट है कि यह अभिहितान्वयवादियों का मत है । क्योंकि, अभिहितान्वयवादी अभिहित पदार्थों से ही वाक्यार्थ बोध मानते हैं । अतएव अभिनवगुप्त ने यहां मीमांसकों का मत रखा है । किन्तु यहां एक शंका होती है - यदि यह मत मीमांसकों का है तो - 'यदि परो ब्रूयात् - न मया अव्यापकत्वं व्यभिचारे हेतुत्वं यिं तूक्तं कार्यं व्यभिः । कार्यं यावत्कालप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति' इत्यादि में निरन्तर व्यभि को स्वीकार किया गया है । किन्तु मीमांसक तो व्यभि को स्वीकार नहीं करते । अतः इस समस्या के दो पक्ष हो सकते हैं -

या तो यह सिद्धान्त किसी ऐसे आचार्य का है जो मीमांसकों के अन्विताभिधानवाद का समर्थक होने के साथ ही साथ व्यभि समर्थक भी है ।

या फिर अभिनव गुप्त ने 'यदि परो ब्रूयात्' कह कर, आचार्य का नाम अभिहित नहीं किया, और अच्छा अवसर पा कर व्यभिवादी और मीमांसक के सिद्धान्त का मिश्रण किया है । और मीमांसकों की ओर से उसे उपस्थित किया है, जो पदप्रकाशता को स्वीकार नहीं करते ।

वाच्य प्रकारक अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि -

आनन्दवर्धन ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है[1] -

विषमयिता: केषामपि केषामपि प्रीतयमृतान्यिताणि: ।
केषामपि विषममृतमय: केषामप्यविषमामृत: काय: ।।

अर्थात् अपना किसी के लिए विष बन जाता है, किसी के लिए अमृत, किसी के लिए विष और अमृत दोनों और किसी के लिए न विष और न अमृत ।

यहाँ 'विष' और 'अमृत' पद बार-बार आकृष्ट किए जा रहे हैं किन्तु इनका मुख्यार्थ यहाँ नहीं प्रयुक्त हुआ है । वस्तु क्रमश: दु:ख और सुख रूप संक्रमित वाच्य वाले विष और अमृत -पदों से व्यवहार हो रहा है । इस प्रकार यह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का उदाहरण है ।

अभिनवगुप्त लोचन में कह रहे हैं -[2]

'विषामृतपदे च तावन्मात्रादि शब्दवाच्यिकठताणाक्षमावा सुखदु:खतयोक्तिरि' -

यहाँ यह अभिप्राय है कि यदि विष और अमृत पद में निरूढ लक्षणा मानेंगे तब व्यंजकत्व कैसे बनेगा ? क्योंकि यह सिद्धान्त है -

'व्यंग्येन रहिता रूढी सहिता तु प्रयोजने'

अर्थात् रूढिगत भेदों में व्यंग्य से रहित तथा प्रयोजनमूलक भेदों में व्यंग्य के सहित होती है । अभिनवगुप्त के अनुसार यदि यहाँ विष और अमृत पद में निरूढ लक्षणा मान लें तो इसमें व्यंजकत्व कैसे सम्भव होगा ?

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि: -

आनन्दवर्धन ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है -

शिखरिणी वत्स मु मान विवक्षितं विविधिवासनवाकरोत्यु: ।
तकणि वेन तवापरवाटकं वसति विन्धकटं हुडाक्क: ।।

यहाँ नायक नायिका की चाटुकारिता कर रहा है - यह वस्तु रूप व्यंग्यार्थ है।

१- ध्व० पृ० २४१ २- लो० पृ० २६५
३- काव्यप्रकाश पृ० ५७ ४- ध्व० पृ० २४८

'शिखरिणी वक्त्र तु यात' के प्रसंग में लोचन में अभिनवगुप्त कहते हैं - तात्पर्य है कि मुख शब्द के माध्यम से नायक को नायिका की चाटुकारिता पर रहा है, यह मुख्यार्थ में असंगत हो - कि मुखशब्द में नायक के स्थान मुखड़ा सर्वथा असम्भव है। ऐसी आशंका करके अभिनवगुप्त लिखते हैं -

'अत्र तत्र एव व्यापारा: ..... यदि वाऽऽक्षिप्तविशिष्टप्रतीतार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्यादिलक्षणा वस्तु मन्ये,' इत्यादि।[1]

यहां तीन व्यापार हैं -- अभिधा, तात्पर्य और व्यंजना। क्योंकि मुख्यार्थबोध आदि का अभाव होने से बोध की कक्षा में सीधी लक्षणा वृत्ति यहां नहीं है। अथवा आक्षिप्त (अन्वायित) एवं विशिष्ट मुख द्वारा तत्र कहने के स्थान की ठीक मुख्यार्थ की उपपत्ति न बनने के कारण मुख्यार्थ बाध के हो जाने पर सादृश्य से बोध में लक्षणा हो सकती है। इत्यादि।

किन्तु, आनन्दवर्धन को यहां मुख्यार्थ में कोई भी असंगति नहीं लगती। तभी तो वे यहां 'शिखरिणी वक्त्र तु यात' को विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरणार्थ उपयुक्त कहते हैं। तथा उसे विवक्षितान्यपरवाच्य व्यापि कहते हैं [जिसमें वाच्य विवक्षित(वाच्य वाचक क्रम से अथवा अन्वयबोध्य) होता हुआ भी व्यंग्य-निष्ठ है।] अतः यहां मुख्यार्थबाध की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनव के मतानुसार जैसे अविवक्षितवाच्य में लक्षणा व्यापार व्यंग्यार्थ के लिए अत्यन्त आवश्यक है यद्यपि वैसे विवक्षितान्यपरवाच्य में व्यंग्यार्थ लक्षणा व्यापार पर आश्रित नहीं रहता किन्तु यहां मुख्यार्थबाध की आक्षिप्त सम्भावना हो यहां लक्षणा हो भी सकती है। अभिनवगुप्त की विवक्षितान्यपरवाच्यव्यापि में लक्षणा की सम्भावना-उनकी अपनी सूझ है।

विवक्षितान्यपरवाच्य व्यापि के पुनः दो भेद हैं -

१- असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य

२- संलक्ष्यक्रमव्यंग्य

१- लो० पृ० २४०

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य -

आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत रसादि की सूची दी है। इसमें केवल रस, रसाभास, भाव, भावाभास, तथा भावशबलता(भ्व०२।। का ही नामोल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन द्वारा कथित इन भेदों में आदि के स्थान पर - भावोदय, भावसन्धि,भावशबलता को भी जोड़ दिया है। किन्तु आनन्दवर्धन ने इनमें से रस का भी विवेचन नहीं किया था। वस्तुतः आनन्दवर्धन का मुख्य प्रतिपाद्य इस स्थल में प्रतीयमानार्थ की प्रधानता थी, जिसमें इसमें व्यभिचय सिद्ध हो सके। अतः उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति में केवल आवश्यक तथ्यों का ही प्रतिपादन किया है। इनकी दृष्टि में जो अनावश्यक या गौण तथ्य हैं उन्हें वे छोड़ते गए हैं।

रस और भाव के विषय में उन्होंने कुछ भी प्रतिपादित नहीं किया। न तो उन्होंने यह बताया कि रस का स्वरूप क्या है और न यही बताया कि उसकी निष्पत्ति कहां और कैसे होती है। भाव के विषय में भी वे इन प्रश्नों पर कोई विचार नहीं प्रस्तुत करते यद्यपि परवर्ती अलंकार शास्त्र में ये ही प्रायः प्रमुख विषय बन गए। अभिनवगुप्त ने इन सभी पक्षों पर अत्यन्त विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

यहां एक प्रश्न उठता है कि आचार्य आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती आचार्य हैं, तथा ध्वन्यालोक में रस विषयक विवेचन के अनेक स्थल आए जहां रसानुभूति और रस प्रक्रिया का विवेचन आनन्दवर्धन कर सकते थे। उन्होंने भरत का रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अवश्य देखा होगा और 'रसो वै सः' से भी वे अवश्य परिचित रहे होंगे। तब क्या कारण है कि आनन्दवर्धन ने रस विषयक इन विभिन्न प्रश्नों पर कुछ भी सुव्यवस्थित विवेचन नहीं किया। क्या वह रस को ब्रह्म की कोटि तक पहुंचाने के पक्ष में नहीं थे। क्या रस के साथ विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों के सम्बन्धित होने के कारण ही उन्होंने इस पक्ष को छेड़ना ही छोड़ दिया ?

किन्तु लोचन में अभिनव -

'तदुक्तोक्तिरियं तु सर्वं परमेश्वरास्वादं प्रतीत्यसम्भावनाकारेण न न विदितं अत्यावश्यकत्वं विवक्षितत्वात्' (ध्व० पृ० ५७) इस पंक्ति को देखने से शोध

की अन्वीक्षिका यह जानने के लिए प्रस्तुत होती है कि क्या आनन्दवर्धन ने तत्त्वालोक ग्रन्थ में भी विषयक रसानुभूति या रसप्रक्रिया के विषय में कुछ कहा है ? क्या अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के रस विषयक विवेचन को यहीं से लेकर लोचन और अभिनव भारती में प्रस्तुत किया है ? या फिर यह रसानुभूति और रसप्रक्रिया अभिनवगुप्त की देन है । किन्तु तत्त्वालोक ग्रन्थ प्राप्य नहीं है, अतः इस विषय में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कहना सम्भव नहीं ।

किन्तु ध्वन्यालोक का अवलोकन करने से कुछ ऐसे सूत्र रूप में वाक्य मिलते हैं जिन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के रस विषयक सिद्धान्तों का ही सूक्ष्मदृष्टि से विवेचन किया है । अतः रस के विषय में उनका मत वही था जिसे अनेक व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया ।

आनन्दवर्धन रसाधिष्ठान के लिए सहृदयत्व को ही प्रमाण मानते हैं —

(१) कैमुतिका न्याय यत् रत्नमत्यधिकः, सहृदया न यत् काव्यार्थं रसाः (ध्व० पृ० ४२६ :)

(२) रसादीन् सहृदयत्वम् (ध्व० पृ० ४४८)

रस की प्रतीति या अभिव्यक्ति ही स्वीकार करते हैं —

(१) यत्राप्यसौ तत् , तत्रापि विभावादिप्रतिपादनमुखेनैवेत्यां प्रतीति (ध्व० पृ० ८२)

(२) स एवानुभाव्यमानोऽलंकारो रसाभिव्यक्तिहेतुः इत्येवमादि(ध्व०पृ०८२)

(३) तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ (ध्व० पृ० २३४)

इन वाक्यों से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन सहृदय में ही रसाभिव्यक्ति मानते हैं । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रस का विवेचन सूत्र रूप में ही यत्र तत्र किया है । वस्तुतः आनन्दवर्धन ने रसानुभूति एवं रसप्रक्रिया विषयक प्रश्न को इतना आवश्यक नहीं समझा कि उसका पृथक् रूप से विवेचन किया जाय । सम्भवतः उसके दार्शनिक पक्षों को साहित्य के क्षेत्र में लाना वांछनीय नहीं मानते थे । सम्भव है उसे मनःशास्त्र का विषय समझ कर छोड़ दिया हो ।

अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त -

अभिनवगुप्त ने अपने रससिद्धान्त की स्थापना के पूर्व भट्टनायक, भट्टोलट्ट एवं श्रीशंकुक आदि आचार्यों के मतों को उपस्थित किया है। इन आचार्यों के स्वतन्त्र ग्रन्थ तो अनुपलब्ध हैं किन्तु अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' एवं 'नाट्यवृत्ति' टीका से इन आचार्यों के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है। ये तीनों ही आचार्य आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं। इनमें से एक ध्वन्यालोक के टीकाकार भट्टनायक ही हैं। और दो - भट्टोलट्ट एवं श्रीशंकुक नाट्यशास्त्र के टीकाकार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन के रस के सम्बन्ध में, व्यंजनाव्यापार के विरोध में ही इन तीनों ने अपने अपने सिद्धान्त की स्थापना करने का प्रयत्न किया। आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार के व्यंग्यार्थ कहे हैं - (१) वस्तु (२) अलंकार एवं (३) रसादि। इन तीनों में से रसव्यंग्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अतः आनन्दवर्धन के सभी रसव्यंग्य के विरोध में कोई उसे उत्पाद्य (उपचित) मानता है, कोई अनुमेय और कोई भोज्य। अतः ये सभी आचार्य रस के रस रूप की ओट में आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित 'रस के व्यंग्यत्व' का ही विरोध करते हैं। सभी व्यंजना के अधिकार को छीन रहे हैं, और विरोधी खेमेदार बन रहे हैं।

वस्तुतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रस के अनुभूति एवं प्रक्रिया पक्ष पर पृथक् रूप से कुछ नहीं लिखा। किन्तु अभिनवगुप्त ने (ध्व० २।४ में) रसभावादि का प्रकरण आते ही अवसर पाकर रस के विषय में सविस्तार विवेचन किया। उसी की याद में अभिनवभारती में उन्होंने सवंरम्य प्रतिष्ठित किया। अपने इसी रस-सिद्धान्त के कारण अभिनव साहित्य-जगत् में समादृत हैं।

लोचन में अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम भट्टनायक के मत को रखा, तदनन्तर भट्टोलट्ट एवं श्रीशंकुक के मत को। सम्भवतः उन्होंने भट्टनायक के मत को पहले

१- तेन न प्रतीयते नाप्यभिव्यज्यते काव्येन रसः - लो० पृ० २६३
यहां भट्टनायक 'न प्रतीयते' और 'नाभिव्यज्यते' से आनन्दवर्धन के ही सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हैं।

इसलिए रखा हो क्योंकि मम्मटाचार्य ध्वन्यालोक के टीकाकार थे। जैसे अन्य स्थलों पर इनका मम्मटाचार्य से शाब्द-वैषम्य चलता रहता है वैसे ही रस के विषय में इनकी मम्मटाचार्य से साक्षात् नोक-झोंक होती है और ये 'आलोक' में उक्त प्रधान टीकाकार तथा ध्वनि-विरोधी का खण्डन कर आलोच की बांध देते हैं। फिर रस-प्रक्रिया के प्रसंग में भरत-सूत्र के ऐसे आलंकारिक भी इनकी स्मृति में आते हैं जिनका अभिनव से प्रत्यक्ष विरोध है। अतः इन सबकी आलोच करने आचार्यों का भी यहां सिद्धान्तोल्लेख करते हैं। अभिनवभारती में, मम्मटाचार्य भी संक्षेप का, काव्यप्रकाश के टीकाकार होने के कारण पहले उल्लेख किया गया, यहां मम्मटाचार्य बाद के आचार्य होने के कारण बाद में स्थान पाते हैं। इसी कारण दोनों टीकाओं - लोचन और अभिनवभारती में रस-सिद्धान्त के आचार्यों के प्रतिपादन में क्रम-भेद है। यहां 'लोचन' के अनुसार क्रम अपनाया गया है।

मम्मटाचार्य - मम्मटाचार्य ने भरत के रस सूत्र - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' का पहले प्रतीति की दृष्टि से और तत्पश्चात् उसकी प्रक्रिया का अपने अनुसार निरूपण किया है। पहले यह विचार करते हैं कि रस की प्रतीति परक रूप से होती है या स्वगत रूप से। मम्मटाचार्य के विचार से दोनों पक्षों में से किसी को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि, रस को परगत - अर्थात् अनुकार्य या अनुकर्ता में मानते हैं तो सहृदय रस तटस्थ व्यक्ति हो जाता है। और यदि स्वगत रूप से अर्थात् सहृदय में रस को मानते हैं, तब यह स्वीकार करना होगा कि रस सहृदय में उत्पन्न होता है। किन्तु यह पक्ष भी साधारणीकरण के अभाव में ठीक नहीं है। क्योंकि सीता - सहृदय या सामाजिक का विभाव नहीं है और रस का भी उत्पन्न होना उन विभाव से ही उत्पन्न होना। सहृदय के चित्त में जब तक यह भाव है कि सीता राम की पत्नी है तब तक वह सीता की राम विषयक रति की चर्वणा कैसे कर सकता है? यदि साधारण

१- 'मम्मट' मम्मटाचार्येण - रसो यदा परगतया प्रतीयते तर्हि तटस्थस्यैव स्यात्।

२ व स्वगतत्वेन रामादिविषिरतिमयात्मकाध्यक्षो प्रतीयते। इत्यादि लो० पृ० १८०-१८२

कान्तारत्व की भावना यहां मानते हैं तब भी वो सीता आदि में पूर्व सुधि है वह किसी प्रकार अनुभव की रति का अनुबोध नहीं होने देगी । दूसरे यह भी नहीं कि अनुभव उत्पाद अपनी पत्नी को स्मरण करने लगता है । अतः साधारणीकरण की सत्ता को नहीं स्वीकार किया जाय तो - राम आदि अलौकिक पात्रों के अनुभव आदि विभावों का साधारणीकरण कैसे हो सकता है ? और अनुभव में रस-प्रतीति कैसे सम्भव होगी ?

राम के उत्पाद आदि के स्मरण को यदि साधारणीकरण में सहायक मानते हैं तब भी पूर्व अनुभव के न होने के कारण स्मरण सम्भव नहीं है और काव्यस्थ शब्द से यदि प्रतीति मानते हैं तब लोक में प्रत्यक्ष नायक नायिका को देख कर भी प्रेक्षक को रस उत्पन्न होना चाहिए । अनुभव आदि में रस निष्पत्ति मानने पर एक समस्या यह भी है कि अखण्ड रस के उत्पन्न होने पर दुःखी होने के कारण किसी प्रकार पुनः अखण्ड-रस की प्रेक्षा में प्रवृत्त न होंगे । इन अनेक कारणों से अनुकर्ता में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । इसी प्रकार उनमें रस की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी । क्योंकि शृंगार के स्थायीभाव रत्यादि को वासना या वृत्ति के रूप में अनुकर्ता के अन्तःकरण में विद्यमान रहता है उसकी अभिव्यक्ति में , विभाव के अभाव में, अनुभव के अंश में , - तारतम्य की स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी यह एक दोष है, दूसरा दोष यह है कि अभिव्यक्ति को परतः मानते हैं या स्वतः , यह समस्या तब भी रह जाता है ।

इस प्रकार अनुकायक काव्य में रस की प्रतीति , उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति इन तीनों सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए अपने भुक्तिवाद की स्थापना करते हुए कहते हैं[2] -

अन्य शब्दों से विभावन होने के कारण काव्यात्मक शब्द के अभिधात्वत्व, भावकत्व और भोजकत्व यह तीन अद्भुत व्यापार हैं । प्रथम अभिधेयत्व व्यापार है , दूसरा रत्यादि विभावक और तीसरा अनुभवविभावक रस-व्यापार है ।

१- द्र० ही० पृ० १८१-१८२

२- द्र० ही० पृ० १८२-१८३

भावकत्व व्यापार काव्य के रसविभावादि का साधारणीकरण कर देता है। रस के भावित होने पर सहृदय को भोजकत्व व्यापार से रस का भोग होता है। यह भोग अनुमव और स्मरण से विलक्षण, दुतिविस्तर विकासमय, रजस्तमोभिभूतसत्त्वोद्रिक्तस्वभाव, चित्तस्वाप, निर्वृति या ब्रह्मस्वाद सहोदर एवं विलक्षण या अलौकिकचमत्कार रूप है।

भट्टनायक - तदनन्तर, भट्टनायक का मत भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है[1]। इनके मत में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भावों के संयोग से क्रमशः स्थायीभाव परिपुष्टावस्था को प्राप्त करके, अनुकार्य रामादि में ही रस उत्पन्न होता है[2]।

भोजकुंतल, भट्टनायक के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि निर्वृति के प्रवाहवती होने के कारण एक निर्वृति का दूसरी निर्वृति से परिपोष नहीं बन सकता। दूसरे यह कि विस्मय, क्रोध और शोक आदि का फल से परिपोष नहीं होता, अतः अनुकार्य में रस नहीं हो सकता।

शंकुक - शंकुक अनुकर्ता में रस को मानते हैं। अभिनवगुप्त ने लोचन में शंकुक के मत का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया है। वे कहते हैं -

अभिनय अवस्था वाले स्थायी को उद्देश्य करके, संयोग प्राप्त करते हुए विभावानुभावव्यभिचारिभावों के द्वारा अनुकार्य नट को आलम्बन करके जो स्थायी की साधारण प्रतीति है वही 'रस' है। सामाजिक अनुकार्य नट को देख कर अनुमान द्वारा अनुकार्य रामादि से उसे अभिन्न मान लेता है तथा मन में सामाजिक रसास्वाद प्राप्त करता है। इस प्रकार शंकुक के अनुसार रस नट के आश्रित है अनुकार्य

१- अभिनवगुप्त ने लोचन में भट्टनायक का नामोल्लेख नहीं किया है। अभिनवभारती एवं काव्यप्रकाश के आधार पर यह मत भट्टनायक का ही प्रतीत होता है।

२- द्र० ही० पृ० १८४ ।

आदि के नहीं।[१]

[२]लोचन में भीडुंक के मत के अलावा अभिनवगुप्त ने अन्ये तु, अपरे, केचित्, इतरे, इत्यादि द्वारा अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है किन्तु ये मत किन आचार्यों के हैं, इस विषय में कुछ नहीं कहा।

अभिनवगुप्त - अन्त में, अभिनवगुप्त ने अपने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है। अभिनवगुप्त ने अपने रस-सिद्धान्त के लिए कुछ तत्व मट्टनायक से भी लिए हैं। यद्यपि उन्होंने मट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व दो नए व्यापारों की कल्पना नहीं की वरन् अभिधा तथा तात्पर्या से अतिरिक्त ~~व्यंजना नामक तृतीय~~ के शब्दव्यापारों द्वारा प्रतिपादित व्यंजना-वृत्ति को ही रस प्रतीति के लिए उपयुक्त माना।

अभिनवगुप्त का मत है कि रस प्रतीयमान ही होते हैं तथा विशिष्ट प्रतीति की रचना है।[३] यह नाट्य प्रतीति, लौकिक अनुमान जन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है।

व्यभिचारियों स्थायीभाव को ही अभिनव ने रसानुभूति का निमित्त बताया है। अलंकार रूप में रति आदि स्थायीभाव व्यभिचारि की अपेक्षा में निमित्त रहते हैं। यह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभावादि सामग्री से अभिव्यक्त हो जाते हैं। और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य प्रमातृवाद के अनुरूप परमानन्द रूप में अनुभूत होते हैं।

यह सारा कार्य अभिनवगुप्त का है जिन्होंने भट्टनायक, भट्टलोल्लट और भीडुंक के मतों को ग्रहण करके, मत के रससूत्र के परिप्रेक्ष्य में पूर्वपक्ष के रूप में उनके मतों को उपस्थित किया, उनका खण्डन किया और आनन्दवर्धन के रसविषयक सिद्धान्तों को भी सूत्र रूप में व्याख्यालोक में बिखरे पड़े हैं उन्हें ग्रहण किया एवं उन्हें दार्शनिक परिवेश में बांध कर पूर्णतया अभिनव के रंग में रंग दिया और उस पर अपनी मुहर लगा दी।

१- लो० पृ० १८५-१८६ २- लो० पृ० १८६.

३- लो० पृ० १८७.

अभिनवगुप्त का रस-सिद्धान्त मूल रूप में नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत द्वारा वाचिक रूप में आनन्दवर्धन द्वारा एवं भाव्य रूप में अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित है।

भावव्यंग्य -

रस में जितने भावों का एक साथ अनुभव होता है उनकी मात्रा बराबर रहती है, अर्थात् उनमें से किसी भाव का अनुभव किसी भी अन्य भाव से अधिक नहीं होता और न किसी भाव का अन्य भाव से कम। यहां सभी भाव समान मात्रा में अनुभव में आते हैं, किन्तु जब इन भावों में से किसी संचारी भाव की मात्रा बढ़ जाती है और उसका अनुभव अधिक मात्रा में होने लगता है, वही अनुभव स्वतन्त्र रूप से अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। यह अनुभव रसात्मक अनुभव न रह कर, भावात्मक अनुभव हो जाता है। और उसे एक विशिष्ट नाम दिया जाता है -'भावव्यंग्य'।

भावव्यंग्य का प्रमाण देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

'तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तत्वस्वां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्काराधिक्यप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनिः'।[1]

यहां अभिनवगुप्त को भावध्वनि के स्थान पर भावव्यंग्य प्रयुक्त करना चाहिए था। क्योंकि आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से कह दिया है -'मुख्य रूप से प्रकाशमान 'व्यंग्य-अर्थ' ध्वनि का आत्मा है तथा अंगी रूप से भासमान व्यनि का आत्मा रसादि (व्यंग्यार्थ) (रसादि में रस, भाव, रसाभास भावाभास, भावशबल, भावशान्ति आदि) असंलक्ष्यक्रम रूप से व्यवस्थित हैं'।[2] यहाँ पर 'रसादि-व्यङ्ग्य' में प्रयुक्त 'आदि' पद के अन्तर्गत 'भाव' की गणना की गई है। अतः जिस प्रकार रसध्वनि की अपेक्षा रसव्यङ्ग्य पद प्रयोग उचित है उसी प्रकार भावध्वनि की अपेक्षा भावव्यङ्ग्य पद का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।३

आभास -

रस-व्यंग्य में जो केन्द्रीय भाव होता है उसके साथ यदि किसी भी प्रकार के अनौचित्य का अनुभव सामाजिक को होता है तो वे ही रसाभास कहलाने लगते हैं। जैसे रामी रावण की सीता के प्रति प्रेमोक्ति। अभिनवगुप्त ने भावाभास का प्रतिपादन नहीं किया है।

१- ध्व० पृ० १७६ २- वही० २।४.

३- तदर्थ द्रष्टव्य यहीं पृ० १६२.

भावकृत्व आदि -

भावकृत्व में किसी भी व्यभिचारिभाव की विशेषरूप की स्थिति विशिष्ट की जाती है। भावोदय में किसी भाव की उत्पत्तिमात्रा का चित्रण रहता है, भावसन्धि में दो भावों की सम्बन्धस्थिति विशिष्ट रहती है। भावशबलता में अनेक भावों के क्रमशः उदित होते चले जाने का वर्णन रहता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रसादिपदादि के विषय में कुछ भी विवेचनपूर्वक नहीं कहा है। किन्तु अभिनवगुप्त ने इस सब का व्याख्यान किया है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में अलंकार -

(ध्व० २।१६ में) आनन्दवर्धन - ध्वनि में रसादिरूप अलंकार का उपपादन करते हुए कहते हैं - ध्वनि के अन्तर्गत वही अलंकार माना गया है जिसका प्रयोग रसादिरूप रूप से किया गया हो और जो बिना किसी यत्न के प्राप्त हो जाय।

किन्तु अभिनवगुप्त इस कारिका की व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। वे प्रथम रसादिरूप अलंकारों के विषय में कहते हैं -

'रसवदलंकारेण विभावादिघटनायां पुनरितरान्तरीयकतयाऽलंकार्यत्वे स्वयमलंकारो रसादौ गौण:'।

आनन्दवर्धन तो रसादिरूप अलंकारों को ध्वनिरूप के अन्तर्गत मान रहे हैं किन्तु अभिनवगुप्त रसादिरूप अलंकारों को रस का मार्ग बता रहे हैं। 'रस' तो ध्वनि काव्य का रस ढंग मात्र है। अभिनवगुप्त 'ध्वनि' पद के स्थान पर 'रस' पद का प्रयोग पक्षपातपूर्ण अर्थ में यहाँ सरलता से कर लेते हैं, जो अनुपयुक्त है।

इसके बाद 'तेन वीरादिपुरुषादिरसेष्वपि' से लेकर 'इति सामान्येन वक्ष्यति' तक अभिनव का व्याख्यान प्रस्तुत कारिका से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अभिनवगुप्त की इन पंक्तियों का सम्बन्ध ध्व० २।१५ से अवश्य था। अब उस कारिका का व्याख्यान पूरा हो गया तब यहाँ फिर उसकी बात निष्प्रयोजन करना, प्रसंग के अनुचित प्रतिकूल है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य -

इसके दो भेद हैं -

१- शब्दशक्तिमूलक, २- अर्थ शक्तिमूलक ।

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में व्यंग्य अर्थ दो प्रकार के होते हैं - वस्तुव्यंग्य और अलंकारव्यंग्य । कुछ लोगों का मत है कि आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल ध्वनि के अन्तर्गत भी केवल अलंकारव्यंग्य ही मानते हैं, वस्तुव्यंग्य नहीं । उनके अनुसार जहां वस्तु अथवा प्रकाशित होता है - वहां सदैव शब्द श्लेष ही होता है ।

यहां प्रश्न उठता है कि ध्वनिकार शब्दशक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य को क्यों नहीं मानते ?

आनन्दवर्धन अलंकार व्यंग्य को स्वशक्ति स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि इसमें किसी प्रकार की बाधक की सम्भावना नहीं किन्तु वस्तु-व्यंग्य को मान लेने पर श्लेष विषयक अनेक विप्रतिपत्तियां उपस्थित होने की सम्भावना है । अतः वह दबे स्वर में इस प्रकार कहते हैं -

'यत्रापरोऽलंकारो न वस्तुमात्रं ..... 'इत्यादि ।

अर्थात् शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में जो न केवल वस्तु अपितु अलंकार भी प्रकाशित होता है । किन्तु यहां भी शंका होती है कि यदि आनन्दवर्धन को अलंकार के साथ वस्तु व्यंग्य भी अभीष्ट था तो 'यत्रापरोऽलंकारो' के बाद 'च' या 'अपि' कुछ लगाते । किन्तु आनन्दवर्धन को तो केवल अलंकार-व्यंग्य ही शब्द-शक्तिमूलक में अभीष्ट है ।

आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में अलंकार व्यंग्य के साथ वस्तुव्यंग्य को भी स्वीकार किया है ।

१- यत्रेदमुच्यते शब्देन शब्दशक्त्या प्रकाशो ।
यस्मिन्प्रतीयमानः शब्देन शब्दशक्तिमूलो वि वः ।। ध्व० २।२२
यत्रापरोऽलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशो य शब्दशक्तिमूलो ध्वनिरित्यनेनार्थं विवक्षितम् । वस्तुनो च शब्दशक्त्या प्रकाशनाभावे श्लेषः । ध्व० वृ० २।२२

२- यत्प्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्ये..... पूर्वविशेषस्तत्रापवादिका व्यंग्यालंकारप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वापर्यम् । ध्व० वृ० ३।२२ ।

ध्वन्यालोकलोचन में अभिधा की शोभा -

'अन्यत्र मुख्यमन्यमुख्यसंस्पर्शशून्या श्रीव्यासिधायः पुरातनविदग्धकवा-दृष्टादो महाकाव्ये'।[१]

यहाँ तीन अर्थ व्यञ्जित होते हैं -

१. प्राकरणिक - शृङ्गारादि का वर्णन
२. अप्राकरणिक - भगवान् शिव का वर्णन और
३. वाच्य अलंकार - शृङ्गारादि और भगवान् शिव में उपमानोपमेय भाव की कल्पना।

यहाँ पर शृङ्गारादि विषयक जो अर्थ है वह अभिधेय है और उसका अलंकार वाच्य है। परन्तु भगवान् शिव विषयक अप्राकरणिक अर्थ के विषय में विभिन्न प्रकार के मत हैं।

अप्राकरणिक अर्थ का बोध किस व्यापार से होता है - इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने चौदह मत उपस्थित किए हैं। किन्तु ये मत किन आचार्यों के हैं - इसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया। केवल 'अन्ये तु, एके तु, इतरे तु,' कह कर विभिन्न मतों को उपस्थित किया है।[२]

कुछ लोगों का मत है कि आनन्दवर्धन 'अप्राकरणिक अर्थ बोध किस व्यापार से होता है' इस विषय में आनन्दवर्धन मौन हैं। यह बात पूरी है कि आनन्दवर्धन ने अभिधा के विषय की चर्चा नहीं की। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' - इस सिद्धान्त को नहीं कहा, जिसे परवर्ती आचार्यों ने प्रस्तुत किया। किन्तु अप्राकरणिक अर्थ बोध के विषय में तो आनन्दवर्धन स्पष्ट रूप से कहते हैं -

'रूपकादिरूपेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने [illegible] इत्यप्राकरणिकेऽप्यन्तर्भावः इत्यादि'।[३]

यहाँ पर प्रयुक्त 'शब्दशक्त्या प्रकाशमाने' स्पष्टरूप से 'शब्दशक्त्या अभिधीयमाने' को ही लक्षित कर रहा है। यदि आनन्दवर्धन को अप्राकरणिक अर्थ के लिए अभिधा व्यापार ही इष्ट होता तो वह 'शब्दशक्त्या अभिधीयमाने' कहते।

१- ध्व० पृ० २४१ । २- लो० पृ० २४१-२४४ । ३- ध्वन्यालो० २४१ ।

किन्तु इन्हें केवल प्राकरणिक अर्थ ही अभिप्रेत स्वीकार्य है । अप्राकरणिक नहीं । अप्राकरणिक को तो यह 'प्रकाशन' स्वीकार करते हैं । और कहीं यह बात प्रकाश न हो कि - वाच्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला है इसलिए नहीं है - अप्राकरणिक अभिधेयार्थ के उपस्थापित द्वारा प्रकाशित होने पर अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी चाहिए ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन के मत में 'अन्यार्थ - प्रकाशन' इत्यादि में 'प्रकाश' शब्द का विषय जो प्राकरणिक अर्थ किया गया है वह अभिधेय है । और जो दूसरा अर्थ प्रकाश् शब्द का विषय है वह प्रकाशन (व्यञ्जना) है ।

अर्थशक्त्युद्भव वस्त्वनौचित्य अव्यंग्य ध्वनि -

आनन्दवर्धन ने इसका उदाहरण कुमारसम्भव (५।७४) से दिया है -[२]

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

यहां वाच्यार्थ विवक्षित है तथा यही वाच्यार्थ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की प्रतीति करता है । जब हमें वाच्य अर्थ का बोध होता है कि पार्वती जी कमलदल गणना करने लगीं तो हमें पूर्व प्रसंग का स्मरण आता है कि नारद जी द्वारा शंकर के साथ विवाह के सम्बन्ध की बात कहे जाने पर पिता के समीप में बैठी हुई पार्वती जी मुख नीचे करके हाथ में स्थित कमलदलगणना 'लज्जाभाव' के कारण करने लगीं । यहां लज्जाभाव रूप वस्तुव्यंग्य है । वाच्य-अर्थ के सामर्थ्य से अभिधेयार्थ - लज्जा रूप व्यभिचारिभाव अभिव्यक्त हो रहा है । इस प्रकार व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति में क्रम के संलक्षित होने के कारण यहां 'अर्थशक्त्युद्भव वस्त्वनौचित्यव्यंग्यध्वनि' है ।

यहां पर यह शंका हो सकती है कि - जब व्यभिचारिभाव प्रधान रूप से व्यक्त होता है तब यह भावव्यंग्य का उदाहरण होता है । और भावव्यंग्य को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत माना गया है । परन्तु यहां पर व्यभिचारिभाव प्रधान रूप से व्यक्त हो रहा है, फिर भी इसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा गया है । इसका क्या कारण है ?

लोचन का अवधानपूर्वक अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थल पर संका का तनिक भी अवकाश नहीं । इसीलिए अभिनवगुप्त का विवेचन आनन्दवर्धन के ही सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है -

आनन्दवर्धन ने (ध्व० २।३ में) भाव की गणना असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में अन्तर्गत की है किन्तु यहां पर व्यभिचारिभाव के मूल में प्रकाशित होने के कारण उसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का विषय नहीं मानते इसीलिए अभिनवगुप्त कहते हैं कि यद्यपि रस भावादि सदैव प्रतीयमान ही होते हैं, वाच्य नहीं । तथापि स्व- (रसभावादि) असंलक्ष्य का विषय नहीं होते, अर्थात् संलक्ष्य भी होते हैं ।[1] जैसे यहीं पर - पार्वती के उल्लासक व्यभिचारिभाव की प्रतीति में । यदि क्रमलक्ष्य-गणना तथा अनौचित्य अनुमानों द्वारा उल्लास भाव की झटिति प्रतीति हो जाती,[2] तो यह अवश्य असंलक्ष्यक्रम असंलक्ष्यक्रमता के कारण भावध्वनि का विषय बन जाता । किन्तु यहां ऐसा नहीं है, क्योंकि क्रमलक्ष्यगणना तथा अनौचित्य आवश्यक रूप से केवल उल्लास के ही अनुमाप नहीं हैं । वरन् अभिनवगुप्त का कथन है कि ये - क्रमलक्ष्यगणना तथा अनौचित्य तो कुमारियों में उल्लास से अतिरिक्त कारणान्तर में भी हो सकते हैं । अतः इनके द्वारा उल्लास की झटिति प्रतीति नहीं होती । अपितु पार्वती के द्वारा शम्भु को वर रूप में प्राप्त करने हेतु की गई तपस्या तथा कारणभूत विवाहादि प्रसंग के ज्ञान के अनन्तर ही उल्लास वाले अर्थ का ज्ञान होता है । इस व्यवधान के कारण ही यहां असंलक्ष्यक्रमता है ।[3]

उल्लास रूप व्यभिचारिभाव के पर्यालोचन[4] के अनन्तर ही रस की प्रतीति

१- (१) यद्यपि रसभावादिरूपो व्यङ्ग्यः स्व भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न कदाऽप्यसंलक्ष्यस्य विषयः (लो० पृ० २६८)

(२) यो रसादिरूपः स स्वाङ्गतो व्यतिरेत्या वं स्वप्रधानः स्व वः । कुमारत्वादि हि तस्य कदाचिदुपलभ्यते । तथा पार्वतीत्वपूर्वकानुत्थानक्षणभेदेनेति वक्ष्यते । (लो० पृ० २७३

२- द्रष्टव्य लो० पृ० २६६ - २६० ।

३- रसस्वभावादि मुख्य एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने यादीति तदपेक्षायाऽ- सलक्ष्यक्रमत्वं/उल्लासापेक्षया तु तत्र असंलक्ष्यत्वम् । (लो० पृ० २६०)

होती है । अतः लक्ष्या तथा रूढ प्रयोजन के मध्य तो मुख्य सम्बन्ध न होने के कारण रूढ की दृष्टि से इसमें भी अलक्ष्यक्रमता मानी जा सकती है , ऐसा लोचनकार का मत है किन्तु गुणलक्षणता , अनीमुखत्व तथा लक्ष्या का मध्यवर्ती मुख्य संबंध है । मुख्य स्वार्थ लक्ष्या में विलीन नहीं पाता (अर्थात् मुख्य को वैसा आनन्द नहीं मिलता जैसा अलक्ष्यक्रमव्यंग्य में लक्ष्या की प्रतीति से होता) वरन् पूर्व कथान्त का स्मरण करना पड़ता है तब लक्ष्या भाव की प्रतीति होती है ।

यहाँ पर अभिनवगुप्त स्पष्ट रूप से लक्ष्या भाव रूप वस्तुव्यंग्य कहते हैं -

'इत्यर्थान्तरसंक्रमितो विवेको वस्तुनावस्य व्यंक्तीयत्वे वस्तुव्यभिचरतया निरूपितः'[१]

यद्यपि आनन्दवर्धन ने लक्ष्या भाव को स्पष्ट शब्दों में वस्तुव्यंग्य नहीं कहा है । आनन्दवर्धन केवल इतना ही कहते हैं -

(१) अत्र हि शीतादिलक्षणानं उपलक्षीभूतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवावान्तरं व्यभिचारिणावलक्षणं प्रतीयते ।

(२) एवं तु सामर्थ्यादिव्यभिचारिणुत्वेन प्रतीतिः ।[२]

अर्थान्तरसंक्रमित वस्त्वनौचित्य व्यंग्य के भेद -

अर्थान्तरसंक्रमितवस्त्वनौचित्य व्यंग्य ध्वनि में जो व्यंजक अर्थ कहा गया है उसके दो प्रकार हैं --

१- कवि की अथवा कविनिबद्धवक्ता की प्रौढ़ उक्तिमात्र से निष्पन्न

२- स्वतः सम्भवी

आनन्दवर्धन ने इसके दो प्रकार स्थिर किए । किन्तु अभिनवगुप्त ने कविकृत और कविनिबद्धवक्तृकृत प्रौढ़ उक्ति को पृथक् पृथक् मान कर इसके तीन प्रकार कर दिए हैं ।[३]

उक्तभेद दो भागों में विभक्त व्यंजक अर्थ पुनः पद और वाक्य की दो विभाजक रेखाओं में विभक्त हो जाते हैं । इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं ।

१- लो० पृ० २६७ २- ध्व० पृ० २५८

३- ध्व० पृ० २५६ ४- ध्व०२।२५ और उसकी वृत्ति पृ० २७५

५- जैसे अन्यो भेदा यथाहि (लो० पृ० २७५) ६- द्र० ध्व०३।१२ की वृत्ति ।

अर्थशक्त्युद्भव के अलंकार व्यंग्य की दृष्टि से दो भेद करते हैं। वे दोनों ही व्यंजक भेद पर निर्भर हैं। इनका एक व्यंजक होता है - वस्तु और दूसरा अलंकार[1]। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव के दो भेद और बने -

१- वस्तु प्रकाश्य अलंकार व्यंग्य

२- अलंकार प्रकाश्य अलंकारव्यंग्य

आनन्दवर्धन अलंकारप्रकाश्य अलंकार व्यंग्य के प्रसंग में कहते हैं -

'उक्तभेदादिभूतानामप्रकाशितप्रकाशानत्वं प्रदर्शितमित्यलंकारान्तर-स्यालंकारान्तरे व्यंग्यत्वं न वस्तुप्रतिपाद्यम्।'[2]

इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं -

'अलंकारान्तरस्येति। यत्रालंकारोऽन्यालंकारान्तरं व्यनक्ति तत्र वस्तुमात्रेणालंकारो व्यङ्ग्य इति विवक्षितसम्बन्धमात्रमिति तात्पर्येणालंकारान्तरशब्दो वृत्तिव्याप्तौ प्रवृत्तो न तु प्रकृतोपयोगी, न ह्यलंकारेणालंकारो व्यङ्ग्य इति प्रकृतम्, अर्थशक्त्युद्भवे व्यंग्ये वस्त्वलंकारोऽपि व्यंग्य इत्येतावतः प्रकृतत्वात्।'[3] इत्यादि।

आनन्दवर्धन ने तो वस्तुप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य और अलंकारप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य को पृथक् पृथक् माना है[4] - जैसा अभी ऊपर कहा जा चुका है। और 'अलंकारप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य' के प्रसंग में कहते हैं कि अलंकारान्तर का अलंकारान्तर में व्यंग्य होना वस्तुप्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु अभिनवगुप्त 'अलंकारप्रकाश्य अलंकारव्यंग्य' के साथ 'वस्तुप्रकाश्य अलंकार व्यंग्य' को मिला देते हैं और उसमें असम्भाव्य दोष बता रहे हैं। यही उचित है। आनन्दवर्धन का सिद्धान्त उचित सरल एवं प्रभु है। उसमें कहीं भी उलझन या असम्पृक्तता नहीं। किन्तु अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन के सीधे सरल सिद्धान्त को इतना अधिक उलझा देते हैं कि साधारण अध्येता आनन्द-वर्धन के सिद्धान्त को भूल कर उन्हीं की बातों में उलझा रह जाता है।

१- (१) लौकिकेन व्यंग्यतायामपि, अलंकाराणां द्वयी गतिः - क्वचिद्वस्तुमात्रेण व्यंग्यत्वे क्वचिदलंकारेण। (ध्व० पृ० २७९)
(२) पृ० ध्व० २।२९ और २।३० की वृत्ति में।

२- ध्व० पृ० २७८ ३- लो० पृ० २७८

४- पृ० यहीं की टिप्पणी संख्या १।

उपर्युक्त अनुस्वानोपमव्यंग्य ध्वनि के भेद प्रभेदों के अतिरिक्त 'अनुस्वानोपम-व्यंग्य ध्वनि' कभी कभी प्रबन्ध में भी भाषित होता है।[१] किन्तु अभिनवगुप्त प्रबन्ध में रसाभास रसादि की ही व्यंजना मानते हैं।[२]

प्रबन्ध के व्यंजकत्व का निबन्धन -

आनन्दवर्धन का मत है कि प्रबन्ध में विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दोनों ही भेद - असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य(या अनुस्वानोपमव्यंग्य) भाषित होते हैं। वे प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का द्योतन बताते हुए कहते हैं -

इदानीमसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव।[३] (ध्व० पृ० ३२८)

इस असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का निबन्धन, प्रबन्ध में किस प्रकार करना चाहिए - इसका प्रतिपादन तृतीय उद्योत में १७वीं कारिका से लेकर २४वीं कारिका तक किया गया है।

तदनन्तर, प्रबन्धों में, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का दूसरा प्रभेद भी भाषित होता है - इसका प्रतिपादन करते हैं -

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के अनुरणनरूपव्यंग्यध्वनि के वैसे ही प्रभेद हैं - शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक वैसे भी किन्हीं प्रबन्धों में द्योतित होते हैं।[४] जैसे - मधुमथनविजय में पांचजन्य की उक्तियों में अथवा जैसे- विषमबाण-लीला में, कामदेव के अवतार के वर्णन के प्रसंग में। और जैसे - महाभारत में गृध्रोलूकायुसंवाद आदि प्रसंग में।[५]

१- अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित्॥ ध्व० ३।२५

२- प्रबन्धेन रसाभिव्यञ्जनायां रसाभासव्यञ्जने च तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति। लो० पृ० ३५५

३- ध्व० पृ० ३२८

४- अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यंग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिदद्योतते। ध्व० पृ० ३५५

५- ध्व० पृ० ३५५ -३५६।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रतिपादित - प्रबन्धों में अनुस्वानोपनव्यंग्य ध्वनि के घोतन की व्याख्या अभिनवगुप्त इस प्रकार करते हैं -[१]

'प्रबन्ध में न केवल वाक्यात् रसव्यंग्य होता है अपितु परम्परा से भी रसव्यंग्य होता है, - यही प्रतिज्ञा करने के लिए, 'अनुस्वानोपनात्वापि प्रबन्धे - य उदाहृतः' इत्यादि तृतीय उद्योत में ९५ वीं कारिका का उपक्रम किया गया है। और वृत्ति भाग और कारिका भाग की संगति लगाने का निर्देश करते हैं - कि ३।९५ में प्रबन्धों में संघटनाक्रम व्यंग्यध्वनि के घोतन की बात कही गई है, उसकी ध्व० ३।९ में कथित -- 'घोत्योऽसंघटनाक्रमः क्वचित्' से संगति है। और वृत्तिभाग के 'अत्र - विवक्षितान्यपरवाच्य..... प्रबन्धेषु केषुचिद्यथोक्तते' में निम्न अंश शेष है -- 'रसादिव्यनेः प्रकृतस्य मार्गस्य व्यंजकत्वेति शेषः'। इस प्रकार अभिनव गुप्त ने कारिका और वृत्ति दोनों की संगति लगाने का निर्देश किया है।'

तदनन्तर अपने कथन का सार बताते हैं कि - 'बात यह कही गई - प्रबन्ध से कहीं अनुरणनरूपव्यंग्य ध्वनि वाक्यात् व्यंजित होती है, वह रसादि में पर्यवसित होती है।' और, क्योंकि ध्व० ३।९५ कारिका के पूर्व ध्व० ३।९४ में असंघटनाक्रम-व्यंग्यध्वनि का विवेचन किया गया है तथा ध्व० ३।९५ के बाद ध्व० ३।९६ में भी असंघटनाक्रमव्यंग्यध्वनि का विवेचन किया गया है। अतः अभिनवगुप्त को यह असंगत लग रहा है कि कैसे दीप (ध्व० ३।९५) में संघटनाक्रमव्यंग्य का विवेचन हो गया ? इसी पर वह कहते हैं -

यदि स्पष्ट रूप से व्याख्यान किया जाय तो पूर्वोक्त असंघटना-विषयक मुख्य के दीप में यह संघटनाक्रमविषयक मुख्य असंगत होगा और पांचवन्य

१- न केवलं प्रबन्धेन वाक्यादव्यंग्यो रसो यावत्परम्पर्येणापीति वक्तुमुपक्रमते यिवेति। अनुस्वानोपनः - शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च, यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः यः केषुचित्प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यंजकेषु सत्सु व्यंग्यतया स्थितः सन्। अत्रेति रसादिध्वनेः प्रकृतस्य मार्गस्य व्यंजकत्वेति शेषः। वृत्तिग्रन्थोऽप्येवमेव योज्यः। अत्र चानुस्वानोपनः उक्तस्मिन् प्रभेद उदाहृतो यः प्रबन्धेषु मार्गो अस्या 'घोत्योऽसंघटनाक्रमः क्वचित्' इत्युत्तरार्द्धेन कारिकावृत्त्योः संगतिः।

इदमुक्तं भवति - प्रबन्धेन कदाचिदनुरणनरूपव्यंग्यो ध्वनिः वाक्यादव्यज्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति। - लो० पृ० ३५९

की उक्ति आदि का गौरवत्व कहा जाने लगेगा ।[१]

इसके बाद अभिनवगुप्त - 'अहं त्रिरत्रा' इत्यादि श्लोक में जिसे आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में अपरांगनिमूलक भेद के उदाहरणार्थ उद्धृत किया है, उसमें शान्त रस बताते हैं ।[२]

समीक्षा -

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त व्याख्या में कुछ तथ्य अवलेख्य हैं -

१- प्रबन्ध में न केवल साक्षात् वस्तु वस्तु परम्परा से रसव्यंग्य की बात ।

२- प्रबन्ध में कहीं अनुरणनरूपव्यंग्य के साक्षात् व्यंजित होने पर रसादि में उसका पर्यवसान ।

३-'अहं त्रिरत्रा' इत्यादि श्लोक में - जिसे आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य में अपरांगनिमूलक भेद के उदाहरणार्थ उद्धृत किया है ,उसमें अभिनवगुप्त का शान्त रस निर्देश ।

४- पूर्वोत्तर सन्दर्भ में अलक्ष्यक्रमविषयक विवेचन से मध्य संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के विवेचन की असंगति ।

उपर्युक्त चारों तथ्यों का विश्लेषण -

१- अभिनवगुप्त ने जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात चलायी है , वह उनकी अपनी नहीं चूक है । किन्तु परम्परा से रसव्यंग्य की बात चूक घटती है । क्योंकि रसप्रतीति में क्रम संलक्षित नहीं होता, इसीलिए इसमें शतपत्रदलभेदन्याय माना गया है । और इसी कारण आनन्दवर्धन ने रसव्यंग्य को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत रखा है। यदि रसप्रतीति में विलम्ब हो गया , उसमें क्रम संलक्षित हो गया , तब फिर वह भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि हो जाए गा । इसीलिए आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेद प्रभेदों का विभाजन स्पष्ट रूप से कर दिया है ।

१- यदि तु स्पष्टमेव व्याख्यायते तदा ग्रन्थस्य पूर्वोत्तरसन्दर्भविषयस्य मध्ये ग्रन्थोऽसंगतः स्यात् , गौरवत्वं च पर्यवसानोक्त्यादीनामनुसंधानादित्यलम् ।

लो० पृ० ४५

२- स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरसः एव परिनिष्ठितां प्राप्तः । लो०पृ० ४७

- असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत - रसादिव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत -केवल वस्तु और अलंकार व्यंग्य को कहा है । अतः संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत परम्परा से रसव्यंग्य की बात कैसे सिद्ध होगी ? यह एक जटिल प्रश्न है ।

सम्भवतः अभिनवगुप्त ने जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात कहा है, उसके मूल में पूर्व प्रतिपादित - स्वं वाचिनी शैवधी[1] आदि उदाहरण हैं। जिसे आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्यव्याप्ति के लिए उद्धृत किया है उसमें क्रमशः रस वस्तुव्यंग्य है किन्तु अभिनवगुप्त उसमें भी अपने ढंग से रसप्रतीति की बात करते हैं-

'रसस्यत्रापि मुख्य एव व्यभिचारित्वकथने पर्यवसानमेव गतीति । तदपेक्षयाऽऽक्षेपकत्वमेव, क्रमापेक्षया तु तस्य व्यंग्यत्वम्'[2]।

यहाँ पर एक तथ्य अवश्य है कि आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के उपर्युक्त उदाहरण में इतना अवश्य कहा है -

'इह तु वाग्व्यापिन्याव्यभिचारितुल्येन रसप्रतीतिः'[3]

किन्तु अभिनवगुप्त की भाँति दूर जाकर या परम्परा से रसप्रतीति की बात नहीं कहते । यह अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है ।

२. प्रबन्ध में कहीं अनुरणनरूपव्यंग्य क्रमशः व्यंजित हो, तो उसका रसादि में पर्यवसान हो जाता है - यह अभिनवगुप्त का मत है । आनन्दवर्धन का ऐसा आग्रह नहीं है । यदि आनन्दवर्धन को रसादि में पर्यवसान की बात अभीष्ट होती, तो जब प्रबन्ध में अनुरणनरूपव्यंग्यव्याप्ति का विवेचन कर रहे थे तब इस तथ्य का भी प्रतिपादन करते । किन्तु आनन्दवर्धन ने ऐसा नहीं कहा है । अतः रस में पर्यवसान की बात अभिनवगुप्त की ही सूझ है । वस्तुतः ऊपर जो परम्परा से रसव्यंग्य की बात कही गई है और रस में पर्यवसान की बात मूलतः एक ही है। केवल उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है ।

सम्भवतः अभिनवगुप्त ने जो रस में पर्यवसान की बात कही है उसके मूल में यह तथ्य हो कि - प्रबन्ध में कोई न कोई एक रस प्रधान होता है । और सब का पर्यवसान उसी अंगी रस में ही होता है । यह तथ्य सत्य अवश्य है किन्तु साथ ही यह भी विचारणीय है कि क्या प्रबन्ध में जो भी पद्य निबद्ध किया जाय उसका पर्यवसान अंगी रस में हो ? क्या यह नहीं हो सकता कि निबन्धन में केवल

---

१. ध्व. पृ. २४८.

२. लो. पृ. २५०.

वस्तु या अलंकारव्यंग्य स्वतन्त्र हों ?

अभिनवगुप्त के अनुसार रस में पर्यवसान की बात मान लेने पर तो संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । और इस प्रकार तो यह संपूर्ण रस में ही पर्यवसित होने के कारण असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का ही अनुयायी बना रहेगा ।

३. 'अलं स्थित्वा' इत्यादि श्लोक में अभिनवगुप्त ने शान्त रस का निर्देश किया है । किन्तु आनन्दवर्धन ने इसे वस्तुस्वतोत्पन्नव्यंग्यवस्तु के अपौढोक्तिमूलक के लिए उद्धृत किया है । और यह प्रबन्धप्रकाश्यत्वात् उत्प्रेक्षितमूलक वस्तु व्यंग्य का स्पष्ट है । क्योंकि पूरा प्रकरण वाच्य रूप में तो प्रस्तुत करता है शास्त्रीय ज्ञान को, किन्तु उससे व्यंग्य हो रहा है दोनों भूतों (मृग और शृगाल) का अपना स्वार्थ । मृग और शृगाल की जो क्रियायें यहां उपनिबद्ध हैं वे स्वतः और बिना कल्पना के ही इस रूप में सिद्ध तथा सम्भव हैं । इससे जो अर्थ व्यंजित हो रहा है , वह भी एक वक्तव्य मात्र है, अलंकार रूप नहीं है । इस प्रकार यहां पूरा प्रकरण स्वतःसम्भवी अर्थ प्रस्तुत करता है और उससे वस्तुव्यंग्य हो रहा है। अतः यहां मृग और शृगाल का स्वार्थ , प्रबन्ध से प्रकाशित, लोक सिद्ध अर्थ से व्यक्त हो रहा है । अतः महाभारत का यह पूरा प्रकरण प्रबन्धप्रकाश्यत्वात् - उत्प्रेक्षितमूलक वस्तु व्यंग्य का स्पष्ट है । किन्तु अभिनवगुप्त इसमें भी शान्त रस ढूंढते हैं । आचार्य मम्मट ने भी इस उदाहरण को उद्धृत किया है यद्यपि उन्होंने इसमें शान्तरस का निर्देश नहीं किया है ।

अभिनवगुप्त ने रस में पर्यवसान वाले अपने तथ्य की पुष्टि के लिए ही इस उदाहरण में शान्तरस बताया है । क्योंकि महाभारत में अंगी रस - शान्त है । अतः अभिनवगुप्त 'अलं स्थित्वा' इत्यादि का पर्यवसान शान्त रस में बताते हैं।

४. अभिनवगुप्त ने जो - पूर्वोत्तर सम्बन्ध से असंलक्ष्यक्रमविषयक विवेचन में मम्मट संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के विवेचन की असंगति की बात उठायी है - वह व्युत्पन्न हो जाने के कारण ठीक भी है । आनन्दवर्धन वाले तो प्रबन्ध में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पोषण का उल्लेख असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पूर्व या पश्चात् कर सकते थे । किन्तु ,

यदि आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रम का विवेचन असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के बीच में कर भी दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि अभिनवगुप्त संलक्ष्यक्रम का भी पर्यवसान(असंलक्ष्यक्रम की भाँति) रसव्यंग्य में ही मानने लगें। वह तो अभिनवगुप्त अपने मत को आनन्दवर्धन के सिद्धान्त पर बलात् आरोपित कर रहे हैं।

प्रबन्ध में रसादिव्यंजक के अन्य हेतुओं के विवेचन के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -[1]

प्रबन्ध में रसादिव्यंजक होने में अन्य मुख्य कारण है - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श निर्वहण नामक सन्धियों और उपसंधि आदि उनके अंगों का रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से जोड़ना। यथा - 'रत्नावली' नाटिका में।

अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन की उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या के प्रसंग में और ग्रन्थ विस्तार करते हुए काव्य के प्रयोजन का उल्लेख करने लगे - कि काव्य के माध्यम से चतुर्वर्ग, अर्थ, काम और मोक्ष का जो पारंपरिक मुख्य फल है रसानन्द उसकी प्राप्ति भी होती है और कवि व्यवहार का उपदेश भी सरल और सरस रीति से हो जाता है। इसलिए कहते हैं -

'य च रसस्यनुनिर्वायव्युत्पत्तिमान्तरीयकविभावादिसंयोगप्रयोगोपनत इत्येवं रसोचितविभावानुभावव्यभिचारिणां व्युत्पत्तौ प्रयोक्तमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा च रसस्तेन नाट्यं नाट्यमेव वेद इत्यस्यनुबाध्यायः'।[2]

इसके बाद 'व्युत्पत्ति' और 'फल' का प्रमाण करने लगे। कवि के आवश्यक उपायों की पांच अवस्थाओं - स्वरूप, स्वरूपाभिव्यक्तिविषयकूलता, निर्वहणप्रतिपत्तता वाक्यवाक्येन सुसूक्तकवित्वता - को बताते हुए सन्धि और सन्ध्यंगों के भेद प्रभेदों का सविस्तार प्रतिपादन किया।

यहां एक तथ्य अवश्य है कि आनन्दवर्धन तो केवल प्रबन्धों में रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से सन्धि और सन्ध्यंगों को जोड़ने की बात कहा रहे हैं, किन्तु अभिनवगुप्त अनेक अवान्तर चर्चाओं को भी इसी प्रसंग में प्रतिपादित करने लगे - जो प्रस्तुत ग्रन्थभाग को स्पष्ट करने में तिलमात्र भी उपयोगी नहीं है। यह तो अभिनवगुप्त का स्वभाव है कि स्थान-स्थान पर तनिक सा भी अवसर पाकर अप्रासंगिक बात कह अवश्य देते हैं, चाहे उसका उस प्रसंग में कोई उपयोग न हो।

द्युत्तिसंवलनकारणनादादि से रस द्योतन-

ध्व० ३।२६ में आनन्दवर्धन ने द्युत्तिसंवलनकारणनादादि से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के द्योतन की बात कही है।

द्युत्तिसंवलनसम्भेदरूपा कारणस्थितिः।
पृथक्स्थितेस्तनादेश्च योऽसंलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥

असंलक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यरूपा रसादिः द्युत्तिर्यो विभावविशेषैर्घटनाविशेषैः सम्बन्धविशेषैः कारणस्थितिः द्युत्तिर्यो रसादिविशेषैः तनादेरनेति। यद्यप्यग्निपातोपलक्षणादादिना प्रभृतेरभिव्यज्यमानो दूरंस्थे।

अभिनवगुप्त लोचन में इस कारिका की व्याख्या करते हैं -

यमं स्थित्यनेतरमन्तरं द्युत्तिसं व्युत्पाद्यते। द्युतादिभिः योऽनुरणनात्मको वाक्यार्थीभूतो वक्त्राभिप्रायविशेषः तस्यापि द्युतादिभिर्व्यङ्ग्यत्वादसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यो योज्यः। क्वचिदिति क्वचिदिति पूर्वकारिकया सह संबन्धः संगतिरिति। इयमत्र हि द्युतादीनामभिप्रायविशेषाभिव्यंजकत्वमेव। तदाश्रयेण च रत्यभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्वं विभावादिरूपतामादाय रसादीन्व्यनक्ति।

लोचन के उपर्युक्त अंश में निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं -

(१) द्युतादि से जो वक्ता के अभिप्राय से अनुरणनात्मक व्यंग्य भासित होता है उसका पुनः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप से द्योतन।

(२) कारिका में प्रयुक्त 'क्वचित्' को लेकर पूर्व कारिका से संगति दिखाना।

(३) आनन्द और परम्परा से रसव्यंग्य की बात।

१. द्युतादि द्वारा, वक्ता के अभिप्राय से अनुरणनात्मक व्यंग्य के भासित (उसका पुनः असंलक्ष्यक्रम रूप से द्योतन) होता है - यह अभिनवगुप्त का मत है। क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्व० ३।२६ में द्युत् आदि का असंलक्ष्यक्रमद्योतन शब्दतः प्रतिपादित किया है। इससे पूर्व कारिका (ध्व० ३।२५वीं) में, ग्रन्थों में अनुरणनात्मक(असंलक्ष्यक्रम) व्यंग्य के द्योतन की बात कही

१- ध्व० पृ० ३४७-३४८ २- लो० पृ० ४६७

गई है । अतः अभिनवगुप्त पूर्व कारिका के साथ संगति बैठाते हुए - द्युतादि में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कह रहे हैं और फिर उस द्युतादि संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यत्व बता रहे हैं ।

'द्युतादिषि: योऽनुत्वानोपनो वाक्ये वस्तुमिद्वाक्षिप्त: अलक्षि द्युतादिभिर्व्यक्तस्यानुत्वानोपनत्वाल्लक्ष्यक्रमव्यंग्यो भेदत्व: ।'[1]

यहां अभिनवगुप्त ने -'द्युतादि संलक्ष्यक्रम का असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यत्व' को बताया है - वह प्रस्तुत प्रसंग को और अधिक उलझा देता है ।

अभिनवगुप्त ने कारिका में प्रयुक्त 'क्वचित्' को लेकर पूर्व कारिका से संगति बिठाई है वह क्वचिदेती की डींगमात्र है । क्योंकि ध्व० ३।२६ का पूर्व की कारिका ध्व० ३।२५ से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

ध्व० ३।२६ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'रसवृत्तं क्वचित - वर्णादिभि: प्रबन्धान्तै: साक्षाद्वा रसोऽभिव्यक्ते विभावादिप्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिव्यंजनद्वारेण परम्परयेति तत्र बन्धस्यैतत्परम्परया व्यंजकत्वंप्रक्रमादादायुक्तम् ।'[2]

यहां अभिनवगुप्त ने जो साक्षात् और परम्परा से रसव्यंग्य की बात कही है वह अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहीं भी साक्षात् और परम्परा से रसव्यंग्य की बात नहीं कही है । रसप्रतीति साक्षात् नहीं होती । वह तो असंलक्षित होती है । और परम्परा से रस-प्रतीति नहीं होती, उसमें प्रतीति इतनी शीघ्रता से होती है कि क्रम लक्षित नहीं होता । इसीलिए उसे असंलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत रखा गया है । यदि क्रम संलक्षित हो जाय, रसप्रतीति में विलम्ब हो जाय तो वह संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का विषय हो जाता है । जैसे 'एवं वादिनी देवपुत्रौ' में ।

१- लो० पृ० ३४७ २- वही पृ० ३४७

वर्णों का रस द्योतन -

ध्व० ३।३ और ३।४ में आनन्दवर्धन वर्णों के रस द्योतन का उपपादन करते हुए कहते हैं -

ट ठ ड ढ रेफ के साथ संयोग और अनेक बार प्रयुक्त होकर झंकार रस के विरोधी होते हैं अतः वर्ण रस को प्रकाशित करने वाले नहीं होते हैं, किन्तु जब ये ही ट ठ ड ढ रेफ आदि वीभत्स रस में निबेशित किए जाते हैं तब ये रस को दीप्त करते हैं अतः वर्ण रस के द्योतक होते हैं।

आनन्दवर्धन के मत को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

यद्यपि विभावानुभाव व्यभिचारि का संयोग ही रसास्वाद में कारण होता है तथापि विभावादि में प्रयुक्त विशिष्ट वर्णों से रसास्वाद होता है। इस प्रकार अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले, स्वमात्र बोध द्वारा ग्राह्य मृदु अथवा परुष स्वभाव वाले वर्ण रसास्वाद में सहकारी होते हैं। वर्णों की सहकारिता के अभिधान के लिए ही 'वर्ण' पद में निमित्त सप्तमी है।[१]

अर्थात् अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह है कि रसाभिव्यक्ति में विभावादि का संयोग होता है और वर्ण रसाभिव्यक्ति में सहायक मात्र होते हैं।

संघटना का रसाभिव्यंजकत्व -

माधुर्यादि गुणों के आश्रय से, संघटना के रसाभिव्यंजकत्व के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -

रस आदि को वाच्यव्यंग्य मान लेने पर कोई नियत संघटना गुणों का आश्रय नहीं होती है। इसलिए जिसकी संघटना नियत नहीं है ऐसे शब्द ही व्यंग्यविशेष से अनुसार हो कर गुणों के आश्रय हैं।

उपर्युक्त मत को न मानने वाले पूर्वपक्षी का मत है कि माधुर्य के विषय में इस प्रकार कहा जाय तो ठीक है किन्तु ओजस् का नियत संघटना से रहित शब्दों का आश्रयत्व कैसे सम्भव है ? क्योंकि असमासा संघटना कभी ओजस् का आश्रय नहीं बन सकती।

१- ध्वन्यालोक पृ० ३७८ २- ध्व० पृ० ३१५

सिद्धान्तवादी कहता है - रौद्र आदि को प्रकाशित करने वाली काव्य की वृत्ति 'ओजस्' है। वह 'ओजस्' यदि असमासा संघटना में भी हो तो कोई दोष नहीं। उसमें समास द्वारा क्लेश कोई अलङ्कार्य नहीं। अतः गुणों के नियत संघटना से रहित, शब्दों के आश्रय होने से कोई क्षति नहीं।

ध्वन्यालोक के उपर्युक्त अंश की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'यत्तु पुनः - वर्णपदवाक्येष्वपि रौद्रादिस्वभावे वर्णपदानामेकादिनां स्वतोऽव्यक्तेरपि न साक्षादुद्दीप्तिरिति सामयिकतानि संघटनाविशेषाणि न वृत्तानीति सामान्येनैवायं पूर्वपक्ष इति।'[1]

अभिनवगुप्त ने 'यत्तु पुनः' कह कर अपना मत रखा है और उसे पूर्वपक्ष कहा है। आनन्दवर्धन का मत है - 'जिसकी संघटना नियत नहीं है ऐसे शब्द की व्यंग्यविशेष से अनुगत होकर गुणों के आश्रय होते हैं।' आनन्दवर्धन के मत को अभिनवगुप्त अपने ढंग से व्याख्यात करते हैं। अभिनवगुप्त की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को उस प्रकार ग्रहण नहीं करते हैं जिस प्रकार आनन्दवर्धन उसे कहना चाह रहे हैं। अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं --'रौद्रादि स्वभाव ओजस् के वर्ण पदवाक्य होने पर भी अकेले वर्ण-पदों का अपना सौन्दर्य भी तब तक उद्दीप्त नहीं होता जब तक वे वर्णपद संघटना से संयुक्त नहीं किए जाते'।

आनन्दवर्धन का यह अभिप्राय नहीं है। आनन्दवर्धन ने तो स्वयं संघटना में ही वर्णपद के व्यंजकत्व की बात कही है, किन्तु 'अनियत संघटना' कहा है। अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि शृंगार में असमासा संघटना ही हो और रौद्र आदि में दीर्घ समासा संघटना। प्रायः इसके विपरीत स्थिति भी देखी जाती है। इसीलिए 'अनियत संघटना' पद का प्रयोग आनन्दवर्धन ने किया है।

संघटना के नियमन में हेतु वक्तृ वाच्यगत औचित्य के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -

---

१- ध्व० पृ० ३२५-३२६ २- लो० पृ० ३२६

'वाच्य'- ध्वनि काव्य के प्राणभूत तत्व-'रस' का अंग अथवा 'रसभाव' का अंग हो सकता है, अभिधेयार्थ अथवा अभिधेयार्थ उक्त प्रकृति के आश्रित अथवा उससे इतर के आश्रित , बहुत प्रकार का हो सकता है ।

इस पर अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'वाच्यविशिष्टव्यक्त्या ध्वनिव्यवहारो यो रसतत्स्थानं व्यंग्यविशेषः । अभिधेयो वर्णसंघटनाद्यर्थैराक्षिप्तेन वाक्यार्थस्वरूपेण वाक्यार्थेन व्यंग्यो ध्वनिव्यवहारो यत्र तदभिधेयार्थं वाच्यं, न रस काव्यार्थ इत्युच्यते ।

ध्वन्यालोक में 'ध्वन्यात्मरसादिं' में प्रयुक्त 'आत्म' पद का अभिनवगुप्त 'स्वभाव' अर्थ कर रहे हैं और ध्वनि एवं रस को एक रूप मान रहे हैं । किन्तु आनन्दवर्धन को यह अर्थ अभीष्ट नहीं है । आनन्दवर्धन के अनुसार यहां 'आत्म' पद का अर्थ 'प्राण' है ।

तात्पर्यशक्ति -

व्यंजकत्व की स्थापना के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने वाच्य-व्यंग्य में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय का खण्डन किया है । किन्तु आनन्दवर्धन ने पदार्थ वाक्यार्थ का विवेचन करते हुए कहीं भी तात्पर्य शक्ति का नाम नहीं लिया है। किन्तु अभिनवगुप्त 'लोचन' में उपर्युक्त प्रसंग के प्रारम्भ में, भूमिका रूप में कहते हैं-

'मन्येदं मया पूर्वाचार्यलक्षितमपि तात्पर्यशक्तिभेदविभक्तीत्याद्यंशमात्रं न चेति।' इत्यादि ।

वस्तुतः तात्पर्यशक्ति की स्थापना अभिनवगुप्त की ही सूझ है । आनन्दवर्धन केवल तीन शक्तियों को मानते हैं - वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यंजकत्व ।उन्होंने तात्पर्यशक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है । किन्तु अभिनवगुप्त ने प्रथम और तृतीय उद्योत में तात्पर्यशक्ति का विवेचन किया है । ध्व० १।४ के उदाहरण 'सा सम्प्रति' को रस व्यापृत करने के प्रसंग में पदार्थों के परस्पर अन्वय की प्रतिपत्ति कराने के लिए तात्पर्यशक्ति को मान रहे हैं -

(१) न वाक्यप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः प्रतिपत्तिरेवान्वयस्य नाभिधाव्यापारतया तस्याः पदार्थोपस्थितिपर्यवसानाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वय-प्रतिपत्तिः ।

(२) द्वितीयो मार्गपक्षः इत्थम् द्वितीयकक्षानिविष्टतात्पर्यशक्तिजन्यबोधाश्रय वाक्योत्थापन्नतत्तन्निषातातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्तं तावत् तृतीयमेव शक्तिं - स्वीकारविपुरीकरणनिपुणा उदाहरणान्तरेणा समुल्लसति ।

(३) तत्तन्निषातातात्पर्यजन्यातिरिक्तस्यतुर्थोऽसौ व्यापारो व्यञ्जनाभिधान-व्यंजनपूर्वकाभिधानाभिन्नोऽर्थप्रत्यायकत्वरूपोऽभिधाविलक्षणोऽनुभवसिद्धः ।

(४) तत्तो विशेषकर्मे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परम्परान्विते ।

(५) तेन तत्पदापेक्षा वाक्यार्थज्ञानशक्तिरभिधाशक्तिः । तत्पदानुपपत्तिसहायार्थान्वयबोधशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिपादनशक्तिर्लक्षणा-शक्तिः तत्पदशक्त्यनुपपत्तिसहायार्थज्ञानमूलकतत्तत्प्रतिपाद्यविशिष्टप्रतिपत्तिमूलप्रतिपाद्य-सहायार्थबोधनशक्तिर्व्यञ्जनव्यापारः, इत्थं च प्राभृतं व्यापारत्रयं न्यक्षतुर्न्यूनानतृतः, काव्यात्मेत्वाग्रहेण निषेधमुखतया च प्रयोजनविषयोऽपि निषेधविषय इत्युक्तम्।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त 'तात्पर्य-शक्ति' को द्वितीय कक्षा निवेशित मान रहे हैं। कुमारिल भट्ट - अभिहितान्वयवादी हैं, वे पदों के उचित अर्थ के बोधन के लिए तात्पर्यार्थ को मानते हैं। 'तात्पर्य' को शक्ति संज्ञा देने वाले आनन्दवर्धन हैं, जो अन्वयवादी के पक्षधर हैं। अतः तात्पर्यशक्ति को अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन से लेकर यहां रखा है अतः प्रस्तुत प्रसंग में अर्थात् काव्यबोध में 'तात्पर्यशक्ति' की कल्पना - अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है। अभिनवगुप्त से ही प्रभावित होकर आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में -'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' कहा है।

संभवतः कुछ लोग यह मानने को तैयार नहीं हों कि - काव्यशास्त्र तात्पर्यशक्तिवादिता की सूझ अभिनवगुप्त की अपनी है। यह तो अभिहितान्वय-वादी मीमांसकों द्वारा सुझायी गयी है। इस स्थिति में इतना तो मानना

१-वही पृ० ४८-४९ २- वही पृ० ५२

३- वही पृ० ५५ ४- वही पृ० ५२-५३

५- काव्यप्रकाश २।६ पृ० ३५

ही पड़ेगा कि अभिनवगुप्त ने तात्पर्यवृत्ति को मीमांसकों से लेकर आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में जोड़ा है। आनन्दवर्धन तात्पर्यवृत्ति को नहीं मानते। आनन्दवर्धन केवल तीन शब्द व्यापारों के पक्ष में हैं - १- वाचकत्व, २- गुणवृत्ति, ३- व्यंजकत्व। किन्तु अभिनवगुप्त दूसरे स्थान पर तात्पर्यवृत्ति को रखते हैं और चतुर्थ क्रम में किसी व्यंजना-व्यापार को मानता है। इस: यहां तक शब्द व्यापारों का प्रश्न है अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन से भिन्न रखते हैं।

शान्तरस-[२]

सभी आचार्य आठ रसों को निष्पन्न रूप से स्वीकार करते हैं किन्तु नवें शान्त रस के विषय में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त शान्त रस को भी स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन के पूर्व भी शान्त रस कुछ आचार्यों द्वारा स्वीकार किया गया है किन्तु उसे पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुंचाने का श्रेय अभिनवगुप्त को ही है।

अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती आचार्य जिन्होंने शान्त रस का उल्लेख किया है वे हैं - उद्भट, रुद्रट और आचार्य आनन्दवर्धन किन्तु इन आचार्यों ने शान्त रस का विवेचन उस रूप में नहीं किया, जिस रूप में आचार्य अभिनवगुप्त ने। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के शान्त रस का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने शान्त रस का स्वरूप आनन्दवर्धन से भिन्न रूप में माना है।

१-(i) डा० मुकुन्द माधव शर्मा भी इस तथ्य से सहमत हैं -

' Ānanda does not conceive of the tātparyaśakti. He conceives tātaparya as the intention of the Speaker in respect of the meaning of the sentence. This tātparya is relegated even to the word and the meaning. Which are intent upon conveying the suggested sense. This tātparya is not conceived by Ānanda as a function of the words of the same status as that of abhidhā, lākṣaṇā or vyañjanā--The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics.' Page, 190 .

(ii) यहाँ अवधेय तथ्य यह है कि 'तात्पर्यवृत्ति' वाक्य की शक्ति है। इसीलिए आनन्दवर्धन ने शब्द-शक्तियों के साथ उसका विवेचन नहीं किया है। इस तथ्य की ओर हेमचन्द्र का ध्यान था, इसीलिए उन्होंने भी शब्दशक्तियों के प्रसङ्ग में तात्पर्यशक्ति की चर्चा करना अप्रासंगिक समझ कर छोड़ दिया - 'अभिधानन्तरं च यद्यपि अन्वयप्रतिपत्तिनिमित्तं तात्पर्यशक्तिरप्यस्तित द्धविषयस्तात्पर्यलक्षणोऽर्थः तथापि तौ वाक्यविषयावेवेति नात्रोक्तौ।' का०-नु०-शा० १.५८.

२- श्री राघवन् ने अपनी पुस्तक ' Number of Rasaa' में शान्त रस विषयक विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया है।

अभिनवगुप्त ने लोचन की अपेक्षा अभिनवभारती के चतुर्थ अध्याय में इसका विवेचन अधिक विस्तृत रूप में किया है। जिसका संक्षिप्त रूप लोचन में रहा है।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध शान्त रस के विषय में प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग शान्त रस को नहीं मानते। कुछ लोगों का मत है कि शान्त रस हो भी तो नाटक में उसका अभिनय नहीं किया जा सकता। इसलिए काव्य में भले ही शान्त रस मान लिया जाए, नाटक में उसका मानना उचित नहीं है। जो लोग शान्त रस को मानते हैं, उनमें इसके स्थायीभाव के विषय में मतभेद पाया जाता है। अभिनवभारतीकार ने शान्त रस विषयक इन विभिन्न मतान्तरों का विवेचन करके, अन्त में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है।

शान्त रस का स्थायीभाव-

आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों में से, भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध शान्त रस प्रकरण के विषय में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कहना असम्भव है। रुद्रट के 'काव्यालंकार सार संग्रह' में शान्त रस का नामोल्लेख मात्र है। उसका स्थायीभाव नहीं बताया है, प्रतिहारेन्दुराज ने व्युत्पत्ति में 'शम' को स्थायीभाव माना है। उसके बाद आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में शान्त का स्थायीभाव - सम्यग्ज्ञान माना है। नमिसाधु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रुद्रट 'सम्यग्ज्ञान' को स्थायीभाव मानते हैं।

आनन्दवर्धन के पूर्व 'शम' और 'सम्यग्ज्ञान' को शान्त का स्थायीभाव कहा जा चुका था, आनन्दवर्धन ने 'तृष्णाक्षयसुख' रूप शान्त रस को माना है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही शान्त रस के स्थायीभाव के विषय में विद्वानों के मध्य मतैक्य नहीं था। साथ ही शान्त रस की स्थिति के विषय में भी मतभेद था यह तो आनन्दवर्धन के 'प्रतीयते स्व'[2] से भी लक्षित होता है।

१- सम्यग्ज्ञान प्रकृतिः शान्तो विनतेच्छायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषये समतो रागस्य वापगमात् ॥

सम्यग्ज्ञानं स्थायीभावः - नमिसाधु

2- 'शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत स्व' इत्यादि.

अतः शान्त रस - शान्त होते हुए भी , चित्तवृत्ति के मध्य अशान्त, अर्थात् चित्तवृत्ति का विषय बना हुआ था । शृंगारादि रसों के रत्यादि स्थायीभाव की भाँति उसका कोई निश्चित स्थायीभाव नहीं था ।

तृष्णाक्षयसुख -

आनन्दवर्धन के समय तक शम और सम्यक् ज्ञान शान्त रस के स्थायी भाव कह दिए गए थे । आनन्दवर्धन ने शान्त रस का स्थायीभाव 'तृष्णाक्षय-सुख' माना है । अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के तृष्णाक्षयसुख को 'निर्वेद' रूप मानते हैं । :-

'तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सकलो निवृत्तिरूपो निर्वेदः'[१]

अलंकार प्रकृतेरूप-

आनन्दवर्धन के समय भी कुछ लोग शान्त को पृथक् रस स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे । 'शान्त' को वीर के अन्तर्गत ही मानते हैं । अतः आनन्दवर्धन शान्त को वीर से पृथक् करते हुए कहते हैं - 'अलंकारप्रकृतेरूप शान्त रस' होता है -

'अस्य च शान्तस्य अलंकारप्रकृतेरूपतया स्थितेः'

लोचनकार 'अलंकारप्रकृतेरूप' के लिए 'निवृत्ति' पद प्रयुक्त करते हैं । आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुवर्ती हेमचन्द्र - आनन्दवर्धन के 'तृष्णाक्षय' को शम के नाम कहते हैं -

'तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावः सर्वेषां प्राज्ञैः शान्तो रसः'

सर्वचित्तवृत्तिप्रक्षय -

कुछ लोग तृष्णाक्षयसुख को न मानकर, समस्त चित्तवृत्तियों के प्रक्षय को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानते हैं । अभिनवगुप्त कहते हैं कि समस्त चित्तवृत्तियों के प्रक्षय का अर्थ सभी चित्तवृत्तियों का विरोधी चित्तवृत्तिविशेष है।[२]

१- लो० पृ० ३६० ।

२- अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रक्षय एवास्य स्थायीति मन्यन्ते ।तन्नाऽऽत्,भावस्य प्रक्षयवृत्तिर्नोक्तरूपत्वे केनोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात् । पर्युदासे तु अस्त्यत्रापि स्वाम् ।(लो० पृ० ३६०)

निर्विशेष चित्तवृत्ति -

कुछ लोग केवल शान्त को मानते हुए कहते हैं - भाव अपना निमित्त पाकर शान्त से प्रकृत होता है, परन्तु निमित्त के अभाव होने पर शान्त में ही प्रलीन हो जाता है -

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तोदात्तादयः सुधीः ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥[1]

इस प्रकार कतिपय आचार्य भरत के रसदृष्टिशास्त्र के इस वाक्य को प्रमाणार्थ उद्धृत करते हुए, सभी रस का सामान्य स्वभाव शान्त को कहते हुए 'अनुपघातविशेषान्तरचित्तवृत्ति' को शान्त का स्थायिभाव कहते हैं।[2]

अभिनवगुप्त का मत है कि तृष्णाक्षय से 'अनुपघातविशेषान्तर-चित्तवृत्ति' में अन्तर का अन्तर है। 'अनुपघातविशेषान्तरचित्तवृत्ति' - तृष्णा का प्राग्भाव है और तृष्णाक्षय तृष्णा का ध्वंसाभाव है। फिर भी अभिनवगुप्त इस पदा के लिए कहते हैं -

'लक्ष्य गतीवास्वल्पत्वाद् दुष्टम्'। किन्तु साथ ही ध्वंसाभाव के प्रति ही उनका आग्रह है - 'मुख्यस्य ध्वंस एव तृष्णाक्षयस्य'।

निर्वेद -

कतिपय विद्वान् 'निर्वेद' को ही शान्त रस का स्थायीभाव मानते हुए कहते हैं - तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शान्त रस का स्थायीभाव है। जैसा कि आचार्य भरत सप्तम अध्याय में कहते हैं -

'तत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्यव्याध्यवमानाभिशापापकृष्टक्लेशाऽवक्षेपण-क्रियोल्लङ्घनादिभिः विभावैः उत्पद्यते'।[3]

१- डी० पृ० ३६१
२- इति भरतवाक्यं पुरस्कृत्य केचित्तत्त्वज्ञानाभ्युदयभावं शान्तभावयन्तो अनुपघातविशेषान्तरं चित्तवृत्तिरूपं शान्तस्य स्थायिभावं मन्यन्ते ।डी० ३६१
३- डी० पृ० ३६१
४- अभिभा० - गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज़ भाग-१ पृ० ३२७

आचार्य भरत निर्वेद के अनेक कारण दे रहे हैं, किन्तु सब में मुख्य एवं श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान है। किन्तु यहां स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि निर्वेद की गणना तो आचार्य भरत ने व्यभिचारिभावों में की है, तब यह कैसे व्यभिचारिभाव, और स्थायीभाव दोनों होगा? इसका समाधान यह तो उठता है कि दारिद्र्य या इष्टजन के वियोगादि से उत्पन्न निर्वेद व्यभिचारिभाव होता है। किन्तु तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायीभाव होता है। जैसा आचार्यश्रेष्ठ ने संगीतरत्नाकर में कहा है -

स्थायी स्वाहितवेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिभूतस्तु व्यभिचार्यसौ ॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद, न केवल दारिद्र्यादि से उत्पन्न निर्वेद से श्रेष्ठ होता है, अपितु अन्य सभी स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों से उच्च होता है। जैसा कि निर्वेद के प्रसंग में अभिनवगुप्त कहते हैं -

'तत्त्वज्ञानवदन्य निर्वेदः स्थायूत्तरोपलक्षकः। नाट्यविघ्नसहिष्णुत्वो रत्यादिभ्यः यः परः स्थायिशेषः स एव हि स्थायूत्तराणामुपलक्षकः'।

और यही तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद शान्त रसका स्थायिभाव और मोक्ष का साधन है। इसी से भरत मुनि ने व्यभिचारिभावों में इसको सब से पहले स्थान दिया है। यदि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद, दारिद्र्य जन्य निर्वेद से भिन्न और मोक्ष का साधन न होता तो मंगल की कामना करने वाले भरतमुनि व्यभिचारिभावों के प्रारम्भ में निर्वेद को नहीं रखते।

यहां यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि निर्वेद तो अन्य रसों में व्यभिचारिभाव माना गया है और भरतमुनि ने स्वयं भी व्यभिचारिभावों में ही इसकी गणना की है तब इसे स्थायिभाव कैसे कह सकते हैं?

इसका समाधान 'निर्वेद' उत्पन्न आचार्यगण इस प्रकार देते हैं - एक रस का स्थायिभाव दूसरे रस में व्यभिचारिभाव हो सकता है, इस तथ्य को तो भरत मुनि ने भी स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने यह कहा है कि शृंगार रस

में जुगुप्सा को व्यभिचारिभाव के रूप में अङ्कित नहीं करना चाहिए। अन्यथा जुगुप्सा का शृङ्गार रस

१- बड़ो० पा० गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज़ भाग-१ पृ० ३३४

में व्यभिचारित्व के रूप में निर्देश करना संगत नहीं होता । इसलिए निर्वेद को व्यभिचारित्व और स्वाधिनत्व दोनों मानने में कोई हानि नहीं है । अतः तत्त्वज्ञान रूप निर्वेद शान्त रस का स्वाधिनत्व है ।

अभिनवगुप्त उपर्युक्त मत का खण्डन करते हैं, वे तत्त्वज्ञानरूप निर्वेद को शान्त-रस का स्वाधिनत्व नहीं मानते । क्योंकि ऐसा मानने पर तो एकमात्र तत्त्वज्ञान ही उसका कारण होगा । और तत्त्वज्ञान वैराग्य का कारण या बीज है । अब वैराग्य के मूलभूत तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है । उसमें परम्परित कारण मानकर यदि विभावत्व व्यवहार किया जाएगा, तब उसमें अति-व्याप्ति दोष आएगा । अतः तत्त्वज्ञानरूप निर्वेद को स्वाधिनत्व नहीं मानना चाहिए ।

दूसरा मत यह है कि समस्त विषयों के प्रति उपेक्षा बुद्धि रूप 'निर्वेद' ही वैराग्य का लक्षण है । विरक्त पुरुष यह यत्न करता है कि उसे तत्त्वज्ञान हो जाय । क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है । अतः पहले वैराग्य(निर्वेद) होता है, फिर तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञान से मोक्ष । न कि पहले तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके बाद वैराग्य या निर्वेद, और निर्वेद से मोक्ष । क्योंकि निर्वेद या वैराग्य -तत्त्वज्ञान का कारण होता है, कार्य नहीं । अतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को शान्त रस का स्वाधिनत्व कहना संगत नहीं है ।

ईश्वरकृष्ण ने भी कहा है कि 'वैराग्य' से ही मोक्ष नहीं मिलता । केवल जिस साधक को वैराग्य से तत्त्वज्ञान हो जाता है उसे ही मोक्ष मिलता है । और जिसे वैराग्य से तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ, वह प्रकृतिलीन अवस्था को प्राप्त होता है । इसलिए सांख्य में तत्त्वज्ञान से रहित केवल वैराग्य को 'प्रकृतिलय' का कारण बताया है ।

इस पर तत्त्वज्ञानरूप निर्वेद को ही शान्त रस का स्वाधिनत्व मानने वाला मूलभूत फिर तर्क करता है कि -

तत्त्वज्ञानी को अवश्य पुरुषार्थ वैराग्य होता ऐसा माना है । जैसा कि पतंजलि मुनि ने योगसूत्र में कहा भी है[२] । तत्त्वज्ञान हो जाने पर गुणों के प्रति जो वैतृष्णा

१- वैराग्यात् प्रकृतिलयः - सांख्य कारिका ४५ ।

२- तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् - योगसूत्र १।१६ ।

का भाव होता है वह 'परं वैराग्य' कहलाता है । अतः तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण एवं शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई दोष नहीं है ।

इस पर कहते हैं - 'यह ठीक है, किन्तु इस प्रकार का वैराग्य तो ज्ञान की चरम अवस्था है ।[१] और तत्त्वज्ञान की दृढ़ता द्वारा परिपोषित होने वाला तत्त्वज्ञान ही यह परं वैराग्य होता है । अतएव निर्वेद स्थायिभाव नहीं है । अपितु तत्त्वज्ञान ही शान्त रस का स्थायिभाव है' ।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में जो तत्त्वज्ञान से निर्वेद की उत्पत्ति की बात कही है, वह उन्होंने शान्त रस और स्थायिभाव की दृष्टि से नहीं कही है, वरन् वह सामान्यतः व्यभिचारिभाव रूप निर्वेद को कहा है । और चिरकाल तक प्राप्ति के कारण विषयोपभोगादि की उपादेय बुद्धि को दूर करने के लिए ही निर्वेद के कारण को तत्त्वज्ञान कहा है । जैसे - 'कृपा दुग्धोऽसंवान्' इत्यादि में मोक्ष के साधक निर्वेद के प्रति नहीं अपितु खेद रूप निर्वेद के विभाव रूप में ही कहा है । अतः तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद को शान्त रस का स्थायिभाव मानना अनुचित है ।

इस पर तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानने वाला फिर कहता है कि न्यायदर्शन में अपवर्ग (गौतम मुनि) के 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस सूत्र के आधार पर तत्त्वज्ञान को वैराग्य का कारण सिद्ध करने का यत्न किया गया है । (इस सूत्र का अर्थ है - तत्त्वज्ञान के पूर्व मिथ्याज्ञान का नाश होता है, उस मिथ्या ज्ञान के नाश होने से राग-द्वेष आदि दोषों का नाश होता है । उसके बाद कर्म प्रवृत्ति अर्थात् धर्म-अधर्म का नाश होता है और उससे जन्म का नाश होने पर दुःख का नाश होता है ।) अतः तत्त्वज्ञान से पूर्व मिथ्याज्ञान नाश और उससे जो दोष का नाश कहा है - उसी से तत्त्वज्ञान को वैराग्य का कारण माना जा सकता है । क्योंकि

१- यत्त्वेवम् साधुं तु वैराग्यं ज्ञानस्यैव परा काष्ठा इति पूर्वापरविरुद्धमभिधत्ते-त्यादि। (अभिनवभारती)।

मिश्रज्ञान का शास्त्र रूप तत्त्वज्ञान है और दोष शास्त्र रूप वैराग्य है । अतः तत्त्वज्ञान को वैराग्य का कारण मानना अनुचित ही है । इसलिए तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण एवं शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई दोष नहीं आता ।

इनके अनुसार वैराग्य ही 'निर्वेद' है ।

इस पर सिद्धान्तपक्षी कहता है कि वैराग्य और निर्वेद अलग-अलग हैं । क्योंकि शोक प्रकाश के प्रकार रूप विप्रवृत्ति विशेष का नाम निर्वेद है , वह भाव रूप है और वैराग्य तो रागादि का प्रध्वंस रूप है । अतः दोनों भिन्न हैं ।

अथवा यदि वैराग्य को ही निर्वेद मान भी लिया जाय तो मिश्रज्ञान के शास्त्र से उत्पन्न उस दोषाभाव रूप वैराग्य को मोक्ष रूप फल की सिद्धि में मुख्यतोपयोगी अर्थात् साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है ।

और दूसरा दोष यह आता है कि तत्त्वज्ञान से,निर्वेद की उत्पत्ति होती है ऐसा कहने पर 'ज्ञान' की ही दूसरी संज्ञा निर्वेद हो जाती है । अतः निर्वेद के स्थान पर ज्ञान को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानना चाहिए ।

यहां यह दोष हुआ कि ज्ञान और शान्त तो पर्याय हैं । इस पर कहते हैं कि जैसे शास्त्र को अपने प्रमाणार्थक शास्त्र का स्थायीभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं है , उसी प्रकार ज्ञान को उसके प्रमाणार्थक शान्त रस का स्थायिभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । अतः निर्वेद शान्त रस का स्थायिभाव नहीं अपितु ज्ञान ही शान्त रस का स्थायिभाव है ।

रत्यादि आठों में से कोई भी शान्त रस का स्थायिभाव

कुछ लोगों का मत है कि विभावादि आठ प्रकार की विप्रवृत्ति-विशेष (स्थायिभाव) , शान्त रस के स्थायिभाव बनेंगे हो सकते हैं । अर्थात् स्त्री पुरुषादि रूप विभावों से परिपोषित रति जहां शृंगार रस की जनक होती है वहां अध्यात्म चर्चा आदि जैसे विभावों से परिपोषित होकर वही रति शान्त रस की जनक हो जाती है । इसी प्रकार अन्य स्थायिभाव भी अपने पहले कहे हुए विभावों के बदाव जुगादि रूप अन्य विभावों के द्वारा भिन्न प्रकार की अनुभूति के जनक भी हो सकते हैं । इसलिए इन आठों स्थायीभावों में से कोई एक शान्त रस में स्थायिभाव हो सकता है ।

अतः इस मत के समर्थक आचार्यों के अनुसार रत्यादि आठों स्थायिभावों का एक रूप अपने अपने मुख्य रस की अनुभूति में काम आता है और दूसरा रूप गौण स्थिति में उपयोगी होता है अपने इस मत के समर्थन के लिए उन्होंने भरत मुनि को भी रत्यादि के द्विविध स्वरूप का समर्थक सिद्ध करने का यत्न किया है।[1]

इस उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि रत्यादि आठों रसों के स्थायिभाव को शान्तरस का स्थायिभाव मानने पर कभी रति, कभी शोकादि को शान्त रस का स्थायिभाव होना होगा, ऐसा होने पर किसी एक के स्थायिभाव होने पर, दूसरे के स्थायिभावत्व का खण्डन हो जाएगा। उपायों के भेद के कारण रति शोकादि का शान्त रस में स्थायिभावत्व कहना अनुचित है। क्योंकि प्रत्येक पुरुष में भिन्न भिन्न स्थायिभाव मानने पर, शान्त रस के भी अनन्त भेद होने लगेंगे। इस दोष के निवारणार्थ यदि यह कहा जाय कि -

स्थायिभावों में भेद रहने पर भी, एक गौण रूप कक्ष के होने पर, रस अभिन्न ही रहेंगे - तब तो वीर और रौद्र रस का भी एक गौण रूप अभिन्न कक्ष होने से उनका भी अभेद हो जाएगा। जो ठीक नहीं। अतः रत्यादि आठों में से कोई भी एक शान्त रस का स्थायिभाव हो सकता है यह मत असंगत है।

रत्यादि की समष्टि-शान्त-रस का स्थायिभाव-

इसके बाद एक दूसरा मत रखते हैं कि रत्यादि समस्त स्थायिभावों की समष्टि को शान्त रस का स्थायिभाव कह सकते हैं। जैसे ठण्डाई आदि पानक द्रव्यों का स्वाद मिल कर एक विचित्र आस्वाद को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शान्त रस में रत्यादि समस्त स्थायिभाव पानक-रस-न्याय से मिलकर एक विचित्र प्रकार के शान्त रस के आस्वाद के जनक होते हैं।

इस मत का भी खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं - कि रत्यादि विषयक अनेक चित्तवृत्तियों का एक साथ होना सम्भव नहीं है तथा हास और क्रोध, वीर

१- न चैतन्नुमोदं सम्भवम्। यावदेव हि विशिष्टान् भावान् परिणमयति रत्यादि शब्देन यावच्चैव च तत्प्रकाशनेन अन्यान् संगृह्णीते, तावदेव तद्व्यतिरिक्ताऽलौकिक चेतःप्रकाशानां रत्यादीनामनुभावादत्वेन अपवर्गविषयत्वम्। अभि०भा० -६२९

और स्वाभाव आदि चित्तवृत्तियों में एक दूसरे का विरोध होने से यह मत ठीक नहीं है ।

सिद्धान्तपक्ष- तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मा-

उपर्युक्त समस्त मतों का खण्डन हो जाने पर अभिनवगुप्त अपने मत की स्थापना करते हुए कहते हैं - शान्त रस का स्थायिभाव, तत्त्वज्ञान है । यही मोक्ष का कारण है अतः तत्त्वज्ञान ही उसका स्थायी भाव है । और तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान का ही नाम है । और इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही आत्मज्ञान कहलाता है । आत्मा का ज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार अथवा तत्त्व-ज्ञान ही शान्तरस का स्थायिभाव है । इसके बाद पुनः अभिनवगुप्त कहते हैं - ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और परिकल्पित, विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही शान्तरस का स्थायिभाव है ।

अन्य रसों में आत्मा का स्थायीभावत्व नहीं होता क्योंकि अन्य रसों की स्थिति में उस प्रकार का आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं होता है जैसा शान्तरस की स्थिति में होता है । योगशास्त्र के अनुसार केवल समाधिकाल में आत्मा का साक्षात्कार होता है, समाधि की स्थिति को छोड़कर अन्य रसों में या व्युत्थानकाल में वृत्ति अविशिष्ट रूप में आत्मा का ज्ञान होता है ।अतः रत्यादि के अनुभव काल में आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का भान नहीं होता है । इसलिए वहां 'आत्मा' को स्थायीभाव मानना असङ्गतदोष का कारण । यदि वहां आत्मा का साक्षात्कार मान लिया जाय तो वह रत्यादि का पोषक न होकर विरोधी हो जायगा । अतः केवल शान्तरस में ही 'आत्मा' को स्थायीभाव माना गया है ।

रत्यादि के आस्वाद की अपेक्षा शान्तरस के आस्वाद के विलक्षण होने के कारण उसकी पृथक् गणना की गई है । लोक में आत्मा के स्वरूप की प्रतीति केवल शान्त रस में ही पृथक् रूप से होती है अर्थात् लौकिक अनुभवों के काल में चित्तवृत्तियों का बाहुल्य होने से विशुद्ध आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं होती है ।

१- तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयभोगरहितोऽत्र स्थायी।

(अभिनवभारती पृ० ६२३ ।)

निर्विकल्प समाधि काल में विशुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति होती है, परन्तु व्युत्थान काल में (समाधि से उठने पर) फिर वृत्ति वाहुल्य अर्थात् चित्तवृत्तियों से बहुचित्त रूप में ही आत्मा की प्रतीति होती है । वृत्तिशून्य रूप में अखण्ड प्रतीति नहीं होती है ,अतएव स्थायीभाव के रूप में आत्मा की गणना अखण्ड नहीं की गई है । किन्तु शान्तरस में आत्मा की पृथक् प्रतीति होती है । अतः शान्त रस अखण्ड माना गया है ।

आत्मा को शान्तरस का स्थायीभाव मानने वाले आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि उस 'आत्मा' का ज्ञान या निर्वेद शब्द से व्यपदेश किया जाय, तो कोई आपत्ति नहीं[1] । आत्मा का स्वरूप सत्यज्ञान या द्रष्टा रूप है । किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि 'ज्ञान' या 'निर्वेद' चित्तवृत्ति मात्र है, अतः आत्मा ही शान्तरस का स्थायीभाव है ।[2]

१- यदि तु स एव ज्ञान शब्देन व्यपदिश्यते निर्वेद शब्देन वा तत्र कश्चिदपि दोषः
(अभिनवभारती पृ० ४२६)

२- यहां एक तथ्य अवश्य है कि अभिनवगुप्त आत्मा को शान्तरस का स्थायीभाव कैसे कह रहे हैं ? क्योंकि किसी भी रस का स्थायीभाव कोई भाव ही हो सकता है । आत्मा तो भाव नहीं है । यद्यपि साथ ही अभिनवगुप्त बड़ी दृढ़ता से यह भी कहते हैं कि - आत्मा को ज्ञान या निर्वेद से व्यपदेश करने से कोई हानि नहीं है ।तथापि आत्मा को ज्ञान और निर्वेद के समानान्तर मानना उचित नहीं है ।

यदि अभिनवगुप्त,आनन्दवर्धन के शान्तरस के स्थायी भाव को ठीक से समझ लेते तो प्रस्तुत स्थल पर कोई न्यूनता नहीं रहती । आनन्दवर्धन ने 'तृष्णाक्षयसुख' को शान्त का स्थायीभाव माना है । समस्त तृष्णाएं आत्मा के ही कारण होती हैं । जिसमें, जिस शरीर में, जिसमें आत्मतत्व ही नहीं होगा,उसमें तृष्णाओं का अभाव होगा ही । अतः तृष्णाओं का मूल आत्मा है । तृष्णाओं का क्षय हो जाता है तब आत्मा ही शेष रह जाती है । इस आत्मा के प्रति जो सुखमयी भावना है, वही है शान्तरस का स्थायीभाव । इसे चाहे आत्मरति कहें या आत्मानन्द या आत्मसुख - इनमें से आत्मरति सर्वाधिक सटीक होगा । यही आनन्दवर्धन के शब्दों में -'तृष्णाक्षयसुख' है । सुख का पर्याय रति भी है । अतः यदि अभिनवगुप्त केवल आत्मा को स्थायीभाव कहने के स्थानपर आत्मरति को ही शान्तरस का स्थायीभाव कह देते तो उनके ऊपर आक्षेप का कोई अवसर नहीं आता

अभिनवगुप्त ने शान्तरस का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है :-

ईश्वरानुग्रह आदि शान्तरस के 'विभाव' होते हैं, मन, नियम[1], 'अनुभाव' और लौकिक एवं अलौकिक चित्तवृत्तियों का अनुभाव 'व्यभिचारिभाव' से तत्त्वज्ञान रूप 'स्थायीभाव' शान्तरस कहलाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि आठ रसों के अतिरिक्त नवाँ शान्तरस भी है। उसकी पृथक् गणना न करने का कारण अभिनवगुप्त बताते हैं - शान्तरस सब रसों में समान रूप से रहता है। सभी रस शान्त से उत्पन्न होते हैं और अन्त में शान्त में ही उनका लय होता है। सभी रसों का आस्वाद प्रायः शान्त के रूप में ही होता है। अन्तर मात्र इतना है कि अन्य रसों की प्रधानता होने के कारण शान्त अन्य वासनाओं से उपहित रहता है। किन्तु, सब रसों के मूल में शान्त रस ही रहता है।[2] इसके प्रमाणार्थ अभिनवगुप्त अपने गुरु भी उत्पलाचार्य के प्रत्यभिज्ञास्तोत्र से एक श्लोक उद्धृत करते हैं -

दृष्टानामिह भावानां शृंगारादीन् प्रकल्पयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥ इति

अतः मोक्ष की प्राप्ति के कारण प्रभु, तत्त्वज्ञान रूप हेतु से युक्त और निःश्रेयस् रूप फल से युक्त-शान्तरस को स्वीकार करना चाहिए।

समीक्षा -

यहाँ एक तथ्य विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि अभिनवगुप्त शान्तरस को रसराज मान रहे हैं, तथा सभी रसों का उद्भव और लय भी शान्तरस को बता रहे हैं[3]। इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य है। शान्त रस का प्राधान्य प्रतिपादित करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं -

---

१- यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।
नियम- शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान। योगसूत्र-२/३२-३३
२-अभिनवभारती पृ० ६३८-६३७
३- सर्वे सर्वं निमित्तमादाय शान्तादुत्पद्यते रसः।
पुनर्निमित्ताभावे तु शान्त एव प्रलीयते॥ -वही पृ० ३३२

(१) मोक्षाकल्पेन नायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः[१]

(२) तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय स्वास्वादो[२]

इस कथन से पीछे, अभिनवगुप्त के स्वभाव में निहित मूल दार्शनिक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनित हो रही है। क्योंकि यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि अभिनवगुप्त शैव दर्शन के मूर्धन्य आचार्य हैं। अतः इनके रस-सिद्धान्त का दार्शनिक मानों से प्रभावित होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। इनके काव्यशास्त्रीय एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का संयुक्त समन्वय 'रस स्वरूप विवेचन' में पूर्ण परिपक्वता अवस्था पर हुआ है। अभिनवगुप्त के अनुसार रस का अर्थ है - 'निर्विघ्न आत्म प्रीति' और यही उस की परिभाषा है। अतः प्रत्येक रस का पर्यवसान शान्त में होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। अभिनवगुप्त का आनन्दवाद आत्मा की इस निर्विघ्न प्रीति को सहज आनन्दरूप मानता है। वस्तुतः अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर, - 'भावाः विकारा रत्यादयः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः'। इस पर विप्रतिपत्ति का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता।

इसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त शान्त रस को रसराज मानते हैं। उनके अनुसार मोक्ष रूप फल देने वाला शान्तरस सब रसों में प्रधान है। किन्तु रस की प्रधानता के विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में वैमत्य दिखाई पड़ता है। क्योंकि अभिनवगुप्त लोचन में 'शान्त' को प्रधान रस मान रहे हैं। जब कि आनन्द-वर्धन ने 'शृंगार-रस' को प्रधान कहा है।[३]

शृंगार रस में विरोध-अविरोध का निरूपण-

ध्व० ३।३० में शृंगार विप्रलम्भ रस में उसके अंगों का स्पर्श अनुचित नहीं होता - इस तथ्य का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

---

१- लो० पृ० ३४४

२- अभिनवभारती पृ० ६३१

३- शृंगाररसः..... सर्वरसेभ्यः..... प्रधानभूतः - ध्व० पृ० ३६७

शृंगार के विरुद्ध रसों में, शृंगार के अंगों का जो स्थान है, वह न केवल अविरुद्ध उपायों का योग होने पर अनुचित रहता है, बल्कि शिष्यों को उन्मुख करने के लिए अथवा काव्य की शोभा के लिए उपनिबन्धित किया जाने पर भी दूषित नहीं होता।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त कारिका में 'वा' पद का प्रयोग 'अथवा' अर्थ में किया है। और दो तथ्यों को पृथक्-पृथक् कहा है - (१) शिष्यों को उन्मुख करने के लिए, अथवा (२) काव्य शोभा के लिए। इन दोनों को अलग-अलग वृत्ति में स्पष्ट भी किया है -

(१) 'विनेयानुन्मुखीकर्तुं' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

'शृंगाररसाभिमुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनेयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशतया हि नाटकादिनीष्टौ विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरुपनिबन्धः कारितः'।[२]

(२) 'काव्यशोभार्थं' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

'यदि च शृंगारस्य सकलजननीहृदयाभिरामत्वात्सर्वरसाङ्गत्वेन: काव्ये शोभातिशयं पुष्णतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनी रसे शृंगारांगत्वनायेतो न विरोधी'।[३]

किन्तु अभिनवगुप्त 'विनेयानुन्मुखीकर्तुं और काव्यशोभार्थं' को पृथक् पृथक् न मान कर दोनों को मिलाकर इस प्रकार अर्थ करते हैं - शिष्यों को उन्मुख करने के लिए जो काव्य की शोभा है इत्यादि। और 'वा' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं -

'वाग्रहणेन पक्षान्तरमुच्यते। तदेव व्याचष्टे - न केवलमिति। वाशब्दस्यैतदर्थत्वात्। ------- विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तत्रापि या विरुद्धरसांगत्वेन: न केवलं पूर्वोक्तैः प्रकारैः, न तु काव्यशोभा विनेयोन्मुखीकरणमन्तरेणास्ते, व्यवधानाव्यवधाने नापि तस्येति यथान्येव्याख्यातम्'।[४] इति

१- व्या० ३।३०
२- वही पृ० ३९८-३९९
३- वही पृ० ३९९
४- लो० पृ० ३९८

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के मन्तव्य को उस रूप में व्याकृत नहीं किया जिस अभिप्राय से आनन्दवर्धन ने उसे यहां रखा था । अत: अभिनव का ३।३० की लोचन व्याख्या आनन्दवर्धन के अभिप्राय को स्पष्ट नहीं करती । अभिनवगुप्त ने उसे अपनी ही कोंक में कुछ अटपटे ढंग से प्रस्तुत किया है ।

काकु से अर्थान्तर प्रतीति के स्थल में गुणीभूतव्यंग्यत्व -

आनन्दवर्धन ने काकु का विवेचन ध्व०३।३८वीं कारिका में किया है ।[१] आनन्दवर्धन काकु को गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत मानते हैं । क्योंकि काकु से जो अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है , उसमें व्यंग्य अर्थ का गुणीभाव हो जाता है । और, यह सिद्धान्त है कि जो 'व्यंग्य' से विशिष्ट वाच्य को प्रधान रूप से अभिधान करने वाला काव्य गुणीभूतव्यंग्य है ।'

तदनन्तर, गुणीभाव को दिखाने के लिए शब्द की स्पष्टता को सिद्ध करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि[२] 'अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु काकुमात्र ही नहीं है । वरन् शब्दशक्ति अपने अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु की सहायता से अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति कराती है । और वह अर्थ सामर्थ्य से प्राप्त होता है ,इस लिए व्यंग्य रूप ही है । किन्तु जब उस व्यंग्य विशिष्ट वाच्य की प्रतीति,वाचकत्व के अनुगमन से होती है,तब उस प्रकार के व्यंग्य हर्थ का द्योतन करने वाले काव्य को गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है'। इसका उदाहरण देते हैं -

'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्रा:'।

वेणीसंहार का सूत्रधार कहता है 'धृतराष्ट्र पुत्र स्वस्थ हों'। इसे सुनकर भीमसेन क्रुद्ध होकर कहता है -'मेरे जीते जी धृतराष्ट्र पुत्र स्वस्थ हो सकते हैं ?' भीमसेन की इस उक्ति से स्पष्ट है कि वह कौरवों को स्वस्थ नहीं देखना चाहता। उसके इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि पाण्डवों के साथ कौरवों ने पर्याप्त अत्याचा

१- अर्थान्तरगति: काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ।। ध्व० ३।३८

२- द्र० ध्व०पृ० ४७७-४८० ।

किए हैं । किन्तु ये सब अर्थ स्पष्टतः काकु स्वर से निकल रहे हैं । अतः यहां गुणीभूतव्यंग्य है ।

आनन्दवर्धन ने साकांक्ष और निराकांक्ष काकु का प्रतिपादन नहीं किया है किन्तु , अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर 'लोचन' में साकांक्ष और निराकांक्ष काकु के दो भेद माने हैं । और आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत उदाहरणों की व्याख्या के लिए साकांक्ष और निराकांक्ष काकु का प्रयोग भी किया है ।

अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं -

'अन्ये त्वाहुः - व्यंग्यस्य गुणीभावेऽयं प्रकारः अन्यथा तु तत्रापि ध्वनित्व-मेवेति । तन्न्यायात्, काकुप्रयोगे सति शब्दस्पृष्टत्वेन व्यंग्यस्योन्मीलितत्वापि गुणी-भावात् , काकुर्हि शब्दत्वेन करिवदनस्तेन स्पृष्टं 'वीक्ष्यैनं मुदित: शेते' इति 'शब्दनैराशिताभूतम्' इतिवच्छब्दैनैवानुद्घोषितम् ।[२]

यहां अभिनवगुप्त दो बातें कहना चाह रहे हैं -

(१) पहला तथ्य यह है कि जो आचार्य यह मानते हैं कि काकु के व्यंग्य का गुणी-भाव होने पर ही गुणीभूतव्यंग्य होता है अन्यथा व्यंग्य का गुणीभाव न होने पर काकु में ध्वनित्व भी सम्भव है - वह मत ठीक नहीं ।

(२) दूसरा तथ्य यह है कि केवल शब्द का ही धर्म है ।

(१) यहां अभिनवगुप्त अन्यै किसके लिए कह रहे हैं ? उन्होंने किसी का नामो-ल्लेख नहीं किया है सम्भवतः पूर्व के मम्मटादि टीकाकारों का ही मत रहा होगा । आचार्य आनन्दवर्धन ने भी काकु का उल्लेख केवल गुणीभूत व्यंग्य के ही अन्तर्गत किया है ।

आचार्य मम्मट काकु को आर्थी व्यंजना के अन्तर्गत भी मानते हैं और गुणीभूतव्यंग्य काव्य के अन्तर्गत भी । 'तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि'[३] इत्यादि उदाहरण को काकु के कारण हुई अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण माना है ।

१-लो० पृ० ४७७ २- लो० पृ० ४७८

३- काप्र० पृ० ८२

तदनन्तर वृत्ति में लिखते हैं - 'यहां मेरे ऊपर रोष करना उचित नहीं है ।

कौरवों पर रोष करना उचित है, यह काकु से प्रकाशित होता है । यहां पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि यह 'काकु' - वाच्य की विधि का अंग है । इसलिए गुणीभूतव्यंग्य काव्य है । क्योंकि , यहां प्रधानता में ही काकु की विश्रान्ति हो जाती है । उससे व्यंग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता ।[1]

गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत काक्वाक्षिप्त का उदाहरण - 'मयापि कौरवान्प्रति-दूरे न कोपात्' दिया है ।[2]

यहां शंका होती है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने भी मम्मटाचार्य की ही तरह काकु को ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत आर्थी व्यंजना क्यों नहीं कहा ? केवल गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के ही अन्तर्गत माना ?

(२) यद्यपि आनन्दवर्धन ने काकु का उल्लेख केवल गुणीभूतव्यंग्य में ही अन्तर्गत किया है किन्तु उसे केवल शब्द का ही अंग नहीं कहा है वरन् शब्द व्यापार से उपाकृष्ट होकर भी अर्थशक्तिमूलक शब्द कहा है ।[3] किन्तु अभिनवगुप्त - काकु को शब्द का ही अंग मानते हुए कहते हैं - 'काकुर्हि शब्दस्यैव कश्चिदवयवः'[4]।

ध्वनि-सम्मिश्रण - व्यंग्य अर्थ के प्रधान और गुणीभाव के कारण काव्य दो प्रकार होते हैं - ध्वनिकाव्य, और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य । किन्तु कभी-कभी वह ध्वनि अपने प्रभेदों से , गुणीभूतव्यंग्य से और वाच्य अलंकारों से संकर और संसृष्टि रूपेण व्यवस्थित भी होने पर उसमें बहुत प्रभेदों वाला देखा जाता है ।[5]

यथा- ध्वनि अपने प्रभेद से संकीर्ण , और अपने प्रभेद से संसृष्ट , गुणीभूतव्यंग्य से संकीर्ण, गुणीभूतव्यंग्य से संसृष्ट, वाच्य अलंकारान्तर से संकीर्ण , वाच्य अलंकारान्तर से संसृष्ट, संसृष्ट अलंकार से संकीर्ण और संसृष्ट अलंकार से संसृष्ट- इस प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है ।[6]

१- का०प्र० पृ० ४४-४५ २- का०प्र० पृ० २१०

३- इदमार्थं काकुविशेषोदयोपाहितोऽभिधाव्यापारोपारूढोऽभिधामूलमेव शब्दस्य इति व्यंग्य एव । ध्व० पृ० ४७६

४-वही पृ० ४७८ ५- ध्व०पृ० ५०१ ६- वही पृ० ५०४

यहां पर उन्हीं भेदों का उल्लेख करेंगे, जिनमें अभिनवगुप्त ने कुछ नया चमत्कार दिखाया होगा।

गुणीभूतव्यंग्यसंकीर्णत्व -

आनन्दवर्धन ने ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण का उदाहरण दिया है -

क्वां पुत्रकाणां अनुपदरणोद्दीपनः सोऽभिलाषी।
कृष्णाक्षेपोत्तरीयव्यवनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादेर्भुजपरिघबलक्षोभणक्षमस्य मित्रं
क्वासौ दुर्योधनोऽसौ क्वचन न कथा प्रस्तुताध्वागतो स्वः॥[१]

यहां 'वाच्यार्थीभूत अनुरणनरूपव्यंग्य' की 'व्यंग्यविशिष्ट वाच्य' का अभिलाष करने वाले पदों के साथ सम्मिश्रणता है। और इसीलिए गुणीभूतव्यंग्य के प्रधानित होने में और ध्वनि के वाच्याश्रित होने में संकीर्णता होने पर भी अपने अन्य प्रभेद की भांति विरोध नहीं है।[२]

अभिनवगुप्त ने इस पद्य में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण पर और भी अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है। और कहा है - दोनों उदाहरणों - 'न्यक्कारो ह्यमेव मे' इत्यादि में और 'क्वां पुत्रकाणां' इत्यादि में, अनुद्घाट्यानुद्घाटनाभ्यां से, सन्देहयोग से और एक व्यंजकानुप्रवेश से यथासम्भव योजना कर लेनी चाहिए।[३]

वाच्यालंकार संकीर्णत्व-

ध्वनि का वाच्य अलंकारों से जो मिश्रण होता है वह अनुरणनरूपव्यंग्य के इन उदाहरणों में तो बहुत ही स्पष्ट रूप से कुछ है जिनमें रस भी रसवत् है और अलंकार भी। जैसे आनन्दवर्धन का निम्नलिखित पद्य -

---

१- ध्व पृ. ५०४
२-ध्व० पृ० ५०५
३- वा वाच्यानुद्घाट्यानुद्घाटनाभ्यां सन्देहयोगेनैकव्यंजकानुप्रवेशेन चेति यथासम्भवमुदाहरणद्वये योजना। लोच पृ० ५०५
४- [illegible] पृ० ५०३-५०६।

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च सैवाधिकी ।
ते द्वे अप्यवगम्य विश्वमधिकं निर्वेदमन्तो वयं
मान्ता नैव च तत्समाधिमधुना स्वप्नस्थितुल्यं कुमः ।।[1]

यहां विरोधालंकार है अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य(लक्षण) ध्वनि के भेद का अंकर है ।

अभिनवगुप्त ने[2] इस पद्य के प्रत्येक पद का मूल अर्थ कर दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया है ।

वाच्यालंकारसंसृष्टत्व-

वाच्यालंकार की संसृष्टि पद की अपेक्षा से ही होती है ।[3] क्योंकि इसमें कुछ पद वाच्य अलंकार युक्त होते हैं और कुछ ध्वनि भेदयुक्त । यथा -

दीपीभूतैः पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिक्षादातः प्रियतम इव प्रार्थनावाटुकारः ।।

यहां 'मैत्री' पद में अविवक्षितवाच्य ध्वनि है । क्योंकि मैत्री पद लाक्षणिक पद है । उसका अर्थ है मित्रता । यह चेतन का धर्म है । पवन जड़ है । अतः यह धर्म पवन में असम्भव होने के कारण उसे इस अर्थ को छोड़ना पड़ता है और चेतन सम्बन्धी दूसरा अर्थ अपनाना होता है । फलतः मैत्री पद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का स्थल है । दूसरे चरण को इसतः प्रियतम की उपमा दे दी गई है । अतः यहां सन्देह अलंकार भी सम्भव है । यहां एक ओर ध्वनि है दूसरी ओर अलंकार हैं । इसी कारण यह वाच्यालंकार और ध्वनि

१- ध्व० पृ० ५०७-५०८ २- तदर्थं द्रष्टव्य लो० पृ० ५८८-५९०
३- ध्व० पृ० ५१०-५११

की संसृष्टि का रूप है ।

अभिनवगुप्त ने इस पद्य की अत्यन्त विस्तार से व्याख्या की है और इसमें उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रूपकोपमा को भी मूल से स्वीकार किया है ।[१]

ध्वनि संसृष्टालंकार निदर्शन -

यथा-

अहिणवजलोल्लिएसु पहियसामाएसु दिवसेसु ।
ओल्ल पलासिणिवाणं जणियं मोरवन्दाणं ।।

'ओल्ल' के अनुसार इसकी संस्कृत छाया दो प्रकार की होगी -[२]

(१) अभिनव-प्रयोग-रक्षितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु ।
ओल्लो पुञ्जालितन्नीवाणं नवीनं मयूरवृन्दानाम् ।।

इन अभिनय के प्रयोग से इस दिनों में जब पथिक का श्यामायित का कार्य करते हैं तो मयूरों की टोलियों का ग्रीवा फैला फैला कर मुख करना बड़ा ही सुहावना लगता है ।

(२) अभिनव-प्रयोग - रक्षितेषु पथिक-श्यामायितेषु दिवसेषु ।
ओल्लो पुञ्जालितग्रीवाणां नवीनं मयूरवृन्दानाम् ।।

नव-नव बादलों की गड़गड़ाहट से भरे (अतएव) पथिकों के लिए श्यामा रात्रि का कार्य कर रहे इन दिनों में मयूरों की टोलियों का ओर-ओर से नाचना बड़ा ही सुहावना लग रहा है ।

यहाँ पथिकों पर श्यामायित का आरोप 'रूपक' को बता रहा है तथा पथिकों के लिए दिवसों का श्यामा रात्रि के समान आचरण करना उपमालंकार को । इसी प्रकार 'णिवाणं' पद - 'ग्रीवा' तथा 'गीत' - इन दो अर्थों को दे रहा है, श्लेष है । तथा प्राकृत शब्दों - 'अहिणव' और 'रक्खिएसु' में क्रमशः अभिनव एवं अभिनव तथा रक्षितेषु एवं रक्षितेषु शब्द गुंथे हुए हैं ।

१- ध्वं पृ० ४२५-४२६ २- द० लो० पृ० ४२५-४२६ ।

इसमें भी श्लेष है । इस कारण इनसे निकलते एक अर्थ पर दूसरे अर्थ का आरोप भी हो रहा है । फलतः इसमें एक रूपक की प्रतिच्छाया मिल रही है । इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में उपमा भी है और रूपक भी है । आनन्दवर्धन[१] इन दोनों अलंकारों में परस्परनिरपेक्षता देखते हैं । अतः वे इसे संसृष्टि का स्पष्ट स्वीकार करते हैं । इनसे मयूर और नटों का साम्य अनुरणनरूप व्यंग्यार्थ के रूप में प्रकट हो रहा है और पोषण भी पा रहा है । फलतः यहां ध्वनि को संसृष्ट अलंकारों से संसृष्ट मानना होगा ।

अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत पद्य में संकीर्णालंकारसंकीर्णत्व और संकीर्णालंकारसंसृष्टत्व माना है अर्थात् लोचनकार के अनुसार यहां पक्षिद्वय सामासिक और पक्षि-श्यामायित-शब्दों को देने वाले पक्षिद्वयसमासश्लेषु शब्द में उपमा और रूपक का सन्देहसंकर है । इसी प्रकार इसी अंश को लेकर 'अभिनवप्रयोग' से जो अर्थ व्यक्त हो रहा है, वह इन दोनों के सन्देहसंकर से संकीर्ण है । फलतः यह संकीर्णालंकारसंकीर्ण ध्वनि का रूप है ।

तथापि , अभिनवगुप्त संकीर्णालंकारसंसृष्टत्व प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक अस्पष्ट एवं उलझा हुआ विवेचन करते हैं -

'अभिनवप्रयोगरक्षित' तथा 'अभिनवकयोदरक्षित' शब्दों का 'अभिनवप्रयोगेषु' शब्द से उपमान हो रहा है तथा प्रधारितनीलानां एवं प्रधारितस्त्रीणां का 'प्रधारि-अभिधान' शब्द से उपमान हो रहा है, इन दोनों अर्थों में संकीर्णता है, अनुप्राणनानुप्राणक भाव नहीं । 'पक्षिद्वयसमासश्लेषु' इस पद में संकीर्ण उपमा और रूपक से उत्पन्नशक्तिमूल ध्वनि का संकर एकवाचकानुप्रवेश से है । इस प्रकार ,संकीर्णालंकार संसृष्ट और संकीर्ण से संकीर्ण है । अतः इन दोनों भेदों को भी स्वीकारना चाहिए।

यहां 'समासश्लेषु' आदि पद उपपरिवृत्त असत्य हैं अतः इन्हें शब्दशक्तिमूलक मानना होगा ।

१- डा० देवा प्रसाद त्रिवेदी ने यहां समासोक्ति अलंकार बताया है । और कहा है - वस्तुतः यहां समासोक्ति अलंकार है । मयूरवृन्द इस विशेषणवाचक पद में श्लेष नहीं है । श्लेष सभी पदों में श्लेष है । फलतः अभिनय का मयूर-नृत्त पर आरोप प्रतीत होता है । आनन्दवर्धन पृ० २२५ ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनि की स्थिति निश्चित भी रहती है। इस प्रकार ध्वनि के भेद-प्रभेद असंख्य हैं, गणनातीत हैं।

ध्वनि भेद संख्या -

जहाँ तक ध्वनि के भेदों की संख्या का प्रश्न है आनन्दवर्धन केवल इतना कहते हैं -

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदादय केन जन्यन्ते।
संख्यातु विज्ञातुं तेषामिदमुच्यते मया।। [१]

किन्तु अभिनवगुप्त बड़े यत्न से ध्वनि भेदों की गणना करते हुए लिखते हैं- ध्वनि के अपने भेदों के साथ, गुणीभूतव्यंग्य के साथ, अलंकारों के साथ प्रकाशित होता है, यह तीन भेद हुए। संकर के भी तीन प्रकार हैं - अङ्गाङ्गिभाव से, सन्देहरूपक होने से और एकवाचकानुप्रवेश से। इस प्रकार बारह भेद हुए और पहले जो पैंतीस भेद कहे जा चुके हैं वे गुणीभूतव्यंग्य के भी मानने चाहिए। ये पैंतीस अपने प्रभेद अलंकार में भी, इस प्रकार सत्तर भेद हुए। यहाँ तीन संकर और संसृष्टि में गुणन करने पर ७७२० से अधिक होंगे। तथा अलंकारों के आनन्त्य से ध्वनिभेद असंख्य हो जाता है। [२]

आनन्दवर्धन ने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक में कहीं भी ध्वनि भेद, प्रभेदों की कोई निश्चित संख्या का निर्देश नहीं किया है।

१- ध्व० १।५

२- डोक्ट पृ० १०८-१०९

ध्वनि व्याख्यान में आए हुए मम्मट, उद्भट, वामन प्रभृति आचार्यों के मत को दृष्टि में रखते हुए विश्लेषण

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रथम उद्योत की तृतीय कारिका में प्रतिज्ञा कर ली है कि - 'काव्यात्मभूत अनुपयरक्षाव्य -अर्थ के वाच्यांश का विस्तृत विवेचन नहीं करेंगे, क्योंकि उसके उपमादि प्रसिद्ध प्रकारों का पूर्ववर्ती आचार्यों ने बहुधा व्याख्यान किया है। अतः उपयोगानुसार अर्थात् ध्वनि स्थापना के प्रसंग में उनका अनुकथन मात्र करेंगे'।[1]

किन्तु, आचार्य अभिनवगुप्त कहीं कहीं अवसर पाकर, पूर्व के आचार्यों के ग्रन्थों से बड़े मनोयोग के साथ उनका उदाहरण उद्धरण छांट-छांट कर अपने व्याख्यान को उसका व्यभिचार के ही अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने पर प्रायः व्यभिचार के मत की पुष्टि हो जाती है। किन्तु, कभी कभी व्यभिचार के मत की पुष्टि होने की अपेक्षा, उलटे पूर्वाचार्यों के कथन का मूल्य घट भी जाता है। अतएव मम्मट, उद्भट, वामनादि के कथन, जो लोचन में यत्र तत्र बिखीर्ण हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए विश्लेषण करेंगे।

:१: प्रथम उद्योत में व्यभिचारोक्ति अभाववाद को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

'रसादि वाक्यत्वहेतु अनुप्रासादि और अर्थवाक्यत्वहेतु उपमादि हैं और संघटना-धर्म माधुर्यादि गुण हैं। इन गुणालंकार से अभिन्न रहने वाली वृत्तियां और रीतियां हैं, जो जिन्हीं आचार्यों द्वारा उपनागरिकादि और वैदर्भी आदि नामों द्वारा कही गई हैं।'[2]

१- इत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः -
काव्यालंकारविधादिभिः।
- ततो नेह प्रतन्यते ॥
केवलमनुपयोगी पुनर्योपयोगमिति। ध्व० १।३

२- ध्व० पृ० १६-२० ।

आनन्दवर्धन ने पूर्वपक्ष के रूप में इसका ही प्रतिपादित किया है, किन्तु अभिनवगुप्त यह भी बताना चाहते हैं कि वे आचार्य कौन हैं, जिन्होंने गुणालंकार से अभिन्न उपनागरिकादि वृत्तियां और वैदर्भी आदि रीतियां प्रतिपादित की हैं। अतः 'नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्' इस सिद्धान्त को सिद्ध कर इसकी पुष्टि हेतु कहते हैं - अनुप्रासादि से वृत्तियों के पृथक् न होने के कारण ही भामह ने वृत्तियों का पृथक् व्यवहार नहीं किया है।[1]

रुद्रटादि ने वृत्तियों का व्यवहार किया है किन्तु, अनुप्रासादि से अभिन्न रूप में ही। तथा अभिनव रुद्रट के काव्यालंकारसारसंग्रह का प्रमाण देते हैं -

रूपव्यंजकन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।[2]
वैचित्र्यानुप्राणनुबन्धि कवयः जगुः॥

नागरिका, उपनागरिका और ग्राम्या - इन तीनों वृत्तियों में क्रमशः व्यंजनों के उपनिबन्धन द्वारा पृथक्-पृथक् अनुप्राण होते हैं। क्रमशः जब वृत्ति नागरिका कहलाती है, जो परुष वर्णों से युक्त होने के कारण परुषानुप्राणा होती है। मसृण(स्निग्ध) वर्णों के अनुप्राण वाली वृत्ति उपनागरिका कहलाती है। इसे ललिता भी कहते हैं। मध्यमा संज्ञक तृतीया वृत्ति ग्राम्या कहलाती है, क्योंकि ग्राम्य वनिता की भाँति यह भी वैदग्ध्यविहीन होती है, इसमें न सुकुमारता ही होती है और न परुषता ही। रुद्रट के अनुसार ग्राम्यावृत्ति की रूढ़ अर्थ में कोमला संज्ञा भी है।[3] इस प्रकार परुषानुप्राण - नागरिका, मसृणानुप्राण- उपनागरिका और कोमलानुप्राण ग्राम्यावृत्ति होने के कारण ही वृत्तियों को अनुप्राण की जातियां ही कहा गया है। अतएव ये अनुप्राण से पृथक् नहीं रहती।

इस प्रकार यद्यपि रुद्रटादि आचार्यों द्वारा वृत्तियों का विवेचन किया गया है किन्तु ध्वनिकार रुद्रट के विवेचन को नगण्य मानते हुए, आनन्दवर्धन के-

---

१- ध्वो० पृ० २६

२- काव्यालंकारसारसंग्रह १।८

३- वृत्तेः रूढा कोमलसंज्ञा च रुद्रटोक्ता ग्राम्यता (वाक्प्रिया पृ० १८)

'गता: श्रवणगोचरमिति' इस अंश के अभिप्राय से कहते हैं -'उद्भटादि द्वारा वृत्तियों के प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक अर्थ हृदयपथ पर अवतीर्ण नहीं होता' - अभिनव के इस प्रकार कहने पर एक तो उद्भट के व्याख्यान का महत्व घटता है। और दूसरा, यदि अन्त में अभिनव को उद्भट के कथन को महत्वहीन ही बताना था तब फिर उन्होंने वहाँ वृत्तियों को अनुप्रास की जातियां सिद्ध करने के लिए उद्भट की ही शरण ली ? वह अपने कथन की पुष्टि के लिए कोई आचार्य नहीं मिला तो उद्भट के कथन को उद्धृत कर दिया , अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर , अन्त में कह दिया-'वृत्तियों के प्रयुक्त होने पर भी कोई अधिक अर्थ हृदयपथ पर अवतीर्ण नहीं होता ।'

यदि ऐसा ही था तो आनन्दवर्धन के स्थान अभिनव भी 'उद्भट' का नाम न लेते ।

:२: इसी प्रकार ध्वनिविरोधी मार्गवाद के विवेचन के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने किसी मार्गवादी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है । किन्तु अभिनवगुप्त यह खोज निकाले हैं कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में कौन से आचार्य हैं जो अनुप्रास वृत्ति का द्वारा काव्य में व्यवहार करते हैं और ध्वनिमार्ग का किंचित् स्पर्श कर रहे हैं अतः । अभिनव ने इसके लिए भट्टोद्भट और वामन के कथन को उद्धृत किया है ।

'ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याक्षेपवाद..... भट्टोद्भट वामनादिना । मार्गेणेति' - शब्दार्थशब्दोभिधानार्थाः इति अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे -'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति । वामनोऽपि 'आदृश्यालक्षणा वक्रोक्तिः' इति ।'[2]

यहाँ पर अभिनवगुप्त अलंकारवादियों को ही मार्गवादी भी बता रहे हैं । आनन्दवर्धन की दृष्टि में न जाने कौन मार्गवादी आचार्य थे । और फिर उन्होंने स्पष्ट रूप से कह भी दिया है -'परिकल्पैवमुक्तम् - मार्गमाश्रुस्तमन्ये इति।' यहाँ पर अभिनव का स्पष्टतः आनन्दवर्धन पर स्वाभिमतारोप है।

१- ध्वो० पृ० ३२

२- ध्वो० पृ० ३२ ।

:३: अलंकारों में (अर्थात् वाच्य वाचक भाव में) ही ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले अलंकारवादियों को , ध्व० १/१३ की वृत्ति में उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं -

व्यंग्य-व्यंजक भाव पर आश्रित , ध्वनि का वाच्य-वाचक के चारुत्व हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । क्योंकि , जहां वाच्य अर्थ अपने को गुणीभूत करके, व्यंग्यार्थ को प्रधानतः अभिव्यक्त करता है - वह ध्वनि का विषय है । अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने पर ही ध्वनि होती है । अलंकारों में व्यंग्य के प्राधान्य का अभाव होता है । अतः प्रधानता वाच्य की ही होती है। उनमें व्यंग्य अर्थ का कोई महत्व नहीं होता । अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता । इस तथ्य की पुष्टि के लिए - समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त-विशेषणोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक,संकराऽसंकरादि ऐसे अलंकारों का विवेचन किया गया है - जहां व्यंग्य अर्थ रहते हुए भी प्रधानता वाच्य की रहती है । आनन्दवर्धन ने इन अलंकारों का लक्षण नहीं किया है ,क्योंकि उन्होंने पहले(ध्व० २।३ में)ही निश्चय कर लिया है कि 'उपमादि अलंकारों का अन्य आचार्यों ने बहुधा व्याख्यान किया है । अतः उनका पुनिपादन नहीं क करेंगे । उपयोगानुसार उनका अनुवदनमात्र कर देंगे।' किन्तु केवल अभिनवगुप्त ने 'आलोक' में इन सभी अलंकारों का लक्षण और उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से देकर अपने 'लोचन' को सम्पन्न किया है । उसी लोचन के स्वरूप में भी अभिवृद्धि हो गई है ।

:३क: आनन्दवर्धन ने सर्व प्रथम समासोक्ति का उदाहरण दिया है -

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तयाऽपुरो पि रागादुपलक्षितं न तत् ।।

इसमें व्यंग्य से अनुक्त वाच्य ही प्रधान रूप से प्रतीत हो रहा है , और वहां निशा और शशि ही मुख्य वाच्यार्थ हैं । प्रधान वाच्यार्थ - निशारूपि, पर ही नायक नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है । अतः यह ध्वनि का विषय नहीं है - यह आनन्दवर्धन का अभिप्राय है ।

अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के मन्तव्य का स्पष्टीकरण करते हुए उन प्रथम 'उपोढरागेण' को गुणीभूतव्यंग्य का रूप बता रहे हैं और फिर अलङ्कार चर्चा करते हुए भामह के समासोक्ति के लक्षण को उद्धृत करते हैं -

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः ।।[१]

अर्थात् जहां प्रस्तुत से अतिरिक्त अन्य अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ समान विशेषणों से प्रतीत होता है, उसे विद्वान् लोग संक्षिप्तार्थ होने से समासोक्ति कहते हैं ।

अभिनव द्वारा उद्धृत, भामह के इस लक्षण में, आनन्दवर्धन द्वारा कथित - 'व्यवहार समारोप' की बात नहीं है । अतः अभिनव द्वारा उद्धृत , भामह के कथन में आनन्दवर्धन का सम्पूर्ण अभिप्राय अभिव्यक्त नहीं होता । भामह, रुद्रट दण्डी और वामन में से किसी ने भी व्यवहार समारोप की बात स्पष्टतः नहीं कही है । दण्डी ने कुछ विस्तृत चर्चा अवश्य की है किन्तु उनके भी अधिक व्यवस्थित विवेचन 'अलंकारसर्वस्वकार' आचार्य रुय्यक ने जो आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं किया है । सम्भवतः 'व्यवहार समारोप' की प्रेरणा रुय्यक को आनन्दवर्धन से ही मिली हो ।

अभिनवगुप्त , आनन्दवर्धन के मतानुसार उपोढरागेण की व्याख्या करते हैं - यहां व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं है ,क्योंकि व्यंग्यार्थ (नायक नायिका का व्यवहार) शृंगार रस के विभाव रूप में वर्णित - इन चिष्टा और शक्ति को ही अलंकृत करते हुए ,स्वयं अलंकाररूप हो रह जाता है। इस प्रकार विभावरूप वाच्यार्थ- चिष्टादि द्वारा ही वाक्यत्व की प्रतीति हो रही है ।

१- भामह २, ७९

२- (१) अथवा विशेषणविशिष्टव्यवहारेणालंकारत्वमुच्यते । तत्रायौ विशेषण-साम्यावच्छेदेन समासोक्तिमाह-(अलंकारसर्वस्व- पृ० १४०)

(२) विशेषणसाम्यादि प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते । अवच्छेदकत्वाच्च व्यवहारसमारोपो न तु रूपसमारोपः ।रूपसमारोपे स्वयमन्यारूढत्वेन प्रकृतस्य तदूढकल्पितत्वादूढत्वमेव । (वही पृ० १४१-१४२)

इसके अनन्तर अभिनवगुप्त 'वस्तु व्यावष्टे' द्वारा अपने किसी पूर्ववर्ती व्याख्याता के मत में दोष-दर्शन करते हुए कहते हैं - 'तवा' अर्थात् निद्रा-यह नपुंसक है और क्योंकि अचेतन रात्रि में नपुंसक नहीं हो सकता, अतः इस निद्रा-शक्ति शब्दों द्वारा नायक-नायिका व्यवहार वहां उत्प्रेक्षित या कल्पित होने के कारण वाच्यार्थ रूप है, व्यंग्य नहीं। और इसीलिए, यह असंलक्ष्यक्रम है। इस व्याख्याता ने मूलपाठ के 'व्यंग्येनानुगतम्' पर ध्यान नहीं दिया है।

और, इस पूर्ववर्ती व्याख्या के अनुसार 'व्यंग्येनानुगतम्' की उपेक्षा करके नायक-नायिका के व्यवहार को अभिधेय मानने पर एक दूसरा दोष अभिनवगुप्त यह भी बताते हैं कि - यहां एकदेशविवर्तिरूपक होगा, समासोक्ति नहीं। क्योंकि अभिधेय रूप से नायक-नायिका का अर्थ करने पर 'तिमिरांशुक' पद में तिमिर रूप अंशुक इस प्रकार रूपक समास करना पड़ेगा, जो एकदेशविवर्ति रूपक होगा। क्योंकि फिर तिमिरांशुक पद में दो अर्थ चन्द्ररश्मियों से किंचित्मिल अंधकार और दूसरा अर्थ नवोढा वधू के योग्य नील वर्ण की ओढनी - यह दोनों अर्थ नहीं हो सकेंगे। फिर उसमें समासोक्ति नहीं हो सकेगी। जैसे - 'राजसेवीज्यन्त इवैव सरो-रुहाः' में तुल्य विशेषणों के अभाव के कारण, समासोक्ति नहीं है। एकदेश-विवर्तिरूपक है।[1]

अभिनव 'समासोक्ति' के पक्ष की पुष्टि के लिए कहते हैं कि समासोक्ति के लक्षण में अभिधा व्यापार के निराकरण के लिए 'गम्यते' पद प्रयुक्त है। अतः यहां नायक-नायिका पक्ष को अभिधेय मानना युक्ति संगत नहीं। अतः नायिका का नायक के प्रति जो व्यवहार है वह निद्रा में समारोपित किया गया और नायिका के प्रति नायक का व्यवहार शक्ति में समारोपित है। अतः 'समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोः' इस मूलपाठ में नायिका और नायक में एकदेश (समास) का प्रश्न ही नहीं उठता। (यद्यपि व्याकरण के 'पुमान्-स्त्रिया' नियम के अनुसार एकशेष हो सकता था।)

यह सत्य है कि यहां एकशेष नियम की उपेक्षा से समासोक्ति का जो

१- ध्व० पृ० ४६५

सौन्दर्य बन पड़ा है उसे अभिनव की तत्त्वाभिनिवेशीतूष्णम्भूत की पकड़ कही है। बस कि पंडितराज जगन्नाथ इस स्थल पर स्खलित हो गए, उन्होंने यहां स्खलेच कह ही दिया है।

किन्तु प्रस्तुत स्थल पर आनन्दवर्धन द्वारा कथित मुख्यांश को दृष्टि में रखते हुए - 'वस्तु व्यङ्ग्यश्चेत्' से लेकर 'नैवंविधप्रक्रमः' तक का सीधा व्याख्यान व्यर्थ का विस्तार मात्र प्रतीत होता है। क्योंकि यहां पर आनन्दवर्धन वैशिष्ट्यांश अलंकार का प्रक्रम केवल 'व्यंग्येनानुगत वाच्य की ही प्रधान प्रतीति' दिखाने के लिए प्रारम्भ किया है। न कि अलंकार विषयक विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु। किन्तु अभिनवगुप्त यह सोच कर कि उनकी अपनी बात भी कहीं अकथित न रह जाय, जहां तहां भी अवकाश मिलता है, अपनी बात कह देते हैं। और जब उससे संगति नहीं बैठती, तो प्रायः 'इत्यलमवान्तरेण बहुना' कह कर अपने व्याख्यान को आगे बढ़ाते हैं।

:३ रव: आक्षेप अलंकार के प्रक्रम में भी आनन्दवर्धन केवल इतना ही कहते हैं - इच्छो-पात्तत्व, विशेष अभिधान की इच्छा से, जो प्रतिषेध रूप आक्षेप है, वही वाच्यार्थ व्यंग्यविशेष को व्यक्ति करता हुआ, मुख्यकाव्य शरीर है। और प्रधानतः वाक्यार्थ आक्षेपोक्ति की सामर्थ्य से ही जाना जाता है। अतः व्यंग्यविशेष का आक्षेपक करने वाले, वाक्यार्थ का ही चारुत्वोत्कर्ष के कारण प्राधान्य होता है[२]।

वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्वोत्कर्ष के ही आधार पर होती है।[३]

इसकी पुष्टि हेतु आनन्दवर्धन उदाहरण देते हैं -

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्त्वापि न समागमः॥

यहां नायक-नायिका के असमागमविषयक व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थक्रिया ही चारुत्वोत्कर्ष होने के कारण, इसी का प्राधान्य है।[४] आनन्दवर्धन इससे अतिरिक्त इस प्रश्नों पर विचार नहीं करते कि इस उदाहरण में समासोक्ति

१- ध्व० पृ० २१०-२११ २- ध्व० पृ० २११-२१४
३- ध्व० पृ० २१४ ४- ध्व० पृ० २१५

है अथवा आक्षेप अलंकार ।

किन्तु, अभिनवगुप्त कई विधिविधानपूर्वक इन प्रश्नों पर विचार करते हैं - कि अनुरागवती सन्ध्या में वामन के अभिप्राय से आक्षेप है और भामह के अभिप्राय से समासोक्ति, इसी कारण ग्रन्थकार ने उक्ति दोनों - आक्षेप और समासोक्ति का एक ही उदाहरण दे दिया है ।

इसके सिवा भामह और वामन के ग्रन्थों से आक्षेप का लक्षण[2] और उदाहरण भी देते हैं । भामह के काव्यालंकार से आक्षेप का लक्षण[3] देने के बाद, आक्षेप के दो भेदों - (१) वक्तव्यविषयआक्षेप और (२) अवक्तव्यविषय-आक्षेप में से प्रथम का उदाहरण[4] 'अहं स्यां यदि नैवोर्व' इत्यादि भामह के काव्यालंकार से दिया है किन्तु दूसरे भेद का उदाहरण भामह से नहीं दिया, वरन् वह अभिनव का स्वरचित पद्य - मा मा: किं किमवाच्य एव पतितस्त्वं पान्थ[5] इत्यादि है । इसके बाद अभिनव, वामन के काव्यालंकारसूत्र से भी आक्षेप का लक्षण और उदाहरण अपने व्याख्यान में उतार लेते हैं । किन्तु 'ऐन्दं - मुखं पाण्डुपयोधरेण' इत्यादि उदाहरण, जिसे वामन ने 'उपमास्वाक्षेप:' के लिए उद्धृत किया है, उसमें अभिनवगुप्त समासोक्ति बताते हुए कहते हैं -

'इत्येवंप्रकारेणोपमानान्तरमुपमानमाक्षिप्यमपि काव्यार्थीवालंकरोतीत्येषा तु समासोक्तिरेव ।

वस्तुत: प्रस्तुत प्रश्न में आनन्दवर्धन के अभिप्राय को 'वाक्यार्थैकदेशनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययो: प्राधान्यविवक्षा' को दृष्टि में रखते हुए, यहां पर भामह और वामन के आक्षेप-अलंकार का लक्षण और उदाहरण देने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं और वामन के 'आक्षेप' के उदाहरण में समासोक्ति है या कोई अन्य

१- वामनाभिप्रायेणाक्षेप:, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यनुमानं कृत्वे गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयो: युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद्ग्रन्थकृत् ।ध्वन्या० ११६

२- ३, भामह- काव्यालंकार - २।५८, २।५९

३- ध्वन्या पृ० ११२ ५- का०सू० ४.३.२७.

४- ध्वन्या पृ० ११३-११४ ७ - ध्वन्या. पृ. ११४

अलंकार - इन समस्याओं को कहने का अवसर भी नहीं । किन्तु, अग्निमित्र इन विभिन्न तर्कों के ऊहापोह में व्यस्त हैं । 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि में वामन के अनुसार 'आक्षेप' है और भामह के अनुसार 'समासोक्ति' - इतना ही कहते हैं , तथापि निष्कर्ष रूप में उनके अनुसार कौन अलंकार है यह न बता कर , आनन्दवर्धन के मन्तव्य को भी अपने अनुसार मोड़ते हुए कहते हैं - गुरुवार ने यहां दोनों अलंकारों का एक ही उदाहरण दिया है । और अन्त में , यह भी कहते हैं -'यहां चाहे आक्षेप हो या समासोक्ति, इससे हमें क्या प्रयोजन । हमारा साध्य तो अलंकारों में व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ के प्रति गुणीभाव बताना है ।'[१]

उपर्युक्त ढंग से तर्क करने पर , भामह और वामन के कथन को लोचन में रखने का क्या महत्व रह गया ,और दूसरे क्षण अग्निमित्र को यह भलीभांति ज्ञात है कि यहां क्या 'साध्य' है , तब भी वह अपने को अवान्तर चर्चा में उलझा अपने व्याख्यान की उलझा देते हैं । और जब उनका व्याख्यान बहुत अधिक उलझने लगता है या बहुत अवान्तर चर्चा होने लगती है, तब अन्त में प्रायः 'इत्यलंबहुना' या 'एषापि समासोक्तिरेवाऽस्तु आक्षेपो वा, किमनेनास्माकम्' और 'नः साध्यमित्यवाक्षीवाऽऽह गुरुरेवमनुकूलमिति किल:' - इस प्रकार कह कर आनन्दवर्धन के मन्तव्य को एक पंक्ति में स्पष्ट कर , अपने व्याख्यान में गति लाते हैं ।

(३ग) व्य० २।२३ की वृत्ति में आनन्दवर्धन 'वाक्यैकदेश निबन्ध' के आधार पर वाच्य और व्यंग्य में से किसी एक के प्राधान्य के विवेचन के प्रसंग में कहते हैं - जिसकी प्राधान्येन प्रतीति होती है उसी के नाम से उसे अभिहित किया जाता है । जैसे , दीपक अपन्हुति आदि में व्यंग्यत्वेन उपमा की प्रतीति होने पर भी प्रधानतया उसकी विवक्षा न होने के कारण , उसे 'उपमा' संज्ञा से अभिहित नहीं किया जाता ।

यहां पर अग्निमित्र भामह के काव्यालंकार २।२५ से 'दीपक' अलंकार का उदाहरण देते हैं -

'आक्षिप्यान्यविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते'

१- लो० पृ० ११६

उसका उदाहरण देते हैं -

'मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः'

और अन्त में केवल इतना कहते हैं -

'अत्यन्त दीपकमूलमेव काव्यत्वम्'

अग्निपुराण मानव के 'काव्यालंकार' २।२५ में ही दीपक का लक्षण दे रहे थे, तब वहाँ काव्यालंकार २।२५ की यह पंक्ति भी कह देते हैं -

'अनुक्तौ कुत्रोऽन्वयित्वात्स्वार्थवदीपनात्'

इस पंक्ति से आनन्दवर्धन के - 'प्राधान्येन विवक्षितत्वात् तथा व्यपदेशः' के अभिप्राय की किंचित् पुष्टि हो जाती ।

:३घ: इसी प्रकार अपह्नुति के विषय में भी अग्निपुराण मानव के काव्यालंकार ३।२२ में अपह्नुति के लक्षण की प्रथम पंक्ति - 'अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोक्तया' - देकर कहते हैं - 'तत्रापह्नुत्येव शोभा' और उदाहरण देते हैं -

'नैषं विरौति मृगराजी मदेन मुखरा मुहुः ।
अलाङ्कृष्णाणस्य कण्ठपीनुषी ध्वनिः ।।' ३।२२

अग्निपुराण का लक्षण देते हैं तो, न जाने क्यों पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से एक पंक्ति उतार लेते हैं और दूसरी पंक्ति छोड़ देते हैं । यदि दूसरी पंक्ति व्यर्थ होती तो उसे छोड़ देते । किन्तु, जब उस पंक्ति से आनन्दवर्धन के मन्तव्य की पुष्टि होती है तब भी उस उपयोगी पंक्ति की उपेक्षा करते हैं । वास्तव में तो लक्षण व्याख्यान उन्होंने आनन्दवर्धन के 'आलोक' के स्पष्टीकरण के लिए किया है । तथापि अवसर पाकर वे अवान्तर चर्चा कर अपनी बात स्पष्ट कर देते हैं, किन्तु आनन्दवर्धन के मन्तव्य को छोड़ देते हैं । उदाहरणार्थ दीपक अलंकार के प्रसंग में भी अग्निपुराण मानव के काव्यालंकार से अपह्नुति अलंकार का अपूर्ण उद्धरण उद्धृत करते हैं । मानव ने स्पष्ट रूप से अपह्नुति के व्यपदेश का कारण बताते हुए अपह्नुति का लक्षण इस प्रकार दिया है -

अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोक्तया ।
गुणाधिक्यविवक्षायाः क्रियते वाक्यिया यथा ।। ३।२९

किन्तु अग्निपुराण मात्र पहली पंक्ति ही उद्धृत करते हैं । और केवल इतना कहते हैं - 'तत्रापह्नुत्येवशोभा' । किन्तु यहाँ पर काव्यालंकार ३।२९ की दूसरी पंक्ति का भी महत्त्व है क्योंकि प्रस्तुत स्थल पर - आनन्दवर्धन का मन्तव्य है - 'प्राधान्येन

इसे देखा जा सकता है। इसी प्रकार अपह्नुति के प्रसङ्ग में

निबद्धता अनुसार अलंकारों का व्यपदेश होता है[1]। 'उपमा' का यहां प्राधान्य न होने के कारण इसकी उपमा संज्ञा नहीं है। क्रमशः दीपक और अपन्हुति का प्राधान्य है, अतः दीपक और अपन्हुति संज्ञा है।

:३३: इसके बाद आनन्दवर्धन अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति[2] का उदाहरण देते हैं - 'बाधूतोऽपि उदावेः' इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन ने यह उदाहरण उद्भट से लिया, भामह से नहीं। क्योंकि भामह ने जो विशेषोक्ति का उदाहरण दिया है, वह बहुत स्पष्ट नहीं है, और न ही उन्होंने विशेषोक्ति के प्रकारों का विवेचन किया है, जब कि उद्भट 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में विशेषोक्ति का स्पष्ट उदाहरण देते हुए उसके दो भेद बताते हैं -

१- उक्तनिमित्ता[3],
२- अनुक्तनिमित्ता

इन दोनों में से अनुक्तनिमित्ता में व्यंग्य का सद्भाव होने के कारण आनन्दवर्धन ने इसका उल्लेख किया है।

किन्तु, अभिनवगुप्त अपने 'लोचन'[4] में उद्भट का विशेषोक्ति अलंकार का उदाहरण न देकर, भामह का ही विशेषोक्ति अलंकार का उदाहरण देते हैं -

एकेऽस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरभीष्टा यथा ॥ ३।२३

तथा विशेषोक्ति के वे तीन प्रकार स्थिर करते हैं - अनिमित्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता। यद्यपि भामह ने इन प्रकारों का उल्लेख नहीं किया है।

इसके बाद वे उदाहरण देते हैं -

१- ध्व० पृ० ११७

२- यत्रात्मन्येऽपि क्रियायां फलानुत्पत्तिरन्यस्य।
विशेषकथनायैवमिष्यतेसाविशेषोक्तिरुच्यते ॥ का०अ०सा०सं० ५।४ (५५)

३- यत्रोक्ते निमित्तेन निमित्तान्तरेण च।
तस्य वस्तो क्रिया तथैव दृश्यते सोक्तिरात्मकः ॥ वही ५।२(५६)

४- लो० पृ० ११६-११७ ।

य एवलीणि वसति कान्ति कुसुमायुध: ।
दहताऽपि तनुं तस्य शम्भुना न हुतं वसु ।।

यह उदाहरण मम्मट ने यत्र 'विशेषोक्ति अलंकार' के लिए उद्धृत किया है, किन्तु अभिनवगुप्त इसमें अविवक्षित 'अपिशब्दनिमित्ताविशेषोक्ति' बताते हैं, और कहते हैं, इसमें व्यंग्य का सद्भाव नहीं है। इसी प्रकार उक्तनिमित्ताविशेषोक्ति में भी वस्तु के स्वतस्सम्भव में अलंकार का पर्यवसान हो जाने के कारण, इसमें भी व्यंग्य के सद्भाव की शंका नहीं करनी चाहिए। अभिनवगुप्त द्वारा दिया गया इसका उदाहरण द्रष्टव्य है -

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जनो जने[१]।
नमोऽस्त्वनङ्गायेति यस्मै कुसुमधन्वने ।।

यहां पर शक्तिमान कामदेव का हेतु 'अनङ्गाय' उक्त है।

विशेषोक्ति के तृतीय प्रकार - 'अनुक्तनिमित्ताविशेषोक्ति' को आनन्दवर्धन ने व्यंग्य के सद्भाव के कारण प्रस्तुत किया है। और इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है -

बालोऽपि सहायै: क्रीडनिमुक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि[२]।
नन्वुत्पन्ना अपि पक्षिण: कुलायं नैव शिक्षयन्ति ।।

इसके अनन्तर आनन्दवर्धन पुनि नाम में कहते हैं कि उपर्युक्त उदाहरण में प्रकरण के सामर्थ्य से व्यंग्य की किंचिद् प्रतीति हो जाती है। किन्तु इस प्रतीति से कोई चमत्कार नहीं आता। अत: यहां व्यंग्य का प्राधान्य नहीं है।

अभिनवगुप्त उपर्युक्त उदाहरण का व्याख्यान करते हुए कहते हैं -'यहां मद्दोष्ट के अनुसार - न उठने का कारण, क्रीड है'[३]।

'मुख रक्षिणी' ने यह निमित्त कल्पित किया है कि -'मदन की अपेक्षा स्वल्प को क्रिया-कलाप का अनुभव उपाय उत्पन्न करके पक्षिक शिक्षण के विचार से विमुक्त पड़ा है'- रक्षिणी द्वारा दिए गए इस निमित्त को आलंकारिकों ने चारुत्व हेतु

१- ध्व० पृ० ११६ २- वही पृ० ११७ ३- वही

४- अभिनवगुप्त ने 'रक्षिणे:' द्वारा सम्भवत: मुकुलभट्टकार 'भट्टनायक' या किसी अन्य आचार्य पर आक्षेप किया है।

नहीं स्वीकार किया, अपितु अभिव्यंजनावान निमित्त - (स्वप्न में कान्ताकलापन की आशा अथवा प्रीतिपूर्ण कथन) से अलंकृत विशेषोक्ति - (संगोपं नैव शिक्षितमिति) में ही यहां चमत्कार है। अन्यथा यहां विशेषोक्ति अलंकार ही नहीं होगा।' - इतना कह कर अभिनवगुप्त कहते हैं : आनन्दवर्धन ने यहां -'न तु तत्प्रीतिनिमित्तस्याभिव्यक्तत्वमिष्यते'- इस पूर्वार्ध को दूषित और रसिक दोनों के अभिप्राय से लिखा है।

यदि आनन्दवर्धन ने दूषित और रसिकों के अभिप्राय से पूर्वार्ध को लिखा होता, तो आनन्दवर्धन निःसन्देह दूषित और रसिकों का उल्लेख कर देते, जैसा कि प्रायः अनेक स्थलों पर आनन्दवर्धन ने किया है। यहां पर भले ही अभिनवगुप्त दूषित का अभिप्राय निकालें, किन्तु आनन्दवर्धन के समक्ष यहां प्रस्तुत मुख्य प्रतिपाद्य विषय है -'अयुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ के रहने पर भी, उसके वाच्यार्थ का ही चारुत्वोत्कर्ष होने के कारण, व्यंग्य का अप्रधान बना कर वाच्य का प्राधान्य प्रतिपादित करना'। और, यदि यह मान भी लिया जाए कि आनन्दवर्धन ने दूषित और रसिकों के अभिप्राय से पूर्वपक्ष लिखा है, तब अभिनवगुप्त अपने लोचन में क्यों मामह का ही उदाहरण देते हैं ? दूषित का क्यों नहीं देते ?

सम्भवतः अभिनवगुप्त के समक्ष उस समय मामह के काव्यालंकार पर दूषित विरचित 'मामह-विवरण' रहा हो - जिसमें -'बाहुलोऽपि' इत्यादि उदाहरण दूषित ने दिया हो और उसी आधार पर अभिनव ने मामह के अनुसार 'विशेषोक्ति' का उदाहरण देकर, 'बाहुलोऽपि' की व्याख्या की हो।

[३च] पर्यायोक्त अलंकार के प्रसंग में आनन्दवर्धन कहते हैं -'यदि पर्यायोक्त में व्यंग्य की प्रधानरूप से प्रतीति होगी, तब ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाएगा, न कि ध्वनि का पर्यायोक्त अलंकार में। क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र व्यापक है और ध्वनि अंगी भी है। और, गूढवस्तु का नाम्नां पुंसाहे इत्यादि पर्यायोक्त का मामह ने जो उदाहरण दिया है उसमें वाच्यार्थ का उपसर्जनीभाव विवक्षित न होने के कारण व्यंग्य का प्राधान्य नहीं दीख पड़ता'।[१]

१- ध्व० पृ० ११८. ११६.

वामनवर्णन इतना ही कहते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त वृत्तिभाग की अपर्युक्तलीन चार पंक्तियों की विस्तृत व्याख्या करते हैं। सर्वप्रथम उद्भट के 'काव्यालंकारसार-संग्रह' से पर्यायोक्त का लक्षण इस प्रकार उद्धृत करते हैं -

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां तुल्येनाक्षमात्मना ॥'[1]

उदाहरणार्थ -

शत्रुच्छेदमुद्दिश्य मुनेरुत्पलाक्षिणः।
रामत्वानेन भुजगा देक्षिता वनिताजना ॥

इसमें भीष्म का प्रभाव, भार्गव अर्थात् परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करने वाला है - यह व्यंग्य प्रतीत होता है। फिर भी इस व्यंग्य से वाच्यार्थ - 'देक्षिता वनिताजना' वाच्यार्थ ही अलंकृत हो रहा है।

तदनन्तर, उक्त उद्भट के पर्यायोक्त के लक्षण में आए हुए 'प्रकारेणाभिधीयते' और 'अक्षमात्मना' का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं -

'पर्यायेण प्रकारान्तरेणाक्षमात्मना व्यंग्येनोपलक्षितं सदभिधीयते तदभिधीयमानमनुत्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणवाक्यम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यवाक्यम्, अलंकारत्वसंभावान्यलक्षणं चेति वर्णं युज्यते'[2]।

इस स्थल पर उद्भट को मानने वाले यह कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त ने अपने पक्ष की पुष्टि हेतु इस प्रकार का व्याख्यान किया है। साथ ही इस प्रकार की शंका भी कर सकते हैं कि जब 'अक्षमात्मना' है तब 'प्रकारेणाभिधीयते' का 'प्रतीयते' यह अर्थ क्यों नहीं किया गया ? किन्तु इससे पूर्व ही अभिनवगुप्त कहते हैं-

'यदि त्वभिधीयत इत्यस्य वक्ताऽभ्युपगन्तव्यो न प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'मम यन्मित्र' इत्यादि। तदालंकारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। अतो वाक्यालंकारमध्ये गणना न कार्या'[3]।

१- ध्वो० पृ० ११७ २- काव्यालं० सं० ४।६
३- ध्वो० पृ० ११८ ४- वही

अर्थात् यदि 'अभिधीयते' का प्रधानतया 'प्रतीयते' अर्थ करेंगे तब 'पर्यायोक्त' की गणना अलंकारों में न होगी । उसका 'आत्मा' में पर्यवसान हो जाएगा ।

यहां तक तथ्य अवश्य है कि आनन्दवर्धन सभी व्यंग्य के प्राधान्य के अवसर पर पर्यायोक्त अलंकार का 'ध्वनि' में अन्तर्भाव करा रहे हैं ।

किन्तु, अभिनवगुप्त 'ध्वनि' पद के स्थान पर 'आत्मा' पद का प्रयोग करते हुए 'ध्वनि में पर्यवसान' के स्थान पर 'आत्मा में पर्यवसान' कहते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त यहां 'आत्मा' पद का प्रयोग 'ध्वनि' पद के पर्याय के रूप में कर रहे हैं । या फिर 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के आधार पर अभिनवगुप्त ऐसा प्रयोग कर रहे हैं । यदि अभिनवगुप्त का यहां 'आत्मा' पद से अभिप्राय स्वभाव या प्रकार से है, तब तो ठीक है, किन्तु यदि 'आत्मा' पद का अर्थ 'दीक्षितकृत या प्राणतत्व' से है, तब तो ध्वनि काव्य का आत्मा-व्यंग्य अर्थ है उस व्यंग्यार्थ में पर्यवसान की बात कैसे बैठेगी ?

हमारे विचार से अभिनवगुप्त यहां पर 'आत्मा' पद का प्रयोग ध्वनि के पर्यायरूप में कर रहे हैं ।

३ ८: आक्षेप अलंकार के प्रसंग में, दृष्टान्त रूप से अपह्नुति और दीपक अलंकार का विवेचन हो चुका है । किन्तु, अभिनवगुप्त पुनः प्रतिपादन हेतु उपस्थित करते हैं -

'..... उदेरकप्रपूरणाय ग्रन्थस्यास्यां दीपिकां पुनरप्युक्तम्'[२]

अर्थात् आनन्दवर्धन ने 'समासोक्ति, आक्षेप, वस्तु-निमित्त-विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, संकराऽलंकारादि'[३] - इस प्रकार से अलंकारों को गिनाया था, जिनमें प्रतीयमान अर्थ अस्फुट प्रतीति होने के कारण उन्हें ध्वनि का विषय नहीं माना गया । अलंकारों के इस क्रम में व्युत्क्रम हो जाने के कारण ही अभिनवगुप्त कहते हैं- ग्रन्थ में आए पदों की संगति बैठाने के लिए आनन्दवर्धन ने पुनः प्रकारान्तर से यहां दीपक और अपह्नुति का उल्लेख करते हुए व्यंग्य के प्रधानत्व के कारण उनमें ध्वनि

१- (१) आत्मतायां पर्यवसानात् - लो० पृ० ११८

(२) आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालंकारत्वादित्यर्थः - लो० पृ० ११६

२- लो० पृ० १२० ३- वही पृ० १०८

का निराकरण किया है। -

प्रस्तुत स्थल पर अभिनवगुप्त का इतना कहना ही पर्याप्त था। किन्तु, इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त अपने व्याख्यान में उद्भट के मालव विवरण में कथित 'दीपक अलंकार का उक्त उदाहरण से अन्वित न होने का' विवेचन करते हैं। यद्यपि इस विषय में 'अभिनव' का 'उद्भट' के इस मत में साध्य नहीं है, अभिनवगुप्त स्वयं कहते हैं -

'यद्यु विवरणम्[1] - दीपकस्य क्रमिकोक्तान्वयो नास्तीति बहूनोदाहरण-प्रदर्शेन विचारितमंशवदनुपयोगि निस्सारं दुष्टमिदमिति च।'

इसके लिए वे दो उदाहरण भी देते हैं -

(१) मदो जनयति प्रीतिं दानं मानमंकुशम्।
स प्रियालंगनोत्कण्ठां साधयां मनः सुखम्॥[2]

यहां यद्यपि पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर(मद से प्रीति)उत्पन्न हो रहा है तथापि उनमें परस्पर उपमानोपमेयभाव कल्पित किया जा सकता है। क्योंकि, यह कोई नियम नहीं है कि - प्रमिति वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव नहीं होता।

(२) राम इव दशरथोऽभूद्भरत इव रघुरोऽपि रघुभूपः।
अज इव दशरथपुत्रश्चरमस्य कीर्तिरियम्॥[3]

इस उदाहरण में भी परस्पर राम और दशरथ इत्यादि में, क्रम होते हुए भी उपमानोपमेय भाव ही है। अतः प्रमित्या अथवा अनुव्यवसायिकता से उसका अपलाप होता है - यह कहना ठीक नहीं। इतना कहने के अनन्तर अभिनव कहते हैं -

'इत्थं मदीयोदाहरणेन।'[4]

यद्यपि अभिनवगुप्त को यह ज्ञात है कि मालव विवरणकार 'उद्भट' के विरुद्ध उपर्युक्त जो व्याख्यान किया गया है। उसका प्रस्तुत स्थल पर कोई उपयोग नहीं है। तथापि अभिनवगुप्त ने उसका विवेचन करने का विस्तारमात्र किया है।

१- ध्व० पृ० १२० २- वही पृ० १२०-१२१
३- वही पृ० १२१ ४- वही

३ ज. संकराऽलंकार -

संकर अलंकार के प्रसंग में भी आनन्दवर्धन अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार उसके भेदों को नहीं गिनाते किन्तु अभिनवगुप्त अपने स्वभावानुसार आचार्य उद्भट का अनुकरण करते हुए संकराऽलंकार के भेदों को बताते हुए अपने आस्वाद को सम्पन्न करते हैं -

अतीव सुन्दर संकर का उदाहरण उन्होंने उपस्थित किया है -

किंशुकाशोकनिलयो लसं तरुतलस्थले ।
रसस्य च गृहे न्यायमोचामावे च संकरः ।।[१]

आचार्य उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में सन्देह-संकर का उदाहरण इसी प्रकार दिया है, अन्तर केवल इतना है कि 'किंशुकाशोकनिलयो' के स्थान पर उद्भट ने -'अनेकाशोकनिलयो' कहा है।[२]

इसका उदाहरण अभिनवगुप्त का स्वरचित पद्य है -

अशिवपरामर्शिवरशिवमना शिवमुच्चरन्नपोंशिवरिपुम् ।
गणनाथस्यास्य-मयूराकारा पूजा विधिना ।। इति

इसमें 'अहो एवं यदि यस्य वा अशिवमना' रूपेण उपाय करने से रूपक और 'अशिवम् यदि यस्य:' - यह उपाय मानने से उपमा होती है।
किन्तु दोनों का एक साथ होना असम्भव है, अतः उपमा और रूपक दोनों में से क्या माना जाय - इसका कोई निर्णायक प्रमाण न होने के कारण यहाँ सन्देह संकर अलंकार है। इसके बाद अभिनवगुप्त अपने पक्ष के साथ सन्देह संकर की संगति बैठाने के लिए कहते हैं -

जब यह निश्चय ही नहीं है कि कौन अलंकार वाच्य है और कौन अलंकार व्यंग्य तब उसमें ध्वनि की सम्भावना क्या की जाय।[३]

१- ध्व० पृ० १२९
२- अनेकाशोकनिलयो लसं तरुतलस्थले । रसस्य च गृहे न्यायमोचामावे च संकरः
काव्यालंकारसं०(६२) पृ० ३८१
३- ध्व० पृ० १२९ ४- यही

संकर का दो दूसरा प्रकार - शब्दालंकारानुप्रवेश है, जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकारों की एक साथ सत्ता होती है । यथा -

'स्मर स्मरन्ति प्रियं स्मरसे यमालिंगनात् ।' इति में स्मर-स्मर पदावृत्ति है अतः रूप शब्दालंकार और 'स्मरन्ति' में उपमा अर्थालंकार का शब्दालंकारानुप्रवेश संकर है । यहाँ भी प्रतीयमान की संकर का अवसर नहीं ।

संकर के तृतीय प्रकार में - जहाँ एक ही वाक्यांश में अनेक अर्थालंकार हों, वहाँ भी दोनों में वाच्य रूप शाब्द होने से, व्यंग्य की सम्भावना नहीं हो सकती। यथा -

तुल्योपमावलानत्वादमतोऽस्तं प्रति भास्वति ।
वाताय वासरः पश्चान्तो विश्लेष इव तन्वीनुताम् ।। इति

इस पद्य को भामह ने अपने काव्यालंकार ३।४८ में उत्प्रेक्षावयव के लिए उद्धृत किया है किन्तु अभिनवगुप्त इसे 'संकरालंकार' के तृतीय प्रकार के उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं ।

उक्त पद्य में स्वामि-विरति के समय अनुचित क्रमग्रहण के लिए पूर्वपरीक्षित कुलीन पुत्र का रूपण 'तन्वीनुताम्' पद में क्रिया एकदेशविवर्ति रूपक कर रहा है । इसके अतिरिक्त 'इव' शब्द के द्वारा उत्प्रेक्षा भी है । किन्तु यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों के शाब्द रूप से वाच्य होने के कारण, दोनों में से किसी को व्यंग्य कहा ही नहीं जा सकता ।

कुछ लोग संकर के उपर्युक्त दूसरे और तीसरे प्रकार को अलग-अलग नहीं मानते । किन्तु अभिनवगुप्त इन दोनों का विवेचन करने के बाद उनका उद्धरण देते हैं -

शब्दार्थयोरर्थेऽलंकारा वाक्य एकत्र वाचिनः ।
संकरस्तैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ।।

यह उद्धरण भी अभिनवगुप्त ने उद्भट से ही लिया है । यद्यपि दोनों में किंचित् पाठभेद है । उद्भट के 'एकत्र वाचिनः'[2] के स्थान पर अभिनव ने 'एकत्र-वाचिनः' कहा है ।

१- का० पृ० १२२ ।
२- शब्दार्थयोरर्थेऽलंकारा वाक्य एकत्र वाचिनः।संकरस्तैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ।।इति का०अलं०सं० ११-१२(१३) पृ० ३८८-३८९ ।

इसके बाद संकराऽलंकार का चतुर्थ प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहकभाव कहते हैं -

जहां अलंकारों में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव(अर्थात् अपनी निष्पत्ति-रूपता में परमुखापेक्षित्व) हो वहां यह भेद होता है। यथा-

प्रभातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितलोलतारकम् ।
तया गृहीतं नु मृगांगनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगांगनाभिः ।।

यहां मृगांगनाओं की दृष्टि के लक्षण पार्वती की दृष्टि है - यह उपमा यद्यपि व्यंग्य है, तथापि यह 'उपमा' सन्देहालंकार रूप वाच्य को ही उत्पन्न कर अनुगृहीत करती है। अतः उपमा स्वयं गुणीभूत हो जाती है ,क्योंकि उसका पर्यवसान सन्देह की पुष्टि में ही हो रहा है। इसके लिए उद्भट के 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' से 'अनुग्राह्यानुग्राहकसंकर' का लक्षण उद्धृत करते हैं -

जहां अनेक अलंकार परस्पर उपकारक भाव से स्थित हों, उन्हें स्वतंत्र रूप से आस्वादन न हो, वहां भी (अंगांगिभाव) संकर होता है।

आनन्दवर्धन द्वारा कथित -'संकराऽलंकारेऽपि' पर अभिनवगुप्त ने संकराऽलंकार का — स्वरूप भेदों सहित उनके उदाहरण और लक्षण भी प्रस्तुत कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ,आनन्दवर्धन द्वारा छोड़े गए रिक्त स्थानों की पूर्ति कर रहे हैं।

अभिनवगुप्त ने 'तदाह-संकराऽलंकार' इत्यादि से लेकर तत्र यत्रैकस्य 'प्राधान्यं परिरक्षतः' तक का जो व्याख्यान है , वह आनन्दवर्धन के अभिप्राय को बहुत ही सटीक एवं व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है।

आनन्दवर्धन ने क्रम से संकराऽलंकार के भेदों को यहां कहा है।उपर्युक्त 'यदा-ऽलंकारोऽलंकारान्तरस्वभावमनुगृह्णाति' द्वारा अनुग्राह्यानुग्राहक भाव को कहा है। 'अलंकारत्वसम्भावनायां तु वाच्यव्यंग्ययोः यं प्राधान्यम्' द्वारा सन्देह संकर को और 'अत्र वाच्योपस्कारीभावेन व्यंग्यस्य तत्रावस्थानम्' इत्यादि द्वारा अनुग्राह्या-नुग्राहक भाव के दूसरे पक्ष को कहा है। आनन्दवर्धन के इस अभिप्राय को साधारणतः

१- परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।स्वातंत्र्येणानवभासं वो जनयन्ते सोऽपि-संकरः। काव्यालं० सं० १२(५३) पृ० ५८०
२- वही पृ० १२२ ३- वही पृ० १२३-१२५ ।

साधारणत: समझना कठिन होता है, किन्तु अभिनवगुप्त की सूक्ष्मेक्षिका आनन्दवर्धन के मन्तव्य को इस स्थल पर समझने में सफल हुई है ।

३ अप्रस्तुतप्रशंसा -

अप्रस्तुतप्रशंसा के विवेचन के अवसर पर अभिनवगुप्त इसका उदाहरण देते हैं -

अधिकाराक्षेपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति: ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ।।

इसकी प्रथम पंक्ति तो मामह और उद्भट की ही परम्परा में इसी रूप में अभिनव ने रख दी है, किन्तु दूसरी पंक्ति में अभिनवगुप्त ने किंचिद् परिवर्तन किया है । ग्रन्थकार ने 'त्रिविधा परिकीर्तिता' के स्थान पर मामह के अनुसार 'सैव कथ्यते यथा'[1] है । और उद्भट के अनुसार 'प्रस्तुतान्वयिनी,'[2] है । अभिनवगुप्त ने इस परिभाषा में आनन्दवर्धन के अभिप्राय को भी जोड़ने का प्रयत्न करते हुए -'त्रिविधा परिकीर्तिता' कहा है । आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों में से किसी ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों का उल्लेख नहीं किया । आनन्दवर्धन के अनन्तर आचार्य कुन्तक ने अप्रस्तुतप्रशंसा की ओर संकेत करते हुए कहा था -'जहां साम्य का सहारा लेकर अथवा कार्यकारण भाव आदि अन्य सम्बन्धों का सहारा लेकर प्रस्तुत के सौन्दर्य को प्रकाशित करने वाला अप्रस्तुतपरक वर्णन किया गया हो - वहां यह अलंकार होता है'। किन्तु, आनन्दवर्धन ही पहले आचार्य हैं, जिन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा को नए रूप में प्रस्तुत किया । आनन्दवर्धन ने अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों की निश्चित संख्या नहीं बताई है । किन्तु अभिनवगुप्त ने उनके व्याख्यान के आधार पर इसके तीन भेदों को निकालकर, मामह के द्वारा दिए गए -

---

१- अधिकाराक्षेपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति: ।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा सैव कथ्यते यथा ।। मामह काव्यालंकार ३।२९ पृ० ७८

२- अधिकाराक्षेपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति: ।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतान्वयिनी ।। उद्भट काव्यालंकारसारसंग्रह ८(५९)
पृ० ३८०

अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण में उद्योतकार ने 'त्रिविधा परिकीर्तिता' अपनी ओर से जोड़ दिया और उसके तीन प्रकार इस प्रकार बताए -

१- सामान्यविशेषभावात्

२- मिलितमिश्रितभावात्

३- कार्यात्

अभिनव ने इन सभी का सोदाहरण विवेचन करते हुए सामान्यवर्ती के मन्तव्य को निम्नप्रकार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[१]

१- सामान्यविशेषभावात् -

यह दो प्रकार का होता है -

(१) एक तो यह है, जब सामान्य अप्रस्तुत होता है और वाच्य द्वारा कहा जाता है, तथा उससे प्रस्तुत विशेष का आक्षेप (व्यंग्य) होता है। यथा-

अहो संसारनैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमात्मनः।
अहो निर्मलचित्तस्य दुरन्ता गतयो विधेः॥

यहां 'विधि वैर का ही प्राधान्य है'- यह अप्रस्तुत सामान्य शब्द प्रतिपाद्य होकर किसी विशिष्ट दुष्ट प्रस्तुत विशेष का आक्षेप कर रहा है।

(२) और, जहां विशेष अप्रस्तुत वाच्य होकर, प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप (व्यंग्य) करता है। यहां सामान्यविशेषभाव का द्वितीय प्रकार होता है। यथा-

स्तनतट मुखारविन्दत्वलिनीपत्रे कर्णं पाण्डो
सम्पूर्णरागमणिरित्यसंस्तु यः शुभ्रत्वदलनादपि।
अंशुत्यक्तमुक्तिप्रापितविन्ध्यादीयनाने हनै-
स्तत्रोड्डीय गतो हंसेत्यनुधिनं निद्राति वान्धः शुचा॥

यहां 'अनुचित स्थान में महत्व की सम्भावना रूप' प्रस्तुत सामान्य रूप व्यंग्य है, तथा 'अधिन्दु में पूर्णरागमणित्व सम्भावना रूप'- अप्रस्तुत विशेषरूप वाच्य है। यहां सामान्य और विशेष का अप्रधान्य होने पर भी कोई विरोध नहीं क्योंकि सामान्यविशेष का व्यापकव्याप्य सम्बन्ध होता है।

१- ध्व० लो० पृ० १२८-१२८ ।

२- निमित्तनिमित्तिभावात् -

इसके भी दो प्रकार हैं -

(१) कभी अप्रस्तुत कारण वाच्य होकर प्रस्तुत रूप कार्य का आक्षेप(व्यंग्य) कराता है । यथा-

यैः वाल्यव्युदये प्रीतिं नीलकान्ति व्यलीकयत् च ।
ते वाल्यवासते बुद्धौ क्षोभः स्वार्थैरोऽयः ।।

यहां अप्रस्तुत बुद्धवाल्यवत्पता निमित्तरूपेण वाच्य होकर नैमित्तिक रूप प्रस्तुत - बुद्ध वाल्य के अक्षोभकत्व को व्यक्त कर रहा है ।

यहां कार्यरूप व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी , कारणरूप वाच्य ही प्रधान है, क्योंकि वह वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ[1] रूप कार्य का अनुप्राणक है । अतः यहां व्यंग्य और व्यंजक का अंगाङ्गिभाव है ।

(२) कभी कार्यरूप अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा , कारण रूप प्रस्तुत का आक्षेप होता है । यथा -

स्वर्णं अवारिवाहं कौस्तुभमणिरश्मिं मधुमथनस्य उरः ।
पुनरपि मथनपुरतो अनुभवन्तं न श्रद्धापयामः ।।

यहां पर वाहनवान् के कौस्तुभमणि और उसकी से रहित हरि के वक्षःस्थल आदि के स्मरण रूप अप्रस्तुत कार्य (नैमित्तिक) के वर्णन द्वारा , निमित्तभूत प्रस्तुत उनकी बुद्धदेहिता, चिरंजीविता, अवतारकुशलता आदि जो उनके माहात्म्य में उपादेय हैं - को व्यक्त कर रहा है ।

यहां पर भी उपर्युक्त उदाहरण की भांति वाच्य और व्यंग्य का अंगाङ्गिभाव है, क्योंकि व्यंग्यार्थ स्वयं तो प्रधान था ही , वाच्य को भी सुन्दर बना रहा है ।

१- केवल व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाने मात्र से ही ध्वनि नहीं होती , वरन् व्यंग्यार्थ के प्राधान्य के साथ वाच्यार्थ का गुणीभाव भी होना चाहिए । किन्तु यहां वाच्यार्थ - अप्रस्तुत निमित्त, प्रतीयमान प्रस्तुत नैमित्तिक का अनुप्राणक होने के कारण गुणीभूत न होकर प्रधान हो रहा है । इस प्रकार यहां व्यंग्य और व्यंजक का अंगाङ्गिभाव है ।

३- वाक्यात् -

इसके भी दो प्रकार हैं -

(१) कभी अप्रस्तुत वाच्य से चमत्कार होता है, और प्रस्तुत व्यंग्य वाच्य का सहायक होता है। यथा- अभिनवगुप्त के गुरु भट्टेन्दुराज का यह श्लोक -

प्राणा येन समर्पिताखिल बलायेन स्वमुत्थापिता:
स्वप्ने यस्य चिरं स्थितोऽपि विधिभैस्ते क्षयमीयिवि
तत्वाख्य स्मितमात्रतेन कायन् प्राणपहारिणां
प्राय: प्रत्युपकारिणां पुरि परं कैलास ईक्षामहे ।।

यहां यद्यपि वादृश्य के द्वारा प्रस्तुत किसी अन्य कृतघ्न पुरुष का बोध हो रहा है, तथापि यहां अप्रस्तुत वाच्यरूप कैलासवृत्तान्त में ही चमत्कार है।

(२) अप्रस्तुत के वर्णन की अपेक्षा, वाच्यमाण प्रस्तुत के अधिक चारुत्वपूर्ण होने पर, वह वस्तु व्यंग्य का उदाहरण हो जाता। यथा-

नायक्रास उडाल्यतस्य मुखवान्याक्ष.वन्तर्यिन्
पंक्तीभिविधिवाभिरात्मसुखं पुल्लाय संक्रीडसे ।
इ त्यामाद यहं तत: सहृदयन्मन्यत्वमु:क्षिप्तवो
मन्येऽमुष्य यदात्मता स्तुतिपदं त्वत्वाभ्यसम्भावनात् ।।

यहां अमेतन पक्ष्यादि अप्रस्तुत वाच्य के वर्णन की अपेक्षा वाच्यमाण प्रस्तुत में अधिक चमत्कार है, क्योंकि सहृदयन्मन्य लोग यह से भी अधिक पापी हैं - यह वस्तु-व्यंग्य है।

यह वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य का प्राधान्य होगा, तब ध्वनि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाएगा, अन्यथा यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही रहेगा।

ध्व० १।१३ की वृत्तिभाग में समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति पर्यायोक्त, अन्योक्ति, दीपक, संकर - इन अलंकारों को गिनाया था। आनन्द-वर्धन ने इन समस्त अलंकारों का विवेचन करने के ठीक बाद, अप्रस्तुतप्रशंसा को भी जोड़ा है। किन्तु, अभिनवगुप्त ने अलंकारों की संख्या में अभिवृद्धि की तथा व्याजस्तुति और भावालंकार-इन दो अन्य अलंकारों को भी जोड़ दिया।

अभिनवगुप्त, जैसे अभी तक कुछ अलंकारों का उदाहरण देते आए हैं, वैसे

'व्याजस्तुति' का लक्षण नहीं देते केवल उदाहरण देते हैं -

किं कृतान्तैः परुषधीभिः किन्तु नाथं कथं-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रभृतिषु पदाधिष्ठितस्त्वत्प्रभावः ।
नेहे नेहे विपणिषु तथा चत्वरे चागलोप्सा-
पुण्यैरेव प्रथति भवतो वत्सला इत्थ कीर्तिः ॥

यहां राजा की प्रशंसा रूप जो व्यंग्यार्थ निकल रहा है, उससे वाच्यार्थ की अवहेलना हो रही है ।

इसके बाद अभिनव ने एक और व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है - 'आदीप्ताय क्षितागडी जय गडी....' इत्यादि जो सम्भवतः उनके किसी पूर्ववर्ती आचार्य का है या किसी पूर्ववर्ती ध्वन्यालोक के टीकाकार का । अभिनव ने इसमें ग्राम्यत्व दोष बताया है और उस उदाहरण की अवेहना भी की है ।

तदनन्तर अभिनव रुद्रट के अनुसार भावालंकार का लक्षण और उदाहरण देते हैं । रुद्रट ने भावालंकार के दो प्रकार बताए हैं । अभिनव ने, रुद्रट के इन दोनों प्रकारों में से[1] प्रथम का केवल लक्षण दिया और दूसरे का केवल उदाहरण । और लोचन में[2] इस प्रकार कहा -

यस्य विकारः प्रथमस्तृतिबन्धस्तु हेतुना येन ।
गम्यति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावो सौ ॥

इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं -

'यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धोनियतः[3] प्रथमंयं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गम्यति स हेतुर्विभावोपयोग्यत्वादि-लक्षणोऽसौ भावालंकारः' ।

यथा-

१- रुद्रट काव्यालंकार पृ० ८२-८३

२- लो० पृ० १२९-१३०

३- लोचन में- 'प्रथमस्तृतिबन्धस्तु' पाठ मिलता है, किन्तु रुद्रट के काव्यालंकार में 'प्रथमस्तृतिबन्धेन' पाठ है ।

४- 'अप्रतिबन्धो नियतः' के स्थान पर 'अप्रतिबद्धो नियतः' पाठ अधिक उपयुक्त है ।

एकाकिनी यवनका छलनी तवाङ्गलिप्तभूते मुखलिरव मतो विभेषु ।
यं पावसे तदिव पाडमियं वराकी रक्षतिनाम्बवधिरा मनु मुद्ध पान्थ ।।

अभिनव के अनुसार यहां एक एक पद से दो अर्थ्यार्थ निकल रहा है, यह वाच्यार्थ को ही उपस्कृत कर रहा है । अतः यहां वाच्यार्थ की प्रधान है।[1]

यदि अर्थ्यार्थ का प्राधान्य होता तो यह अलंकार की कोटि में नहीं आता इसे ये पहले कह चुके हैं - इसका कह कर अभिनव कहते हैं - 'इत्थं बहुना'। अभिनव कब आनन्दवर्धन द्वारा प्रकार पर अलंकारों के अतिरिक्त अलंकारों की चर्चा करने लगे तब 'इत्थं बहुना' कह कर पुनः प्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करते हैं । अभिनव को स्थान स्थान पर 'इत्थं बहुना' कहना पड़ता है । किन्तु आनन्दवर्धन को इस प्रकार के प्रयोग का कहीं अवसर ही नहीं, क्योंकि उनका विवेचन प्रासंगिक एवं सरल है, उसमें कहीं अस्पष्टता, उलझन या अवान्तर चर्चा नहीं है

:४: रसादि अलंकार -

यद्यपि अन्य आचार्यों ने रसवदलंकार का उल्लेख किया था किन्तु आनन्दवर्धन ने उसके विषय में नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा 'जिस काव्य में अन्य अर्थ प्रधान रूप से वाच्यार्थ हो और उसके जो रसादि अंग हों वे रसादि अलंकार के विषय होते हैं । जैसे कि चारु के विषय में 'प्रधीऽलंकार' के मुख्य वाच्यार्थ होने पर भी रसादि अंगभूत होते हैं ।'[2]

१- डा० सुरेन्द्र पाण्डेय के मत में - 'दूसरे प्रकार के वाच्यालंकार के लक्षण में रुद्रट ने अवान्तर का अवलम्बन कर के विशुद्ध व्यंग्या का ही प्रकारान्तर से उल्लेख किया है और इनके उदाहरण में तो वाच्यों व्यंग्या की स्पष्ट झलक मिलती है । टीकाकार ने इसी उदाहरण में व्यंग्य को वाच्यो-पस्कारी दिखाने की चेष्टा की है किन्तु हमारी दृष्टि में यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण [illegible] न होकर विशुद्ध ध्वनि का उदाहरण प्रतीत होता है ।' ध्वनि०वि०वि०व्याख्या०-पृ० २७

२-(१) ध्वन्यालो० २६१-२६२ (२) यहां एक तथ्य अवश्य है- आनन्दवर्धन ने रसादि अलंकार पद का प्रयोग किया है किन्तु अभिनवगुप्त इसे रसवदलंकार संज्ञा से अभिहित करते हैं।

आनन्दवर्धन ने रसादि-अलंकार के प्रसंग में जो प्रेयोऽलंकार को उदाहरणार्थ रखा है उस पर आक्षेप करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं क्योंकि भामह के अनुसार -'गुरु, देवता, नृप एवं पुत्र के विषय में प्रीति का वर्णन प्रेयोऽलंकार है'[1] अत: उनके अनुसार प्रेयोऽलंकार का विग्रह इस प्रकार होगा-

'तत्र प्रेयानलंकारो यत्र स प्रेयोऽलंकारोऽलंकरणीय श्लोक:'

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में प्रेयोऽलंकार के मुख्य वाक्यार्थ होने के कारण वह अलंकार नहीं बल्कि स्वयं अलंकरणीय है। इसलिए यहां पर अलंकार का वाक्यार्थत्व ठीक नहीं है।[2]

किन्तु, उद्भट के मतानुयायी इसका वाक्यभेद करके व्याख्यान करते हैं अत: उनके अनुसार यहां रसवद्-अलंकार का विषय भी है और प्रेयोऽलंकार का भी है। यह तात्पर्य 'अपि' शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है। अत: यहां रसादि अलंकार[3] से रसवत्, प्रेय:, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार उपलक्षित हो रहे हैं।

(5) आनन्दवर्धन (ध्व०३।३६ में) कहते हैं वाच्यालंकारों में व्यंग्यांश का अनुप्रवेश होने पर अतिशय शोभा आ जाती है। जैसे - दीपक, समासोक्ति आदि अलंकारों में प्राय: व्यंग्य अलंकारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करने वाले देखे जाते हैं।[4] क्योंकि सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति गर्भता हो सकती है, और महाकवियों द्वारा योजित होने पर तो निश्चय ही उसमें अपूर्व शोभा आ जाती है। जैसा भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में कहा है -

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनयाविना ॥[5]

१- काव्य० पृ० १६२

२- 'न त्वलंकारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्' - वही पृ० १६२

३- जहां भी रसादि शब्द का प्रयोग है उससे रस के साथ भाव, तदाभास तथा भावशान्त्यादि गृहीत होते हैं। ये रसादि किसी के अंग के रूप में होने पर क्रमश: रसवत्, प्रेय:, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार कहलाते हैं।

४- ध्व०पृ० ४६५- ४६५ ५- भामह - काव्यालंकार २।८५

अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन द्वारा कथित- सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति गर्भता पर ,और उसकी पुष्टि हेतु उद्भट मामह के कथन पर शंका करते हुए कहते हैं -

'नन्वतिशयोक्तिः सर्वालंकारेषु व्यंग्यतयान्तर्लीनैवास्त इति यदुक्तं तत्कथम् ? यतो मामहोऽतिशयोक्तिं सर्वालंकारसामान्यरूपामवादीत् । न च सामान्यं शब्दाश्लेषप्रतीतेः पूर्वभूमितया पश्चात्तत्वेन चकास्तीति कथमस्य व्यंग्यत्वमित्याशंक्याह-मामहेनेति मामहेनापि यदुक्तं तत्रायमेवार्थोऽवगन्तव्य इति दूरेण सम्बन्धः ।'[१]

अर्थात् अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में व्यंग्यरूप से अन्तर्लीन रहती है - यह पक्ष कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि मामह अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का सामान्य रूप कहते हैं । सामान्य शब्द से विशेष की प्रतीति नहीं होती । अतः इसका सर्वालंकार व्यंग्यत्व कैसे होगा ? - इतना कहने के बाद अभिनवगुप्त इसका एक समाधान देते हैं-

मामह ने जो कहा है , वहां यह समझना चाहिए कि यह दूर से सम्बन्ध है, इसका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है ।

प्रस्तुत स्थल पर दूर से सम्बन्ध वाली बात वस्तुतः अस्पष्ट है । और मामह के कथन में जो शंका अभिनवगुप्त ने उठाई है उसका समाधान भी नहीं किया है ।

६. संघटना-

आनन्दवर्धन - 'गुणाश्रित संघटना' मानते हैं । अभिनवगुप्त भट्टोद्भट के निम्न कथन को - उद्धृत करते हुए कहते हैं -

'बाह्येभ्यश्चेति । संघटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः, धर्माश्च सम्बन्धिन इति प्रसिद्धो मार्गः ।'[२]

इस प्रकार भट्टोद्भट के कथन से यह स्पष्ट कर रहे हैं कि आनन्दवर्धन और भट्टोद्भट में गुणाश्रित संघटना के विषय में ऐक्य है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने अपनी प्रतिज्ञा[३] अनुसार पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के वाच्य-भाग का विस्तृत विवेचन नहीं किया है । उपयोगानुसार उनका अनुवचन-मात्र किया है । किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने

१- लो० पृ० ४६६-४६७ २- वही पृ० ३८०

३- ध्व० १।३

अवसर पाकर सभी का विस्तृत विवेचन किया है । ध्वन्यालोक के व्याख्यान के प्रसंग में अभिनवगुप्त का यह प्रयत्न निःसन्देह स्तुत्य है । इस से प्रतीत होता है कि उनके हृदय में पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति आस्था है । इसीलिए अवसर आने पर उनका स्मरण अवश्य कर लेते हैं । किन्तु जब वे पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकारों के उद्धरण का विश्लेषण करते हुए उन्हें दोषयुक्त कराने लगते हैं, तब यह व्यर्थ का विस्तार मात्र प्रतीत होता है ।

-----:o:-----

कारिका और वृत्तिकार

ध्वन्यालोक के कारिका भाग एवं वृत्तिभाग के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा एक ही, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है । इस प्रकार के विद्वानों के दो वर्ग हो जाते हैं -

(१) पहले वह जो कारिका और वृत्तिभाग के कर्ता को भिन्न मानते हैं । तथा

(२) दूसरे, वह जो कारिका और वृत्तिभाग के कर्ता को अभिन्न मानते हैं ।

भिन्नकर्तृकत्व विषयक समस्या का प्रारम्भ सर्वप्रथम डा० बूहलर ने 'कश्मीर-रिपोर्ट'[१] में किया था । तदनन्तर, महामहोपाध्याय श्री पी०वी० काणे ने अपने सुप्रसिद्ध अलंकार-साहित्य के इतिहास में भिन्नकर्तृकत्व की समस्या उठाई और अनेक प्रमाणों के आधार पर भिन्नकर्तृकत्व के पक्ष को उपस्थित किया । इस भिन्नकर्तृकत्व के समर्थक आचार्यों में डा० सुशीलकुमार डे, प्रो० विष्णुपाद भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वान हैं ।

इसके विपरीत, कारिकाभाग एवं वृत्तिभाग के लिए अभिन्नकर्तृकत्व के समर्थक विद्वानों का एक दूसरा वर्ग भी था । जिसमें महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद शास्त्री, डा० सातकरी मुकर्जी, डा० शंकरन्, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डा० कृष्णमूर्ति आदि विद्वान हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कारिकाभाग और वृत्तिभाग के भिन्नकर्तृकत्व एवं अभिन्नकर्तृकत्व विषयक प्रश्न विद्वानों के मध्य बहुचर्चित विषय रहा है । अतः इस विषय में कुछ भी कहना पिष्टपेषण ही होगा । तथापि ग्रन्थ के मूल्यांकन के प्रसंग में इस तथ्य पर भी कुछ कहना अनिवार्य है ।

१- "From Abhinavagupta's tika it appears that verses (कारिका) are the composition of some older writer, whose name is not given, but it is remarkable that they contain no मंगलाचरण (पृ० ६५ श्री विष्णुपाद भट्टाचार्य के ध्वन्यालोक पर introduction से उद्धृत) ।

(१) भिन्नकर्तृकत्व -

भिन्नकर्तृकत्व विषयक समस्या के स्रोत का मूल आधार अभिनव-गुप्त का 'लोचन' ही है । अभिनवगुप्त स्थल-स्थल पर कारिकाकार और वृत्तिकार का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हैं । इसके प्रमाणार्थ 'लोचन' के निम्नलिखित स्थल द्रष्टव्य हैं -

१- ध्वन्यालोक के तीन प्रकार के ध्वनि विरोधी कहे गए हैं - अभाववादी, अन्यथाख्यातिवादी एवं अनिर्वचनीयतावादी । इनमें से प्रथम उद्योत में प्रथम दो का विवेचन तो मिलता है किन्तु तृतीय का निरूपण केवल वृत्ति में मिलता है । इस असंगति और पूर्ति पर प्रथम उद्योत में लोचन में अभिनवगुप्त लिखते हैं -

'एवं त्रिप्रकारमभाववादं, प्रकरणान्तभूतां च निराकुर्वता ग्रन्थकारेणान्यत्रोपयोगिन्यपि निराकृतमेव । अतस्य मूलकारिका तावतस्तन्निराकरणार्थां न कृयते । वृत्तिकृतु निराकृतमपि पुनरुक्तदोषापूरणाय कण्ठेन तत्प्रकाशनेन निराकरोति ।'[१]

तदनन्तर प्रथम उद्योत के अन्त में कहते हैं -

'तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् । द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विषयानुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान् । तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृतत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत् 'स च द्विविधः' इति ।'[२]

२- ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में ध्वनि भेदों का विवेचन किया गया है, किन्तु प्रथम उद्योत में भी ध्वनि के सामान्यतः दो भेद बतला दिए गए थे - अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य । अतः द्वितीय उद्योत के प्रारम्भ में उस पूर्वोल्लिखित प्रसंग का स्मरण दिलाते हुए कहा गया है -

'स्वयमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यरूपेण ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः । तत्राविवक्षितवाच्यस्य पुनरेकप्रतिपादनायोद्यम्यते' -

---

१-लो० पृ० १६२-१६३

२- वही पृ० १६३ ।

अथान्तर संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ।।[१]

इस पर अभिनवगुप्त लिखते हैं -[२]

(१) वृत्तिकार: संक्रमितप्रकाशस्य गुणीभूतस्य प्रकाशते स्वमित्यादि ।
(२) प्रकाशित इति मया वृत्तिकारेण क्षतेति भाव: ।
(३) न चैतन्मयोत्प्रेक्षितम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणोत्थाप्य तत्रेति । तत्र द्वितीयप्रकाशने वृत्तिकारकृते । यस्मिन्नितं वीक्षितमिति सम्बन्ध: ।
(४) यदिवा तत्रेति पूर्वेण्य: , तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण प्रकाशित: अविवक्षित-वाच्यस्य य: प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते ।
(५) तदवान्तरभेदप्रतिपादनद्वारेणैव चानुवादान्तरेणाविवक्षितवाच्यस्य य: प्रभेद: विवक्षितान्यपरवाच्यात् प्रभिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते, ध्वनि मुख्तो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति भाव: ।

३- द्वितीय उद्योत में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उभयध्वनि भेदों को ध्वन्यात्मार्थों से पृथक् करके, अन्त में यह कारिका लिखी -

यत:,

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद् व्यंग्यस्यांगिभूतस्य तत् पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ।।[३]

अन्तिम कारिका की संगति लगाने के लिए वृत्तिकार ने 'यत्' पद का प्रयोग किया । इस 'यत:' पर लोचनकार लिखते हैं -

'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदति इत्यपि-प्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति यत् इति' ।

४. तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में कहा गया है -

एवं व्यंग्यमुखेनैव ध्वने: प्रदर्शिते प्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यंजकमुखेनैतत्प्रकाश्यते[४]

१- ध्व० पृ० १६५ २- लो० पृ० १६५-१६६
३- ध्व० पृ० २८६ ४- लो० पृ० २८६
५- ध्व० पृ० २८८-२८६

इस प्रकार अभिनवगुप्त आपत्ति करते हैं -

'वस्तु व्याचष्टे - व्यंग्यानां वस्त्वलंकाररसानां मुखेन इति स एवं प्रष्टव्य: एतत् तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्, वृत्तिकारेण तु दर्शितम्, न चैतानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति, ततश्च इदं कुतस्त्यं त्रिधात्वं इति कथंभेदे का संगति: ? न चैतावता अलंप्राक्तनग्रन्थसंगति: कृता भवति ।'

५- व्यंजकों के भेदों का प्रतिपादन करते हुए कारिका में कहा गया है -

'ध ध रेफ संयोगयुक्त अनेक टकार शृंगार के विरोधी होते हैं किन्तु वे ही वीभत्सादि के लिए अनुकूल होते हैं'।[२]

इसमें पहले अभाव दिखलाया गया है और पीछे सद्भाव । वृत्तिभाग में कहा गया है -

कारिकाओं के द्वारा - अन्वय व्यतिरेक प्रस्तुत करते हुए वर्णों की व्यंजकता का विवेचन किया गया है ।[३]

यहां 'अन्वय' का उल्लेख पहले किया गया और 'व्यतिरेक' का बाद में । अन्वय= सद्भाव और व्यतिरेक= अभाव है । इस प्रकार 'कारिका' इस 'वृत्ति' में उलट गया ।— इस पर अभिनव गुप्त लिखते हैं -

'कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक: उक्त: .... पश्चादन्वय: वृत्तिकारेण तु..... अन्वय: पूर्वमुपात्त:'।[४]

६- कारिका में कहा गया कि 'रस आदि के आधार पर बनाया गया काव्य अनन्तता को प्राप्त हो जाता है' फिर लिखा गया 'मधुमास में वृक्षों के समान पूर्वदृष्ट अर्थ भी नवीन प्रतीत होने लगते हैं' रसपरिपुष्टि के कारण ~~रसपरिपुष्टि के कारण~~ । इन दोनों के बीच सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि दूसरा वक्तव्य प्रथम वक्तव्य के समर्थन के लिए है । इस पर लोचनकार ने लिखा -

'यद्यप्यनित्यत्वमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्त:, तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भाव:'[५]

१- लो० पृ० २८६-२६० २- ध्व० ३।३ और ३।४ पृ० ३०३

३- वही पृ० ३०३ ४- लो० पृ० ३०४

५- लो० पृ०

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त कथनों को देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि कारिका और वृत्ति में भिन्नकर्तृत्व की समस्या का आधान करने का सम्पूर्ण दायित्व अभिनवगुप्त पर ही है। साथ ही, भिन्नकर्तृत्व स्वीकार करने पर दोनों भागों के ग्रन्थ नाम एवं कर्ता नाम विषयक अनेक असंगत समस्याओं का उद्भव होता है। अतः भिन्नकर्तृत्व वाला पक्ष ठीक नहीं है।

२. अभिन्नकर्तृत्व -

अभिन्नकर्तृत्व वाला पक्ष ठीक है। वस्तुतः कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न नहीं लगते। क्योंकि -

अभिनवगुप्त ने सहृदयानामानन्दो मनसि तस्यां प्रतिष्ठा[1] की व्याख्या करते हुए 'आनन्द' का अर्थ तो आनन्दवर्धन किया किन्तु सहृदय का अर्थ तन्नामक कोई व्यक्ति नहीं किया, प्रत्युत यही कहा कि इस ग्रन्थ के रचयिता (आनन्दवर्धन) सहृदयचक्रवर्ती हैं क्योंकि उनका मन अतिस्वच्छ है। अभिनवगुप्त ने यहां आनन्दवर्धन को ही ग्रन्थकृत कहा है। यह तथ्य उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है -

(१) 'आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्यः एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां गच्छतीति भावः'।[2]

(२) 'तथा मनसि प्रतिष्ठा स्वंविधस्य मनः, सहृदयचक्रवर्तित्वयं ग्रन्थकृत इति वाक्[3]

इससे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन को ही सहृदय कह रहे हैं।

यदि आनन्दवर्धन वृत्तिभाग के रचयिता हैं तो ऐसी कौनसी रुकावट थी जो उन्होंने 'सहृदय' शब्द की व्याख्या में यह स्पष्ट नहीं लिखा कि यह कारिकाकार का नाम है।

१- ध्व० पृ० ३८ २- वही पृ० ४१

३- वही पृ० ४१

वस्तुत: कारिकाकार एवं वृत्तिकार अभिन्न हैं फिर भी अभिनवगुप्त उन्हें भिन्न मान रहे हैं। सम्भवत: अभिनवगुप्त यह बताने चाहते हों कि कारिकाकार एवं वृत्तिकार पृथक् पृथक् रख कर देखें जायं। अभिनवगुप्त अभेद जानते हुए भी भेद करके बोलने के आदि हैं।

यदि ध्वन्यालोक मूल ग्रन्थ दूसरे आचार्य का बनाया हुआ होता तो आनन्दवर्धन अपने ऊपर सम्पूर्ण ग्रन्थ का श्रेय क्यों लेते ? आनन्दवर्धन स्वयं कहते हैं -

उत्काव्यतत्त्वसकलीविरप्रबुद्ध-
कल्पं मनस्तु परिवर्तयितुं यदीशात्।
तत्त्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधान: ॥[१]

यदि मूलग्रन्थ आनन्दवर्धन का न होता तो आनन्दवर्धन उसके विषय में कुछ न कुछ अवश्य संकेत करते। एक आचार्य के पक्ष में इस प्रकार दोनों भागों- कारिका और वृत्ति में भेद मानना सर्वथा अन्याय है।

वस्तुत: उस समय की यह शैली ही थी। वामन ने स्वयं सूत्र लिखा और उस पर वृत्ति लिखी। उसी प्रकार आनन्दवर्धन ने भी कारिका और वृत्ति लिखी अत: यहां विप्रतिपत्ति का तनिक भी अवकाश नहीं।

निष्कर्ष यह है कि ध्वन्यालोक की कारिकाओं के रचयिता और उसकी वृत्ति के रचयिता से अभिन्न हैं। भेद की दिशा अभिनवगुप्त की देन है।

निष्कर्ष -

ध्वन्यालोक के परिप्रेक्ष्य में लोचन का अध्ययन करने पर निम्नलिखित स्वतन्त्र तथ्य सामने आते हैं :-

१. विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त 'आत्मा' पद का अर्थ अभिनवगुप्त अपने अनुसार करते हैं।

१- ध्व० पृ० ५५२-५५३ ।

२. व्यंग्यार्थ के त्रिविध भेद- वस्तु, अलंकार एवं रस को व्यंग्य का भेद न कह कर ध्वनि का भेद मानते हैं।

३. ध्वनि के पांच अर्थ करते हैं - व्यंग्य अर्थ, वाचकशब्द वाच्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और समुदाय रूप काव्य।

४. ध्वनि के उपभेदों में जहां आवश्यकता पड़ी अपने अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेते हैं।

५. अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना के अतिरिक्त तात्पर्य शक्ति को भी मानते हैं।

६. शान्तरस का स्वरूप और उसके स्थायीभाव का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने बिलकुल स्वतन्त्र रूप से किया है। और शान्त रस को रसराज माना है।

७. और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है - अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त। जिसे उन्होंने शैवाद्वैत के रंग में रंग दिया।

८. अभिनवगुप्त के लोचन में अलंकार के प्रसंग में विशेष रूप से भामह, उद्भट, वामन आदि को उद्धृत किया है, जिससे उनकी व्याख्या सम्पन्न हो गई है और आनन्द-वर्धन का वक्तव्य भी स्पष्ट हो गया है। किन्तु कभी-कभी अर्थ का विस्तार सा प्रतीत होने लगता है।

९. ध्वन्यालोक की कारिका एवं वृत्तिभाग के रचयिता आनन्दवर्धन ही हैं किन्तु अभिनवगुप्त ने लोचन में कारिका और वृत्ति भाग के कर्ता को भिन्न-भिन्न माना है।

----:०:----

पंचम - अध्याय

लोचन का परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय पर प्रभाव

पिछले अध्याय में लोचन के विवेचन एवं विश्लेषण से स्पष्ट है कि अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में अपने अभिनव मतों को गुप्त ढंग से सन्निवेशित किया है, जिसका प्रभाव परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय पर स्पष्टत: परिलक्षित होता है । अत: पिछले अध्याय में अभिनवगुप्त के जिन नवीन तथ्यों को खोजा गया है, उन्हीं तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के मतों का विश्लेषण करेंगे ।

व्यंग्य अर्थ और ध्वनि में ऐक्य की भ्रान्ति :-

व्यंग्य के तीन भेद हैं - वस्तुव्यंग्य, अलंकार-व्यंग्य एवं रसादिव्यंग्य । किन्तु अभिनवगुप्त इन्हें वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसादिध्वनि संज्ञा से अभिहित करते हैं, जिससे व्यंग्य अर्थ एवं ध्वनि के स्वरूप में ऐक्य की भ्रान्ति होती है । वस्तुत: ध्वनि एवं व्यंग्य अर्थ सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं किन्तु अभिनवगुप्त की व्याख्या से इन दोनों में ऐक्य की प्रतीति होती है । परवर्ती आचार्यों में से कुछ ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों के पार्थक्य को समझ लिया, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो अभिनवगुप्त का ही अनुकरण करते हैं ।

आचार्य मम्मट की दृष्टि 'तत्व का अन्वेषण' करने में बड़ी पैनी है । वह अभिनवगुप्त के मत को उसी स्थान पर अपनाते हैं, जहां उन्होंने कोई विशेष बात कही हो ,अन्यथा वह आनन्दवर्धन का ही अनुकरण करते हैं । व्यंग्यार्थ का प्रति-पादन ध्वनि के साथ करते भी हैं, तो बड़े विवेक के साथ । यथा-

'लक्षणेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा:, व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात् । तथाहि

किंचिदाख्यातं सहते किंचित्वन्यथा । तत्र वाच्यतासहमविचित्रं चित्रं वेद्मि । अविचित्रं वस्तुमात्रम्, चित्रं त्वलंकाररूपम् । ..... रसादितात्पर्यस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः ।[१]

इन पंक्तियों में 'अस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः' - पर अभिनवगुप्त का कोई प्रभाव नहीं है, वे ध्वनि के तीन भेदः वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसादिध्वनि, आनन्दवर्धन के अनुसार मानते हैं। आचार्य मम्मट ने जो इस प्रकार कहा है -

'संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्' ।

इसका तात्पर्य यह है कि - ध्वनि तो अनन्त भेदों वाला है, किन्तु उसमें वस्तु, अलंकार एवं रसादि त्रिविध रूप से व्यंग्य होते रहते हैं ।

हेमचन्द्र काव्यानुशासन में व्यंग्यार्थ का उद्घाटन इस प्रकार देते हैं -

'मुख्यामतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः'[२] ।

और इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं -

'मुख्यगौणलक्ष्यार्थव्यतिरिक्तः प्रतीतिविषयोऽव्यंग्योऽर्थः । स च ध्वन्यते द्योत्यते इति ध्वनिरिति पूर्वाचार्यैः संज्ञितः । अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रिधा'[३] ।

हेमचन्द्र अतिसूक्ष्मता से वस्त्वलंकार एवं रसादि का प्रतिपादन कर रहे हैं । किन्तु यदि 'अयं च वस्त्वलंकाररसादिभेदात्त्रिधा इस पंक्ति को व्यंग्योऽर्थः' के ठीक बाद रख देते तो यह स्पष्ट हो जाता कि यह त्रिविध भेद व्यंग्यार्थ के लिए ही कहे गए हैं, 'ध्वनि' के लिए नहीं ।

श्री विश्वेश्वर एकावली के प्रथम उन्मेष में ध्वनि की स्थापना के प्रसंग में ध्वनि और व्यंग्यत्रय को बड़े विवेक के साथ प्रस्तुत करते हैं - 'तस्मादस्ति ध्वनिः । अयं च वस्त्वलंकाररसादि रूपतया प्रपञ्चत्रैविध्यमतिवर्तते'[४] ।

किन्तु अभिनवगुप्त के प्रभाव से बचते नहीं रह पाते । उपर्युक्त पंक्तियों के साथ इतना और कह देते हैं - 'वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिः रसादिध्वनिश्चेति'[५] ।

१- काव्यप्रकाश पृ० २१६-२१७ २- काव्यानुशासन पृ० ३०

३- काव्यानुशासन, पृ० ३१ ४- एकावली पृ० ५२-५३

५- एकावली पृ० ५२-५३

यदि इसी तथ्य को एकावलीकार इस प्रकार कहते -

'तस्मादस्ति ध्वनि: । अयं च वस्त्वलंकाररसादिरूपतया(व्यंग्य) भवन्त्रैविध्यमतिवर्तते । वस्तुव्यंग्य अलंकारव्यंग्य, रसादिव्यंग्यश्चेति ।

तो अधिक उपयुक्त होता । क्योंकि वस्तु,अलंकार एवं रसादिरूपेण व्यंग्य होता हुआ ध्वनिकाव्य अनन्त प्रकार का हो जाता है । वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसादिध्वनि कहने पर ये ध्वनि के भेद प्रतीत होने लगते हैं वस्तुत: यह ध्वनि के भेद नहीं, व्यंग्यार्थ के भेद हैं ।

आचार्य विश्वनाथ भी ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के पार्थक्य को नहीं समझ पाए । उन्हें भी दोनों में ऐक्य की भ्रान्ति हो ही गई ,इसी कारण वे कहते हैं-

'यतु ध्वनिकारेणोक्तम्- काव्यस्यात्मा ध्वनि: इति तत्किं वस्त्वलंकार रसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनि: काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ?.....

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनि: काव्यस्यात्मा, तदा -

अला रत्थ णिमज्झइ रत्थ वहं पिअअवं पलोएहि । मा पहिअ रत्तिअन्धिअ व हेज्जाह मह णिमज्जहिधि ।

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत् ?[१] इत्यादि ।

वस्तुत: ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन का सिद्धान्त इतना सरल है कि उसमें किसी प्रकार की शंका का अवकाश नहीं है । किन्तु फिर भी आचार्य विश्वनाथ ध्वनिकार पर आक्षेप कर रहे हैं । यदि अवधानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका के ही कारण साहित्यदर्पण-कार उपर्युक्त शंका कर रहे हैं । क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त वस्तु, अलंकार एवं रसादि रूप त्रिविध व्यंग्यार्थ को क्रमश: वस्तुध्वनि,अलंकारध्वनि एवं रसादिध्वनि कहते हैं , जिसके कारण यह ध्वनि के भेद प्रतीत होने लगते हैं । इसी कारण आचार्य विश्वनाथ काव्यस्यात्मा ध्वनि: पर इस प्रकार शंका करते हैं कि -

'वस्तु,अलंकार एवं रसध्वनि तीनों को काव्य की आत्मा माना जाए अथवा केवल रसध्वनि को । यदि रसध्वनि मात्र को काव्य की आत्मा माना जाएगा तो

१- साहित्यदर्पण पृ० १७

वस्तु एवं अलंकारध्वनि कैसे काव्य की आत्मा बनेंगे ?

वस्तुत: आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के वास्तविक स्वरूप को आनन्दवर्धन के अनुसार नहीं समझा है।[१] उनका ध्यान अभिनवगुप्त की व्याख्या की ओर अधिक है, इसी कारण उन्होंने इस प्रकार की शंका की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि जहां तक ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के स्वरूप के पार्थक्य का सम्बन्ध है, लगभग सभी परवर्ती आचार्य ,आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त से अधिक प्रभावित हुए हैं।

कविकर्णपूरगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ अलंकारकौस्तुभ में अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के पांच अर्थों[२] - व्यंग्यअर्थ, वाचकशब्द, वाच्य अर्थ, व्यंजना-व्यापार और समुदाय रूप काव्य पर आक्षेप करते हुए कहते हैं -

'न तु ध्वननं ध्वनिरिति भावसाधनं, तथा सति ध्वन्यर्थविषयकज्ञानेऽपि ध्वनि: व्यवहारापत्ते: । न वा ध्वन्यतेऽनेनेति करणसाधनं, तथा सति ध्वनिकरणे काव्येऽपि 'ध्वनि' व्यवहारापत्ते: । न वा ध्वन्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणसाधनं, रसादिव्यञ्जनैरन्ये ध्वनयस्तु प्राणा, रसादिरात्मेत्यवोच: ।'[३]

१- आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि एवं व्यंग्यार्थ के पार्थक्य का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि एक 'काव्य प्रकार' है और उस ध्वनि काव्य का प्राणभूत तत्व त्रिविध 'व्यंग्यार्थ' है। अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि काव्य सामान्य का आत्मा ध्वनि काव्य विशेष है और उस ध्वनिकाव्य का रहस्यभूत तत्व त्रिविध व्यंग्यार्थ है।

२- अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम् । व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति । व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति । कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् तेन वाच्योऽपि ध्वनि: वाचकोऽपि शब्दो ध्वनि:, (लो० पृ० १०५-१०६) द्वयोरपि व्यंजकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । सम्भूयते विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनि:, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्द: [illegible] शब्दव्यापार:, न वाक्यावयवादिरूप: अपि त्वात्मभूत:, सोऽपि ध्वनि: । काव्यमितिव्यपदेश्यस्य योऽर्थ: सोऽपि ध्वनि: । उक्तप्रकार ध्वनि-

कविकर्णपूरगोस्वामी ने ~~[illegible]~~ 'ध्वननं ध्वनि:' 'ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनि:' एवं 'ध्वन्यतेऽस्मिन् इति ध्वनि:' का निराकरण करते हुए, केवल 'ध्वन्यते साधिति ध्वनि:' - इस प्रकार ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार की है।

और एक नई उद्भावना भी इन्होंने की है - वे 'रस' को आत्मा और 'ध्वनि' को प्राण कहते हैं। इनकी यह सूझ बड़ी विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्राण और आत्मा के माध्यम से आनन्दवर्धन के 'योऽर्थ :सहृदयश्लाघ्य: काव्यात्मेति व्यवस्थित:' और 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ:' में प्रयुक्त 'आत्मा' पद के अर्थ को स्पष्ट करना चाह रहे हैं। क्योंकि पहली कारिका (ध्व. १/२) में वस्तु अलंकार एवं रसादि व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा कहा गया और ध्व० १।४ में 'रसव्यंग्य' का ध्वनि-काव्य में प्राधान्य बताया गया है। इसी दृष्टि से कविकर्णपूरगोस्वामी रसादि को ध्वनिकाव्य का प्राण और रस को ध्वनि की आत्मा कह रहे हैं। इससे कुछ हद तक आनन्दवर्धन का मन्तव्य स्पष्ट होता है किन्तु उनकी शब्दावली में अस्पष्टता है।

'रसाख्यध्वनेर्ये ध्वनयस्तु प्राणा' - इस पंक्ति द्वारा कविकर्णपूरगोस्वामी पर भी अभिनवगुप्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है। क्योंकि यह भी 'रसाख्यध्वनि' पद का प्रयोग कर रहे हैं।

रस - प्रक्रिया -

अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त का परवर्ती आचार्यों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि सभी ने अभिनवगुप्त की दुहाई देकर रस प्रक्रिया को स्वीकार किया। यह बात दूसरी है कि कुछ आचार्यों ने एकाध स्थान पर थोड़ा बहुत शास्त्रीय भेद उपस्थित किया, और कुछ ने अभिनव की रस-प्रक्रिया को यथावत् स्वीकार कर लिया है।

ध्वनि विरोधी आचार्य धनंजय धनिक एवं महिम भट्ट जहां एक ओर ध्वनि का विरोध करते हैं वहीं वे दूसरी ओर रस का समर्थन करना नहीं भूलते। यथा-

धनंजय और धनिक ने रस की स्थिति सहृदयगत ही मानी है और यह स्वीकार किया है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों द्वारा सहृदयगत

स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है।[१] किन्तु वे व्यंजना-वृत्ति को स्वीकार नहीं करते। अतः वे काव्य अथवा उसमें वर्णित विभावादि के साथ रस का, अभिनवगुप्त के समान व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध न मानकर भट्टनायक की भाँति भाव्य-भावक सम्बन्ध मानते हैं।[२] परिणामतः उनके मतानुसार 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' का अर्थ 'भाव्य-भावक सम्बन्ध' है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भक्ति होना' है।

महिमभट्ट ने 'रस' को काव्य की आत्मा माना।[३] उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि उसकी स्थिति सहृदयगत होती है। सहृदय ही स्थायीभावों का रस रूप में आस्वादन करता है, किन्तु ये स्थायीभाव वासना रूप में सहृदय के चित्त में विद्यमान नहीं होते वरन् रंगमंच पर नट द्वारा प्रदर्शित स्थायीभावों के प्रतिबिम्ब-कल्प होते हैं :

'तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायीभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तुप्रतीतिविषयमुपनीयमाना हृदयसंवादभाजस्वादयत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते'।[४]

इसका भावार्थ यह है कि रत्यादि की वास्तविक स्थिति प्रमाता में नहीं होती, वे केवल रंगमंच पर प्रदर्शित या काव्य में वर्णित स्थायीभावों के प्रतिबिम्ब होते हैं। कवि कृत्रिम कारण रूप विभावादि के द्वारा उन्हें प्रमाता की प्रतीति का विषय बनाता है और तब उसकी सहृदयता के कारण आस्वाद्य होकर ये प्रतिबिम्बकल्प स्थायीभाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।

किन्तु इस प्रक्रिया का आधार व्यंजना नहीं है, रस अनुमान से ही सिद्ध हो

१- (१) श्रोतॄणां मुख्यया वृत्त्या नटादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वत्प्रेक्षकाणामनादिभिः॥ दशरूपक ४।४१,४२

(२) विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ वही ४।१.

२- अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभावः, किं तर्हि भाव्यभावक सम्बन्धः।
काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः।(दशरूपकावलोक पृ० १५८)

४- व्यक्तिविवेक - पृ० ७६

जाता है, विभावादि गम्य हैं और रत्यादि भाव, जो अन्ततः रस रूप हो जाते हैं, गम्य हैं।[१]

अतः महिमभट्ट के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति और संयोग का अर्थ हुआ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध। इस प्रकार रस के स्वरूप के विषय में महिमभट्ट का मत जहां अभिनवगुप्त के अनुकूल है, वहां प्रक्रिया के विषय में वे शंकुक से ही सहमत हैं।

मम्मट ने भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक एवं भट्टनायक के मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख करते हुए अन्त में अभिनवगुप्त के ही मत पर अपनी आस्था प्रकट की है। मम्मट का स्पष्ट उद्देश्य काव्यशास्त्र की रचना करना था, अतः उनकी दृष्टि काव्य के विवेचन पर ही केन्द्रित रही है - दर्शन का उपयोग भी उन्होंने यथास्थान किया है किन्तु उसकी सूक्ष्मताओं में वे कहीं नहीं उलझे। फलतः उनके ग्रन्थ में विशेष मौलिक स्थापना नहीं है- उन्होंने अपने ढंग से, स्वच्छता के साथ किन्तु संक्षेप में- दार्शनिक जटिलताओं से बचकर अभिनवगुप्त के मत के प्रकाश में रस-निष्पत्ति का व्याख्यान मात्र कर दिया है। 'संयोग' का अर्थ वही व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है और 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति है।

मम्मट का ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि अभिनवगुप्त के मूल सिद्धान्तों को भी उसने आच्छादित कर लिया और रस-प्रसंग क्रमशः अपने आधारभूत दर्शन अद्वैतवेदान्त से विच्छिन्न होता गया। उधर भारत में शांकर वेदान्त का प्रचार और प्रसार बढ़ रहा था जिसका प्रभाव साहित्य तथा साहित्यशास्त्र पर भी पड़ा। फलतः रस-सिद्धान्त पर अद्वैतवेदान्त का प्रभाव कम और शांकरवेदान्त का रंग गहरा होने लगा। इस परिवर्तन के संकेत थोड़े बहुत विश्वनाथ में भी मिल जाते हैं, यद्यपि विश्वनाथ दार्शनिक की अपेक्षा साहित्य-रसिक ही अधिक थे, किन्तु

१- त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गम्याः। त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः।

चरम परिणति मिलती है पण्डितराज जगन्नाथ में जिन्होंने अभिनव के रस-सिद्धान्त को नव्य-न्याय से परिपुष्ट कर वेदान्त में उसका निमज्जित कर दिया । विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त के स्वर में ही कहा :

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभावः सचेतसाम् ।।[१]

अर्थात् सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित वासनारूप रति आदि स्थायिभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं ।

यहां एक तथ्य अवश्य है : कि आचार्य विश्वनाथ यह नहीं मानते कि जिस प्रकार दीपक से घट व्यक्त होता है उसी प्रकार विभावादिकों से रस व्यक्त होता है, बल्कि उन्होंने 'व्यक्तः' का अर्थ किया - दूध से दही आदि की तरह दूसरे रूप में परिणत होना ।[२] कहने का अभिप्राय यह है कि 'निष्पत्ति' का वास्तविक अर्थ विश्वनाथ 'परिणति' ही मानते हैं, यद्यपि 'व्यक्ति' या 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग वे बराबर करते हैं और अभिनव के उद्धरण से ही अपने मन्तव्य की पुष्टि करते हैं :

तदुक्तं लोचनकारैः रसाः प्रतीयन्त इति स्वोचितं पक्वीतिवत् व्यवहारः। इति ।[३]

आगे चलकर विश्वनाथ रस का स्वरूप वर्णन करते हैं :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।[४]
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः केनिचत्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।[५]

१- साहित्यदर्पण ३।१

२- व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तर परिणतो व्यक्तिभूत एव रसः । न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते । वही पृ० ४७

३- वही पृ० ४७ ४-५, वही पृ० ३।६, ३।३, पृ० ४८-४९

वो अखण्ड स्वयंप्रकाशरूप, आनन्दमय, चिन्मय, अन्य ज्ञान के स्पर्श से शून्य एवं ब्रह्मास्वाद के सदृश्य हैं और लोकोत्तर चमत्कार जिसका सार है, ऐसे रस का कोई (पुण्यवान्) वासनात्म्य संस्कार से युक्त सहृदय व्यक्ति स्वाकारवत् अभिन्नत्वेन आस्वादन करता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मुख्यतः भट्टनायक की ही शब्दावली है- 'सत्वोद्रेकस्वप्रकाशानन्दमय..... परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं मुण्यत इति'- जिसमें अभिनव के सिद्धान्त के प्रकाश में संशोधन कर दिया गया है। ये संशोधन सत्वोद्रेक की व्याख्या में तथा स्वाकारवत् एवं अभिन्नत्वेन पदों के प्रयोग में निहित हैं। भट्टनायक जहां रस की स्थिति में रजोगुण और तमोगुण का अनुबन्ध भी स्वीकार करते हैं, वहां विश्वनाथ 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः' को अनिवार्य मानते हैं। इसी प्रकार रस का आस्वादन आत्मा के निजी रूप के आस्वादन से अभिन्न है - अर्थात् रसास्वाद आत्मास्वाद का ही रूप है। ये दोनों संशोधन अभिनव के भावानुसार ही किए गए हैं, इसमें सन्देह नहीं।

एक स्पष्ट भेद और भी है -'चमत्कार' का अर्थ विश्वनाथ ने 'विस्मय' किया है जो अनधिकृत है और पूर्वाग्रह का परिणाम मात्र है। विश्वनाथ ने अभिनव की शब्दावली को छोड़ कर सामान्य वेदान्ती शब्दावली का ही प्रयोग किया है।

रस-प्रसंग में अन्तिम प्रसिद्ध नाम पण्डितराज जगन्नाथ का है। पण्डितराज ने रस गंगाधर के प्रथम आनन में रस-विषयक ग्यारह मतों का उल्लेख एवं विवेचन किया है उनकी विवेचना से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के मत में उनकी पूर्ण आस्था है। अभिनव का रस-सिद्धान्त अद्वैत पर आश्रित है, परन्तु यह प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिपादित शैवाद्वैत है जो आत्मतत्व के साथ-साथ उसकी भासारूप प्रकृति को भी सत्य एवं आनन्दमय मानता है। पण्डितराज ने अभिनव के अद्वैत और उसके परिणामी आनन्द-सिद्धान्त को तो यथावत् ग्रहण किया है, किन्तु उसे रंग दिया शांकर वेदान्त के रंग में। इस अन्तर को स्वयं उन्होंने ही बड़े स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है :

अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों के अनुसार अज्ञानरूप आवरण

से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायी भाव रस है किन्तु 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति के अनुसार वस्तुतः रति आदि स्थायी-भाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरण मुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिए न कि चैतन्यविशिष्ट रत्यादि को ।

जहां तक रस के स्वरूप का सम्बन्ध है, दोनों में कोई मूल अन्तर नहीं है । दोनों ही मतों में रस की नित्यता और स्वप्रकाशता सिद्ध है । अन्तर केवल इतना ही है कि अभिनव के मत में चैतन्य विशेषण और स्थायी भाव विशेष्य है, जब कि पण्डितराज के मत में स्थायीभाव विशेषण और चैतन्य विशेष्य है । और यही शैवाद्वैत या शांकराद्वैत में भेद है - शैवाद्वैत में प्रकृति के अंश रत्यादि स्थायीभावों में भी, चैतन्य के प्रतिभास होने के कारण आनन्द की स्थिति मान्य है। किन्तु शुद्ध(शांकर) अद्वैत सिद्धान्त केवल चैतन्य को ही आनन्दरूप मानता है । इस प्रकार [illegible] पण्डितराज ने अभिनव के मत को तत्त्व रूप में स्वीकार तो किया है किन्तु उसकी व्याख्या में वेदान्त के अनुसार संशोधन कर दिया है ।

अभिनव के मत को के अतिरिक्त पण्डितराज ने दो अन्य मतों को भी रखा है । जिनके प्रति उनकी आस्था स्पष्ट है, यद्यपि उन्होंने कहीं इस प्रकार का संकेत नहीं किया है, फिर भी जिस आग्रह के साथ उन्होंने इसका मण्डन किया है उससे विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि ये नवीन मत विशेष कर इनमें से प्रथम मत पण्डितराज का अपना मत है । वह मत इस प्रकार है :

'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ अनुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छेदिते स्वात्मन्य-

---

१- इत्थं चाभिनवगुप्त मम्मटभट्टादिप्रत्यवस्थानेन मग्नावरणविशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम् । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाण श्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना मग्नावरणा चिदेव रसः ।

- रस गंगाधर पृ० १७

ज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाज्ञत्व एव रजतत्वप्रः अनुत्पन्नानो निर्वचनीयः बाधित-भास्व-शुक्तित्वादिविषयकरत्वादिरेव रत्नः ।

अभिप्राय यह है कि -

(१) स्थायीभाव ही रस रूप में आस्वादित होता है ।

(२) व्यंजना व्यापार की सहायता से ही सहृदय को विभावादि के द्वारा स्थायी भाव की अनुभूति होती है ।

[illegible] ये दोनों तथ्य अभिनवगुप्त के मत के अनुकूल ही हैं ।

(३) एक ओर काव्य के गुणों और दूसरी ओर उसके अपने सहृदय के गुणों के कारण प्रमाता के चित में एक विशेष भावना-रूप दोष का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसके प्रभावबश उसकी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् आश्रय के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है ।यहां दो नवीन तथ्य सामने आते हैं :

(क) भावना रूप दोष की कल्पना । और

(ख) आश्रय के साथ तादात्म्य की कल्पना ।

(क) भावना रूप दोष की कल्पना का आधार है - नव्यन्याय द्वारा पुष्ट-वेदान्त । अपने को दुष्यन्त समझने की भावना वस्तुतः यथार्थ नहीं है, इसीलिए इसे दोष कहा गया है । यह भावना वास्तव में आधुनिक आलोचना शास्त्र की समानुभूति के निकट है जिसमें कल्पना और अनुभूति दोनों का संयोग रहता है - इसे केवल कल्पना कहना पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि इसका आधार भाव है । मनोविज्ञान के अनुसार यह यथार्थ है, भ्रम नहीं है। किन्तु मायावादी शांकरवेदान्त तो आत्मानुभूति में से केवल आत्मन् को ही सत्य मानता है , अनुभूति को नहीं । इसके अनुसार जब प्रत्यक्ष जागरित अनुभूति भी पारमार्थिक दृष्टि से [illegible] भ्रम है, तो कल्पित रत्नादि की अनुभूति की यथार्थता में तो सन्देह ही क्या हो सकता है ? नव्य मत के अनुसार काव्य का अनुभव कल्पित भाव का अनुभव है जो विद्यमान न होने से असत् और अनुभूयमान होने से सत् - अतः अनिर्वचनीय है और स्वप्नाभ्य

१- रस गंगाधर, पृष्ठ -२१०

से तुलनीय है । वास्तविक अनुभूति और काव्यानुभूति दोनों ही इस दर्शन के अनुसार अज्ञान-रूप हैं । भेद केवल मात्रा का है क्योंकि वे दूसरे में अज्ञान का आवरण अंशतः हट जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन सभी विभावों का आधार है और दर्शनों में भी शांकर वेदान्त समाधिक सूक्ष्म-गहन एवं बुद्धि सम्मत है । किन्तु केवल बुद्धि का आंचल पकड़े रहने से साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की क्या दुर्गति हो सकती है, इसका प्रमाण पण्डितराज जैसे रसज्ञ का यह दार्शनिक रस-विवेचन तो कम से कम सहृदय का परितोष नहीं कर सकता ।

उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं के आधार पर निष्पत्ति के दो अर्थ सामने आते हैं । पहला अर्थ है अभिनव अथवा भट्ट द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्ति या व्यक्ति । व्यक्ति का अर्थ पण्डितराज के अनुसार व्यंजना नहीं है, व्यक्ति का अर्थ है आवरण से मुक्त चैतन्य का प्रकाश ।[१] जब स्थायीभाव इसी शुद्ध चैतन्य का विषय बन जाता है तो रस निष्पन्न हो जाता है । इस प्रकार 'निष्पत्ति' का अर्थ हुआ 'आवरण मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय होना' । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अर्थ सामान्य काव्यशास्त्रीय अर्थों से भिन्न, शुद्ध दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है । नवीन मत के आधार पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के दो अंग हैं : एक तो व्यंजना-व्यापार के द्वारा विभावादि से आलम्बन के प्रति आश्रय के स्थायीभाव का ज्ञान 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' अर्थात् दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता है और दूसरा भावना दोष के उदय से कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित सहृदय की आत्मा द्वारा शकुन्तला विषयक रति का आस्वादन जो काव्यगुण आदि के कारण अंशतः आवरणमुक्त हो जाती है । इस प्रकार व्यंजना द्वारा पहले तो आश्रयगत स्थायीभाव प्रकट होता है और फिर तादात्म्यभूत सहृदय की आत्मा द्वारा आस्वादित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है । यहां भी 'निष्पत्ति' के मौलिक अर्थ में कोई भेद नहीं है - यहां भी वह व्यक्ति की ही वाचक है जिसका अर्थ 'चित् शक्ति का विषय होना' केवल प्रक्रिया की दार्शनिक व्याख्या में ही भेद हो गया है ।[२]

१- व्यक्तिश्च मलावरणया चित् - रसगंगाधर, पृ० ६०

२- रस-सिद्धान्त पृ० १७७-२८१ ।

इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य - मम्मट, विश्वनाथ, एवं पं० जगन्नाथ महान्नाथ के रस-सिद्धान्त के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को दार्शनिक पीठिका पर आसीन करके जिस नवीन परम्परा का भी मणेश किया था, उससे परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय बहुत दूर तक प्रभावित हुआ है ।

रस संख्या -

जहां तक रसों की संख्या का प्रश्न है - इस विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में मतैक्य है दोनों ही काव्य में नौ रस मानते हैं । इनके परवर्ती आचार्यों ने भी काव्य में नौ रस माने हैं । कुछ आचार्यों ने भक्तिरस और वात्सल्य रस का भी उल्लेख किया है । किन्तु नौ रस सर्वसम्मत हैं :-

१- शृंगार
२- हास्य
३- करुण
४- रौद्र
५- वीर
६- भयानक
७- बीभत्स
८- अद्भुत तथा
९- शान्त

उक्त रसों में से आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रत्येक का पूर्ण विवरण नहीं दिया केवल दो रसों शृंगार और शान्त के विषय में उन्होंने पर्याप्त उदारता दिखाई है और इनके विषय में अवान्तर तथ्य प्रस्तुत किए हैं ।

टीकाकार होने के कारण अभिनवगुप्त ने भी अन्य रसों की अपेक्षा इन्हीं दोनों का विस्तृत विवेचन किया है । और इन दोनों में से भी शान्त के प्रति उनमें अधिक श्रद्धा है । इस तथ्य की पुष्टि अभिनवभारती के शान्त-रस विवेचन से होती है ।[१]

१- इसका विस्तृत विवेचन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है ।

शान्त रस-

परवर्ती आचार्यों में से धनंजय और धनिक ने नाट्य में शान्त रस का खण्डन किया है। धनंजय के मत में नाट्य में शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण ये आठ ही रस होते हैं। शान्त रस के स्थायीभाव शम का अभिनय नहीं हो सकता क्योंकि शम में व्यक्ति की समस्त लौकिक प्रक्रियाओं का लोप हो जाता है और एक वीतराग, अनाविष्टता उसमें पाई जाती है। इस प्रकार की दशा का अभिनय करना असम्भव है। अतः अभिनय की अशक्यता के कारण ही धनंजय नाटकादि में शान्त रस की स्थिति स्वीकार नहीं करते।

जो आचार्य शान्त रस को स्वीकार करते भी हैं उनमें उसके स्थायी-भाव के विषय में वैमत्य है।

भोज 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में धृति को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं-

'धृतिस्थायीभावः वस्तुतत्त्वालोचनादिभिः व्यभिचारिभावैः वाग्रारम्भादिभिरनुभाव्यमानः निष्पन्नः शान्त इत्यभिधीयते।'

'अन्ये पुनरस्य शमं प्रकृतिमामनन्ति, स तु धृतेरेव विशेषो भवति'।[१]

धृति का अर्थ भोज के अनुसार 'सन्तुष्टि' है। यथा- 'स्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्। उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः॥'

पी. राघवन् के अनुसार भोज की 'सन्तुष्टि' तृष्णाक्षयसुख अथवा शम के ही निकट है। अन्य आचार्यों की ही भाँति भोज भी शम को मानते हैं किन्तु उनके अनुसार 'शम' धृति के ही अन्तर्गत आता है। क्योंकि नाट्यशास्त्र में ४९ व्यभिचारियों में शम की गणना नहीं की गई है, धृति की गणना की गई है इसीलिए वे धृति के अन्तर्गत शम को मानते हैं। कहीं-कहीं पर भोज शम को मतिविशेष के व्यभिचारी के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[२] 'मति'- तत्त्वज्ञान का ही प्रकार है जो शम से भिन्न नहीं है। किन्तु शृंगारप्रकाश में भोज धृति को छोड़ कर शम को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हैं।

१- सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ५१४-५१५। २- मतिविशेषः शमो यथा-वही पृ०५२१

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद मानते हैं।[१] निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानने पर इसकी द्विविध स्थिति हो जाती है। एक ओर यह व्यभिचारि-भाव है और दूसरी ओर शान्त रस का स्थायीभाव भी। क्योंकि इसकी गणना स्थायीभावों के तुरन्त बाद और व्यभिचारिभावों की सूची में सब से पहले की गई है अतः इसकी स्थिति द्वार की देहली पर दीप की भांति है जो अपने दोनों भागों में समान रूप से प्रकाश प्रस्तुत करता है।[२]

एकावलीकार विद्याधर निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हुए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि आचार्य भरत को भी शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद ही मान्य है, और क्योंकि निर्वेद शान्त रस का स्थायीभाव भी है और व्यभिचारिभाव भी, इसीलिए उन्होंने स्थायीभावों और व्यभिचारिभावों के मध्य में इसका नामोल्लेख किया है।[३]

अभिनवगुप्त की ही भांति विद्याधर भी शान्त रस को अवर्ण रूप कह देने वाला मानते हैं और उसका उद्धरण इस प्रकार देते हैं :-

सर्वसंसारविभावनादिविभावः पुलकाद्यनिस्तरंगतानुभावो धृत्यादिव्यभिचारी निर्वेदः शान्तः।..... ततश्चैकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवर्तनविपरीतनिवृत्तिसमात्मको-ऽवर्णकः शान्तः।[४]

१- आचार्य मम्मट शान्त का उद्धरण करते हुए कहते हैं -

'निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य पृथगनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम्। तेन -

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।'

यहां एक तथ्य विचारणीय है-आचार्य मम्मट का निर्वेद को 'अमंगलप्राय' कहना उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि निर्वेद की उत्पत्ति तत्वज्ञान से होती है, जो सर्वथा मंगलरूप है। इस तथ्य की पुष्टि भट्ट गोपाल के कथन से भी होती है।- तत्वचिंतायां तु निर्वेदस्य न किंचिदमंगलप्रायत्वम्, प्रत्युत मंगलप्रायत्वमित्याह। दृष्ट The Number of Rasas. P-६६

२- वही

३- निर्वेदस्य शान्तरसस्थायित्वप्रकाशनायैव मुनिना व्यभिचारिषु पृथगं निर्दिष्टत्वात्।.... इति स्थायिव्यभिचारिमध्येऽस्य पठनादुभयकोटित्वमस्याभिमतमिति मुनेराशयस्य उपपादकत्वाच्च। एकावली पृ० ६७-६८

४- वही पृ० ६६

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शान्त-रस का स्थायीभाव 'शम' है । संसार की असारता का ज्ञान आलम्बन-विभाव है ,आश्रम, पवित्र तीर्थ-स्थान, रमणीय एकान्तवन तथा महात्माओं का संग आदि उद्दीपन-विभाव हैं । रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं । निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया आदि इसके संचारी भाव हैं ।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार 'निर्वेद'[2] शान्त रस का 'स्थायीभाव' है ।सम्पूर्ण दृश्यजगत 'आलम्बन' है । इन पदार्थों में नश्वरता का भाव 'अनुभाव' है । मति आदि 'संचारीभाव' हैं ।[3]

इस प्रकार शान्त रस के स्थायीभाव के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों का अनुशीलन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शम और निर्वेद को शान्त-रस के स्थायीभाव के रूप में विशेष रूप से स्वीकार किया गया है । यदि निर्वेद का अन्तर्भाव शम में कर लिया जाय तो अन्य रसों की भांति शान्त रस का भी एकमात्र स्थायीभाव शम हो सकता है ।

आचार्यों में शान्त रस के स्थायीभाव के विषय में वैमत्य होते हुए भी यह नि:सन्देह कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर प्राय: सभी परवर्ती आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से शान्त रस का समर्थन किया है । और काव्य में नौ रस माने हैं ।

शब्द शक्तियां -

शब्द शक्तियों के प्रसंग में अभिनवगुप्त से परवर्ती आचार्य कहां तक प्रभावित हुए हैं - इस का परीक्षण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

अभिधाशक्ति - आनन्दवर्धन ने अभिधा के नियमन की चर्चा कहीं नहीं की है । किन्तु अभिनवगुप्त ने दो स्थलों पर विशेष रूप से उल्लेख किया है ।

१- साहित्यदर्पण पृ० १२९ २- द्र० रसगंगाधर पृ० १३६

३- वही पृ० १५६

(१) 'मुख वार्णिक' इत्यादि की व्याख्या के प्रसंग में ।

(२) शब्द शक्तिमूला- अनुरणनरूप- व्यंग्य में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ के विवेचन के प्रसंग में ।

(१) अभिनवगुप्त ने 'मुख वार्णिक' की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसमें 'पूजो' इस विधि रूप अर्थ के बाद ही 'मत पूजो' यह जो निषेध रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है, वे दोनों विधि-निषेध रूप अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं । विरुद्ध होने के कारण दोनों की युगपत्(एक समय में) वाच्यता नहीं है । क्योंकि अभिधा जब एक विधि रूप अर्थ को कहा चुकी तब उसकी प्रवृत्ति पुनः निषेध रूप अर्थ में नहीं होगी ।[1] - यह नियम है कि अभिधा के विरत हो जाने पर उसका पुनः व्यापार नहीं होता ।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे ।'

(२) ध्वनि के भेद - शब्दशक्तिमूला अनुरणनरूप व्यंग्य में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ का विवेचन आया है । इसमें मुख्य प्राकरणिक अर्थ अभिधेय है । अतः अभिधा एक अर्थ देकर विरत व्यापारा हो जाती है, फिर दूसरा अप्राकरणिक अर्थ अभिधा से नहीं निकलता, वह व्यंजकत्व व्यापार से निकलता है । यहां पर आनन्दवर्धन ने अभिधा के नियमन की चर्चा नहीं की है, केवल इतना कहा है -

'वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांक्षीत्'

अर्थात् अप्राकरणिक अर्थान्तर के शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर यह बात प्रसक्त न हो कि वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला है, इसलिए अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी चाहिए। इत्यादि ।[2]

१- (१) तत्र मावयदभावयोर्विरोधाद् द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात् । 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधा-व्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात् । लो० पृ० ५३

(२)..... नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थ-प्रतिपत्तिपर्यवसायिनो विरम्या-व्यापारात् । वही पृ० ५८

२- ध्व० पृ० २४४ ।

किन्तु अभिनवगुप्त ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अभिधा के नियमन की बात एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट की है ।

'अत्रान्तरे कुसुमसयसुमुखसंदर्शनकुपित श्रीचन्द्रापीड: कुलकलङ्किनीवचनाद्-द्राङ्मो महाकाल:'[1]।

इसमें 'महाकाल' प्रभृति शब्दों से प्राकरणिक श्रीचन्द्र क्रतु विषयक अर्थ का बोध अभिधा-शक्ति से हो रहा है । इसके साथ अप्राकरणिक- शिव - विषयक अर्थ भी निकल रहा है । उसकी प्रतीति व्यंजना-व्यापार द्वारा ही होगी ।क्योंकि[2] अभिधा का एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर उसका पुन: व्यापार नहीं होता ।

परवर्ती आचार्य मम्मट ने भी अभिनवगुप्त के ही स्वर में स्वर मिला कर कहा - शब्दशक्तिमूला व्यंजना में अभिधा का संयोगादि द्वारा एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर , अनभिधेय जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, उसका और उसके साथ उपमादि अलंकार का व्यंग्यत्व निर्विवाद है ।[3]

इसी प्रसंग में श्री विश्वनाथ भी अभिधा के नियंत्रण की चर्चा करते हुए कहते हैं-

जहां संयोगादि के द्वारा अभिधा की शक्ति कुण्ठित(अर्थात् एकार्थ में - नियन्त्रित) होने के कारण अन्यार्थ को देने में कुण्ठित हो जाती है , वहां अर्थान्तर का अवगमन कराने में व्यंजना ही समर्थ होती है ।[4]

१- ध्व० पृ० २५६

२- अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तित्वात्, अतस्य अवयवप्रसिद्धे: समुदायप्रसिद्धि-वीक्षायां इति न्यायमनावृण्वन्तो महाकालप्रभृतय: शब्दा एतमेवार्थमभिधाय - कृतकृत्या एव । तदनन्तरमर्थान्तरप्रतिपत्तौ नियमव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात् ।ध्वन्या० पृ० २५६-२६०

३- शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेऽनभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलंकार-स्य च निर्विवादं व्यंग्यत्वम् । काव्यप्रकाश पृ० २९८

४- संयोगादिभिरभिधा कुण्ठिता यत्र कुण्ठतामेति ।
अर्थान्तरावगमने व्यंजनैव क्षमं तत्र ।।
..... अत्र संयोगादिभिरभिधायां नियमितायां यदनेकार्थस्य शब्दस्यार्थान्तरमपि यत्र वचसा प्रतीतिगोचरीभवति तत्र व्यंजनाव्यापार एव प्रपञ्चते। सा० दर्पण पृ० ४८-४०

यथा -

आच्छादितायतदिग्नरमुज्ज्वलेना -

माक्रम्य संस्थितमुपर्युपशोभनम् ।

मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिलेन-

मुद्दीप्य को मुवि न विस्मयते नगेन्द्रम् ।।

यहां महाकवि माघ ने रैवतक पर्वत का वर्णन किया है । नगेन्द्र प्रभृति शब्दों से प्राकरणिक रैवतक पर्वत विषयक अर्थ का बोध अभिधा शक्ति से हो रहा है । किन्तु साथ ही अप्राकरणिक शिव-विषयक अर्थ भी निकल रहा है जिसे बोधित कराने में अभिधा शक्ति असमर्थ है । क्योंकि वह प्राकरणिक अर्थ देकर विरत-व्यापारा हो गई है । अभिधा के अतिरिक्त उस अर्थ को तात्पर्य और लक्षणा भी देने में असमर्थ हैं । अतः उस अप्राकरणिक-शिव-विषयक अर्थ की प्रतीति कराने में व्यंजावृत्ति ही समर्थ है ।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने भी व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में अभिधा के नियमन की चर्चा करते हुए कहा है :-

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' इस न्याय से अभिधा,लक्षणा और तात्पर्य नामक तीनों वृत्तियों की अर्थबोधन-शक्ति के उपरक्षीण हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ बोधित होता है , वह शब्दनिष्ठ अर्थनिष्ठ,प्रकृतिनिष्ठ,प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्गादिनिष्ठ व्यंजना-शक्ति कहलाती है । इसके व्यंजन,ध्वनन,गमन,प्रत्यायन आदि अनेक नाम हैं ।[2]

तदनन्तर अभिधामूला व्यंजना के विषय में कहते हैं कि संयोगादि के द्वारा अभिधा का एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर , जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति

१- (१) अत्र तावन्न रूढेर्य: ।..... इत्यभिधातात्पर्यलक्षणारूपव्यापार त्रितया-तिक्रान्तौ ध्वननबोधनव्यंजनप्रत्यायनाकलनादिव्यपदेशनिरूपितश्चतुर्थो व्यापारो दुरपह्नव एव । ततश्च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्याभिधानस्य ध्वनेर्महिम्ना नगेन्द्रं नगेन्द्रमिवेत्यत्रोपमालंकार: प्रतीयते । द्र० एकावली पृ० ६०-६१

(२) द्र० वही० पृ० १११

२- द्र० साहित्यदर्पण पृ० ४० ।

होती है', वह अभिधामूला व्यंजना कहलाती है ।

यथा -

दुर्गाश्लिष्टविभूतो मनसिजं संजीव्यंतेजसा
प्रोद्भाकलो गृहीतगरिमा विश्वम्भृतो मौलिभिः ।
नवाभ्रेलूलोलजाणो गिरिसुतो गाढां कपिं वारयन्
मामाक्रन्द विभूतिभूषिततनू राजन्यचूडावल्लभः ।।

यह पद्य 'उमा' नामक महारानी के पति राजा भानुदेव की प्रशंसा में लिखा गया है । अतएव प्रकरण के द्वारा उमावल्लभः शब्द का 'उमा नामक महादेवी के वल्लभ भानुदेवनृपति' - इस अभिधेय अर्थ का बोध होता है । किन्तु शब्द रचना इस प्रकार की है जिससे गौरीवल्लभ -शंकर परक अर्थ भी व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है । और अन्त में इन दोनों (राजा और शिव) का उपमानोपमेय भाव व्यक्तित होता है ।[1]

लक्षणाशक्ति -

काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में आचार्य मम्मट ने व्यंजना से लक्षणा का भेद ध्वन्यालोक २।१७ के लोचन के अनुसार किया है । किन्तु लक्षणा के भेदों की संख्या के विषय में अभिनवगुप्त और मम्मट में किंचित भेद है । अभिनव गुप्त कहते हैं -

'अनया लक्षणया पंचविधया विश्वमेव व्याप्तम् ।'[2]

किन्तु आचार्य मम्मट कहते हैं - 'लक्षणा तेन षड्विधा'[3] ।

संभवतः आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों का निरूपण 'अभिधामूलमात्रका' के आधार पर किया हो । क्योंकि लक्षणा का छः प्रकार का विभाग मूलतः मुकुलभट्ट ने किया है ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के छः भेदों के स्थान पर सोलह भेद किए हैं । वे सोलह भेद इस प्रकार हैं - पहले रूढ़ि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती

१- (१) द्र० साहित्य दर्पण पृ० ४०-४१ (२) द्र० वही पृ० १३४

२- लो० पृ० १४१ ३- काव्यप्रकाश -पृ० ५६

लक्षणा ये दो भेद हुए । फिर इन दोनों के उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा के भेद से , दो-दो भेद होकर चार भेद हुए । फिर इन चारों भेदों के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप से दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए । फिर इन आठों भेदों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए । मुकुलभट्ट और मम्मट ने केवल छः भेद ही किए हैं । इस भेद का कारण यह है कि मम्मट और मुकुलभट्ट ने उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा ये दोनों भेद केवल शुद्धा के माने हैं, गौणी के नहीं । विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों भेद माने हैं । उनको मम्मट के छः भेदों में मिलाकर देने पर आठ भेद बन जाते हैं । विश्वनाथ ने इनके रूढ़ि तथा प्रयोजन से दो भेद करके सोलह भेद बनायें हैं । मुकुल भट्ट और मम्मट ने ये भेद नहीं किए हैं इसीलिए लक्षणा-भेद की संख्या में अन्तर हो गया है।

तात्पर्यशक्ति -

अभिनवगुप्त ने व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में व्यंजना-विरोधी - अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के तात्पर्यार्थ का खण्डन करते हुए तात्पर्यार्थ बोध के लिए तात्पर्यशक्ति का प्रयोग किया है । काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त पहले आचार्य हैं जिन्होंने तात्पर्यशक्ति- इस संज्ञा का प्रयोग किया है । आनन्दवर्धन ने वक्ता के तात्पर्य को व्यंग्य मानते हुए , 'तात्पर्य' पद का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु तात्पर्यशक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है । किन्तु अभिनवगुप्त ने प्रथम और तृतीय उद्योत में तात्पर्यशक्ति का विवेचन करते हुए इसे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से भिन्न तात्पर्याख्या शक्ति माना है ।[१] इसका प्रभाव बाद परवर्ती

१- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना - तो शब्द की शक्तियां हैं किन्तु तात्पर्य वाक्य की शक्ति है । इसीलिए आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तियों के साथ तात्पर्यशक्ति को नहीं रखा है । किन्तु अभिनवगुप्त ने लोचन में अनेक स्थलों पर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के मध्य तात्पर्याख्या-शक्ति की भी गणना की है और उसे द्वितीय कक्षा निविष्ट माना है । एवं व्यंजना शक्ति को चतुर्थ कक्षा में रखा है । जो आनन्दवर्धन के मत से बिल्कुल साम्य नहीं रखता । क्योंकि आनन्दवर्धन शब्दशक्तियों की केवल तीन कोटियां मानते हैं- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ।

आचार्यों पर पड़ा । मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के साथ तात्पर्यशक्ति का भी उल्लेख किया है । अभिनवगुप्त के ठीक परवर्ती आचार्य धनंजय और धनिक ने तो व्यंजनावृत्ति का मूलत: खण्डन करते हुए, एकमात्र तात्पर्यार्थ को ही माना । यद्यपि धनंजय-धनिक ध्वनि विरोधी आचार्य हैं तथापि उनके द्वारा विवेचित तात्पर्यार्थ को दृष्टि में रखते हुए , यहांउनका भी विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

व्यंजना विरोधी धनंजय तथा धनिक एकमात्र तात्पर्यार्थ के ही पक्ष में हैं । उनके मतानुसार विभावादि तथा स्थायीभाव, रस के प्रतिपादक हैं और रस-भाव उनके प्रतिपाद्य । काव्यरूप वाक्य का एक ही कार्य अथवा प्रयोजन है - सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना । यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायीभाव के ही कारण होती है ।इस प्रकार काव्यप्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादकशक्ति (तात्पर्य-शक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य तत्तत् रस के द्वारा आकृष्ट होती है , कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को बाध्य करता है.। इसलिए वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य-शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है , तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही तात्पर्यशक्ति रस-प्रतीति करा के पर्यवसित होती है । अत: संक्षेप में रस-प्रतीति की सरणि में काव्यप्रयुक्त पदार्थ - विभावादि हैं , तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादि स्थायीभाव काव्य का वाक्यार्थ है । अतएव स्थायीभाव तथा रस की प्रतीति व्यंग्य न होकर काव्य का वाक्यार्थ है और वह व्यंजना-शक्ति का विषय न होकर ,तात्पर्यशक्ति का[1] विषय है ।

रस की को वाक्यार्थ रूप में निरूपित कर देने पर, केवल अभिधा,लक्षणा एवं तात्पर्यशक्ति द्वारा समस्त भूयमाण-अभूयमाण पदार्थ की प्रतीति हो जाती है इसलिए व्यंजना शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है ।[2] क्योंकि काव्य में प्रतीयमान अर्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में ही हो जाता है । जहां वक्ता का तात्पर्य भूयमाण नहीं है , उसका काव्य में साक्षात् प्रयोग नहीं हुआ है, ऐसे स्थल पर भी अभूत-पदार्थ में तात्पर्यार्थ ही मानते हैं । क्योंकि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान वक्ता के

१- दृ० दशरूपकावलोक- पृ० २४७-२४८

२- वही पृ० २४८-२४९ ।

के प्रयोजन(कार्य) तक रहता है ।[1] जहां तक वक्ता का कार्य प्रयोजित होगा वहीं तक तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र होगा । यथा 'मुग्ध वामिनि' इत्यादि में वक्ता का प्रयोजन 'निषेधरूप' है । अतः यहां पर तात्पर्यशक्ति की सीमा निषेधार्थ तक मानी जायगी । उसका बोध कराने के बाद ही तात्पर्यशक्ति क्षीण होगी ।

इस प्रकार ध्वनि विरोधी की यह अपील है कि जब अभिधाभावपक्ष-निषेधार्थ को ध्वनिवादी भी वक्ता का तात्पर्य मानते हैं तब उसे वाक्यार्थ ही मानना चाहिए , व्यंग्यार्थ नहीं ।

ध्वनिवादी का मत है - जहां काव्य में स्वार्थ(अर्थात् वाक्य का तात्पर्यार्थ एक बार विश्रान्त हो गया हो, तथा वाक्य किसी दूसरे तात्पर्यार्थ भिन्न प्रतीयमान अर्थ का आश्रय ले । वहां ध्वनि होगी । जैसे 'मुग्ध-वामिनि' इत्यादि में तात्पर्यार्थ विध्यर्थ में ही विश्रान्त हो जाता है , तदनन्तर निषेध रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजनावृत्ति द्वारा होती है । इस प्रकार वाक्य में स्वार्थ-विश्रान्ति की सीमा तक ही तात्पर्य माना जायगा ।

इस बात से ध्वनि विरोधी सहमत नहीं हैं । मणिक का कहना है कि किसी भी वाक्य के तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति सीमा का निर्धारण करना असम्भव है । वह वक्ता के प्रयोजन पर ही जाकर विश्रान्त होता है । अतः तात्पर्य को किसी तराजू पर रखकर नहीं कहा जा सकता है इतना तात्पर्य है, बाकी अन्य वस्तु जहां तक वक्ता का कार्य प्रयोजित होगा वहां तक तात्पर्यार्थ भी होगा, अतः वक्ता के तात्पर्य के लिए व्यंग्यार्थ को मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इस स्थल पर एक तथ्य अवधेय है कि आनन्दवर्धन ने तात्पर्यशक्ति का नाम नहीं लिया है । किन्तु अभिनवगुप्त ने लोचन में तात्पर्यशक्ति का उल्लेख किया है ।इसीलिए मणिक ने व्यंजनावृत्ति का खण्डन करते हुए कहा है कि ध्वनिवादी जब तात्पर्यार्थ और तात्पर्यशक्ति को स्वीकार कर ही रहे हैं तब उससे अतिरिक्त

१- वक्रोक्तिजीवित पृ० २४९-२५० ।

व्यंजनावृत्ति को मानने से कोई लाभ नहीं।[१] क्योंकि जो अर्थ व्यंजनावृत्ति से निकलता है वह तात्पर्यशक्ति द्वारा ही मिल जाता है।

आचार्य मम्मट ने भी शब्दार्थ-स्वरूप का निरूपण करते हुए तात्पर्यार्थ का उल्लेख किया है। किन्तु उनकी शब्दावली से परिलक्षित होता है कि वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रतिपादक वाचक, लक्षक और व्यंजक रूप त्रिविध शब्दार्थ सभी ध्वनिवादियों को निर्विवाद रूप से मान्य हैं। किन्तु कुछ आचार्य वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-अर्थ के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ को भी मानते हैं।[२]

वस्तुतः यह तात्पर्यार्थ अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का है, जिनके अनुसार वर्ण पृथक पदों से केवल अन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से तात्पर्यार्थ द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। ये व्यंजनावृत्ति के बिना ही वाक्यार्थ द्वारा ही सारा अर्थ निकालना चाहते हैं।

तात्पर्यार्थ का विवेचन करते हुए, आचार्य मम्मट ने बड़ी कुशलता से इस तथ्य की ओर भी संकेत कर दिया है कि जो आचार्य काव्य में तात्पर्यार्थ को मानते हैं वे मात्र अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के ऋणी हैं क्योंकि वे ही पदार्थान्वय के लिए तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करते हैं। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मीमांसकों के ऋणी इसलिए नहीं हैं क्योंकि वे अन्वित पदार्थों में ही शक्ति मानने के कारण अन्वय की प्रक्रियिका तात्पर्यशक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार[३] पूरा वाक्यार्थ अभिधा द्वारा विभन्न होने के कारण वाच्यार्थ ही है।

इसी प्रसंग में इस तथ्य का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में आचार्य मम्मट ने अपना मीमांसा और न्याय-विषयक

१- तात्पर्यमिति रेकाक्ष्य व्यंजनीयस्य न ध्वनिः - दशरूपकावलोक पृ० २४६

२- स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।
वाच्याद्यवस्तवर्थाः स्युः तात्पर्यार्थोऽपि केचन ।। काव्यप्रकाश २।६पृ०३४-३५

३-वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः = काव्यप्रकाश- पृ० २७

ज्ञान का परिचय काव्यप्रकाश के पंचम-उल्लास में दे दिया है।[१] उनका 'निमित्तानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते, सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घ व्यापारः और यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' ध्वन्यालोक के 'मम तस्मिन्' के लोचन[२] पर आधृत है।

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने भी तात्पर्यार्थ का उल्लेख किया है -

'ध्वनिकारः पुनरभिधा-तात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननयोतनाभिधेयस्य व्यंजनव्यापारस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थस्वभावाद्वाक्यार्थस्येव च व्यंग्यरूपस्य गुणालंकारोपसर्जनत्वेन प्राधान्याद्भ्रान्तिधर्मत्वात्[३] तत्त्वं विद्भ्रान्तिवान्'।

यहां आचार्य रुय्यक पर भी अभिनवगुप्त का प्रभाव स्पष्टतः पड़ा है क्योंकि वे भी अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के मध्य तात्पर्य-व्यापार का नामोल्लेख कर रहे हैं। यहां एक तथ्य विशेषतः अवधेय है कि आचार्य रुय्यक ने ध्वनिकार(आनन्दवर्धन) की दुहाई देकर अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा रूप व्यापारत्रय से भिन्न चतुर्थ- व्यंजन-व्यापार की स्थापना की है, वह सर्वथा असंगत है। क्योंकि ध्वनिकार-आनन्दवर्धन ने तात्पर्य को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना रूप शब्द-व्यापार के मध्य नहीं रखा है। यह अभिनवगुप्त की भूल है।

एकावलीकार श्री विद्याधर ने भी तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है किन्तु आचार्य मम्मट के ही अनुसार बड़ी कुशलता से अभिधावृत्ति के विवेचन के प्रसंग में कहते हैं -

'अनुद्यमानमप्यनिां विधेयार्थपरत्वं तात्पर्यमिति व्यापारान्तरं परैरभ्युपगतम्'। यथा -

'उमां च वीक्ष्यानुनेव चक्षुषा प्रवक्ष्यते वस्तुमनुज्झितक्रमः'

इत्यत्र दक्षस्य चक्षुःकरणकत्वाभिधाराऽसदुपादानं तद्विशेषणार्थं तदेव चात्र विधेयं तत्परत्वमेव तात्पर्यम्'।[४]

१- द्र० काव्यप्रकाश- पृ० २२६-२३७

२- द्र० लोचन पृ० ५५-५६

३- अलंकारसर्वस्वम्- पृ०-११

४-एकावली पृ० ५६

शब्दशक्तिमूला अनुरणन रूप व्यंग्य के प्रसंग में भी विद्याधर ने तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है -

'इत्यभिधातात्पर्यलक्षणारूपव्यापारत्रितयातिवर्ती ध्वननद्योतनव्यंजन-प्रत्यायनावगमनादिव्यपदेशनिरूपितश्चतुर्थो व्यापारो दुरपह्नव एव'।[१]

एकावली की उपर्युक्त पंक्ति के साथ लोचन की पंक्ति- तस्मादभिधा-तात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यंजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः'।[२] के साथ तुलना करने पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि विद्याधर की उपर्युक्त पंक्ति लोचन पर आधृत है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में तात्पर्यशक्ति का उल्लेख किया है। जब वे त्रिविध वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-अर्थ की क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना- वृत्तियों का विवेचन कर चुकते हैं, तब तात्पर्यशक्ति के विषय में कहते हैं -

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च काव्यं तद्बोधकं परे।।[३]

आचार्य विश्वनाथ ने शब्द-शक्तियों से पृथक् तात्पर्य-शक्ति का विवेचन किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस तथ्य के प्रति सजग हैं कि तात्पर्य वाक्य की शक्ति है और अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्द की शक्तियां हैं।

किन्तु व्यंजना की स्थापना के प्रसंग में वे अन्य आचार्यों की ही भांति तात्पर्यवृत्ति की भी गणना अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के मध्य करते हैं -

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अंगीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्।।[४]

तात्पर्य से व्यंजना का भेद बताते हुए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के मतों को समेटने का प्रयत्न किया है। यहां तक कि तात्पर्यार्थ को मानने वाले अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का भी खण्डन किया है। इस प्रकार साहित्य-

---

१- एकावली पृ० -६१ २- लोचन पृ० ६१-६२
३- साहित्यदर्पण पृ० ४६ ४- वही पृ० १५६

दर्पण में व्यंजना-विरोधी मीमांसकों को निम्नलिखित तीन मार्गों में विभाजित करके उनका खण्डन किया है -

१- अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्य-शक्ति का,

२- अभिधा-शक्ति का व्यापार बाण के समान दीर्घदीर्घतर मानने वाले अन्विता-भिधानवादियों का,

३- और, तात्पर्य से व्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ को न मानने वाले अभिहितान्वयवादियों का 'वाक्यार्थ-ज्ञानादित्यात्तात्पर्यं न तुलाकूटम्,[1] का

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' इस न्याय से खण्डन किया है।

उपर्युक्त न्याय को नहीं मानने वाले मीमांसकों को उत्तर देते हैं - यदि अभिधा के इस दीर्घ-दीर्घ व्यापार से ही व्यंग्यार्थ को बोध मानते हो तो लक्षणाशक्ति के मानने की भी क्या आवश्यकता है, उसे भी छोड़ दो। अपने दीर्घदीर्घ तर अभिधा व्यापार से ही लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों अर्थों को निकाल लेना। किन्तु मीमांसक लक्षणाशक्ति को मानते हैं इसलिए उन्हें व्यंजना शक्ति भी माननी पड़ेगी। अत: उनका अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से व्यंग्यार्थ का बोध मानना ठीक नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ, 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' इस न्याय को मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करने के पूर्व उनसे प्रश्न करते हैं कि 'जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही शब्दार्थ है - यहां प्रष्टव्य है कि तत्परत्व क्या वस्तु है ? क्या तात्पर्य का मतलब तदर्थत्व है ? अथवा तात्पर्य नामक वृत्ति से बोधित होना यदि पहला पक्ष मानों तो कोई विवाद ही नहीं। क्योंकि व्यंग्य होने पर भी तदर्थत्व का अभाव नहीं होता। तदर्थत्व का मतलब है, उस पद का अर्थ होना। इससे यह तो निकलता ही नहीं कि कौन सी वृत्ति से वह अर्थ होना चाहिए। चाहे किसी भी वृत्ति से निकला हुआ अर्थ उस शब्द का तदर्थ कहला सकता है। इसलिए व्यंजना-शक्ति के द्वारा प्रतीत हुआ निरतिशयानन्द भी यदि तदर्थ कहलाए तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इससे ध्वनिवादियों की मानी हुई व्यंजना-वृत्ति का खण्डन नहीं हो सकता, अत: इस पक्ष में हमें विवाद करने की भी कोई आवश्यकता नहीं। यदि दूसरा पक्ष मानते हैं तो यह बतलाएं कि यह

तात्पर्य नामक वृत्ति कौन सी है ? क्या अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की मानी हुई

१- द० साहित्यदर्पण पृ० १५७।

मानते हैं तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि तात्पर्यवृत्ति से पदार्थों का सम्बन्धमात्र बोधन होता है। उसके बाद वह परिक्षीण हो जाती है, अतः उससे फिर व्यङ्ग्य-अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं। यदि उससे अतिरिक्त वृत्ति मानकर उसका नाम 'तात्पर्यवृत्ति' रखते हैं तो नाममात्र में विवाद रहा। पूर्वसम्मत अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य के अतिरिक्त चौथी वृत्ति तो तुम्हारे मत में भी सिद्ध हो ही गई। भेद केवल इतना है कि हम चौथी वृत्ति को व्यंजना कहते हैं और तुम तीसरी तथा चौथी दोनों को तात्पर्यवृत्ति कहते हो'।[१]

'अभिहितान्वयवादियों की सम्मत तात्पर्यशक्ति से ही पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (विभावादि का संसर्ग) और रसादि का ज्ञान यदि एक साथ ही प्रकाशित हो जाय तो क्या हानि है? इस प्रकार चौथी वृत्ति भी नहीं माननी पड़ेगी और काम भी चल जायगा। केवल तात्पर्यशक्ति से ही दोनों का प्रकाशन मान लीजिये।'

उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'विभावादि के संसर्ग को रस का कारण माना गया है और रसज्ञान को विभावादि ज्ञान का कार्य माना गया है (कार्य और कारण कभी एक साथ हो नहीं सकते। कारण पहले होता है और कार्य उसके पीछे, अतः एक वृत्ति से इन दोनों का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। इन दोनों का कार्य-कारण भाव भरतमुनि ने कहा है - विभावानुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से अर्थात् इन कारणों से रस की निष्पत्ति अर्थात् रसरूप कार्य की सिद्धि होती है। पहले सिद्ध किया है कि रस कार्य नहीं होता, अतः यहाँ चौथीपर्य के कारण इन शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है. अथवा आवरण भंग के कारण को उपचार से रस का कारण कह दिया है। यदि विभावादि ज्ञान और रस-ज्ञान या सहभाव (एक ही काल में उत्पन्न होना) माना जाय तो कार्यकारण भाव नहीं बन सकता। एक साथ निकले हुए किसी पशु के बाएं और दाहिने सींग एक दूसरे के कार्य और

१- तत्र प्रष्टव्यम् - किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यकृत्या तद्बोधकत्वं वा? आद्ये न विवादः, व्यंग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु - केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः? अभिहितान्वयवादिभिरंगीकृता, तदन्या वा? आद्ये दर्शनेवोत्तरम्। द्वितीये तु नाममात्रे विवादः। तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः। (साहित्य दर्पण पृ० १५८-५९)

और कारण नहीं हुआ करते । जहां पौर्वापर्य हो वहीं कार्य-कारण भाव होता है। उसके विपर्यय में नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि तात्पर्यवृत्ति से व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता'।

इस प्रकार उन्हों ने 'तात्पर्य' के लिए तात्पर्य-शक्ति का प्रयोग अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर किया है ।

व्यंजना-व्यापार -

ध्वन्यालोक के आधार पर व्यंजना की परिभाषा इस प्रकार है -

'शब्द-प्रयोक्ता कभी वाच्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है और कभी प्रयोजन की अपेक्षा से अविवक्षित अनभिधेय रूप से अर्थ प्रकाशन करना चाहता है । किन्तु प्रतिभाशाली वक्ता या कवि का जो पारमार्थिक प्रयोजन होता है उसकी अवगति वह श्रोता को अभिधेय रूप से कभी नहीं कराना चाहता । प्रयोजन को अभिधेय बना कर तो उसका चमत्कार या वैचित्र्य ही नष्ट हो जाता है । फलतः वह अविवक्षित उस प्रयोजन प्रतीति को रमणीय रूप देने के लिए अनभिधेय ही रखता है[2]। ऐसी अवस्था में उसके इस अनभिधेय अभिप्राय- विशेष की रमणीय प्रत्यायना जिस शक्ति से होती है उसे व्यंजना-शक्ति कहते हैं'[3]

व्यंजना-शक्ति के विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में मतैक्य है । परवर्ती आचार्यों ने भी व्यंजना का स्वरूप आनन्दवर्धन के ही अनुसार प्रतिपादित किया है ।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में व्यंजावृत्ति का विशद निरूपण किया है । व्यंजना के मूलतः दो भेद हैं - शब्दनिष्ठ तथा अर्थनिष्ठ । इन्हीं को क्रमशः शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना भी कहते हैं । शाब्दी व्यंजना के पुनः दो भेद हैं -

---

१- प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देन अर्थं प्रकाशयितुं वाञ्छति
कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कदाचित् - ध्व० पृ० ४४६-५०

२- सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति, प्रसिद्धिरूपेणस्वरूपेण विवक्षितान्यपरिवृत्तेस्तु यदभिधानं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षात्-शब्दवाच्यत्वेन । ध्व० पृ० ५११

३- द्र० ध्वनि सिद्धान्तः विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यतायें पृ० ७६ ।

अभिधामूला तथा लक्षणामूला । मम्मट ने उपर्युक्त लक्षणा के विवेचन के प्रसंग में प्रयोजन की निष्पत्ति कराने वाली लक्षणामूला व्यंजना का यह लक्षण किया है-

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनाव्यापरा स्त्रिया ।।[1]

प्रयोजनप्रतिविधानविषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र गम्यतत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्, न तत्र व्यंजावृतेऽन्यो व्यापार: ।[2]

'गंगायां घोष:' में शैत्यपावनत्वादि प्रयोजनभूत विषय के बोधन में लक्षणा शक्ति के क्षीण हो जाने पर अभिधा,तात्पर्य तथा लक्षणा से अतिरिक्त एक चतुर्थ-व्यापार[3] अवश्य मानना पड़ेगा और वही है व्यंजना-व्यापार जिसके द्योतन व्यंजन आदि अन्य पर्याय हैं ।[4]

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना - अनेकार्थक शब्दों के स्थल में संयोगादि[5] अभिधानियामकों द्वारा अभिधा का नियमन हो जाने पर भी वक्तृवर्यों की प्रतिभा बलात् जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती है,उस अनभिधेय अन्य-अर्थ का बोध कराने वाले व्यापार को व्यंजना-व्यापार कहते हैं । यथा-

पद्मारण्यनो दुरधिरोहतनोर्विडौजसंस्तोन्मते
कृतिलीमुखसंगतस्य ।
यस्यानुच्छ्वसने: परिवारणस्य दानाम्बुभिस्सुमन:सन्तंकरोऽभूत् ।।

१- का०प्र० २।१४ २- वही पृ० ५६

३- आचार्य मम्मट ने व्यंजना-व्यापार को चतुर्थ कक्षा-निवेशी माना है - यह अभिनवगुप्त का प्रभाव है ।

४- तटादौ ये विशेषा:पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्या तच्च व्यञ्जन- द्योतन - आदिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् । काव्यप्रकाश ७ उ.

५- संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थ: प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:।।
सामर्थ्यमौचिती देश:कालो व्यक्ति:स्वरादय: ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव: ।। वाक्यपदीय

६- अनेकार्थस्यशब्दस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रणे ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृत् व्यापृतिरंजनम् ।। काव्यप्रकाश २।१६

इसमें कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है । प्रकरणिक होने के कारण राजपरक अर्थ की ही प्रथम प्रतीति होती है । यही वाच्य अर्थ है । इसके अनन्तर प्रतीत होने वाला गजपरक अर्थ व्यंजनाव्यापार के द्वारा बोधित होगा क्योंकि प्रकरणपश्चात् अभिधा का नियमन तो राजपरक अर्थ में ही हुआ और एक अर्थ के देने के बाद अभिधा पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती । यदि यहां पर प्रकरण ज्ञात रहता तो अभिधा अनियन्त्रित ही रहती फलतः दोनों ही अर्थ वाच्य हो जाते और इस प्रकार यह श्लेष अलंकार का विषय हो जाता । इसिलएनये रूप अप्राकरणिक व्यंग्य अर्थ की प्राकरणिक राजपरक वाच्य अर्थ के साथ असम्बद्धता के निरूपणार्थ दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है । फलतः यहां पर उपमा अलंकार भी व्यंग्य होगा ।

आचार्य मम्मट शाब्दी व्यंजना की परिभाषा में शब्द की अनेकार्थता तो स्वीकार करते हैं किन्तु शब्दश्लेष के प्रसंग में वाच्यभेद के कारण शब्दभिन्नता ही मानते हैं । एक शब्द के अनेक वाच्यार्थ नहीं स्वीकार करते । वहां पर 'अर्थभेदेन - शब्दभेदः' इस मत के पोषक बन जाते हैं । उनके इन दोनों मतों पर परस्पर विरोध पड़ता है । अतः 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्वपक्षी 'मुद्रात्मन:' आदि उपमाध्वनि के स्थलों में यह शंका उठा सकता है - 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इस न्याय से यहां पर भी दो वाचक शब्द माने जांय । एक शब्द के द्वारा राजा वाले अर्थ का अभिधान होने पर अभिधा का नियमन हो गया तदनन्तर दूसरे शब्द से दूसरे हाथी वाले अर्थ का बोध हो जाएगा क्योंकि दूसरे शब्द की अभिधा का तो नियमन हुआ नहीं, इसलिए व्यंजना नामक वृत्त्यन्तर की कल्पना ठीक नहीं है । इस शंका का समाधान विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाशदर्पण' में किया है । वे कहते हैं कि 'यदि यहां पर शब्दभेद की कल्पना करोगे तो मुख्य अर्थ की प्रथम प्रतीति कैसे होगी, क्योंकि दोनों ही अर्थों को अभिधेय मानने पर दोनों की समकक्षता हो जाएगी और उनमें पूर्वपश्चाद्भाव की नियामता असम्भव हो जाएगी । अतः दूसरे अर्थ को वाच्य न मान कर व्यंग्य मानना ही ठीक होगा और द्वितीय अर्थ के बोधन के लिए एक दूसरे वाचक शब्द की कल्पना करने की अपेक्षा उसी शब्द में

व्यापारान्तर की ही कल्पना करना श्रेयस्कर होगा[1]। वस्तुतः यहां पर पर्यायोक्त उपमा अलंकार व्यंग्य है। 'नव' विषयक अर्थ को ही पर्यायोक्त व्यंग्य मानने में एक आपत्ति है, वह यह कि दोनों अर्थों की परस्पर असम्बद्ध रूप से प्रतीति होने पर वाक्य में असंगति हो जायगी। इसी लिए आचार्य आनन्दवर्धन वस्तुत्व की प्रतीति को ध्वनि का विषय न मान कर केवल रसेत्व का ही विषय मानते हैं। वे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहीं पर मानते हैं जहां कि शब्द सामर्थ्य से अलंकारान्तर आक्षिप्त हो, वस्तु मात्र नहीं[2]। आचार्य मम्मट का इस विषय में ध्वनिकार से मतभेद दिखाई देता है क्योंकि वे शब्दशक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य को भी स्वीकार करते हैं और निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

पंथिआ जा एत्थ छप्पअवत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअपओहरं पेच्छिऊण वण वसहि ता वससु॥
अत्र वसनोपयोगसामोऽपि तदा आस्वेति व्यज्यते॥ (का०प्र० पृ० २३३)

शब्द शक्तिमूलक वस्तुव्यंग्य के भी स्वीकर्ता होने के कारण मम्मट के अनुसार 'पद्मात्पत्रः' इत्यादि श्लोक में अप्राकरणिक गमयितव्य अर्थ को आनुषंगिक रूप से वस्तुव्यंग्य मान सकते हैं किन्तु पर्यायोक्त व्यंग्य तो उपमा ही है। वस्तुतः मम्मट यहां पर गमयितव्य अर्थ को व्यंग्य रूप ही मानते हैं। ध्वनित्वेन परीक्षण करने पर तो यह भी उपमा अलंकार व्यंग्य का ही उदाहरण होगा, वस्तु व्यंग्य का नहीं, क्योंकि यहां पर व्यंग्य रूप गमयितव्य अर्थ की प्राधान्येन विवक्षा नहीं है। कवि का मुख्य उद्देश्य यहां नव की प्रतीति कराना नहीं है, अपितु उपमानोपमेयभाव की प्रतीति ही उसका प्रधान लक्ष्य है। प्रधान व्यंग्य को ही ध्वनि कहते हैं अतः यहां अलंकारव्यंग्य है, वस्तुव्यंग्य नहीं।

१- काव्यप्रकाशदर्पण : वा० वी० पृ० ६६

२- आक्षिप्तत्व स्वालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्नुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥ ध्व० २।२९
यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्यार्थं विवक्षितं वस्तुन्यपि च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने रसेत्यः-ध्व०लो० -२३५

३- ध्वनि-सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं पृ० ७८-८२

पंडितराज जगन्नाथ नियन्त्रितप्राकरणिक अर्थ वाले नानार्थक शब्दों के स्थल में अप्राकरणिक अर्थ को व्यंजनागम्य नहीं मानते । इस विषय में उन्होंने 'रस-गंगाधर' के द्वितीय आनन के आरम्भ में ही पर्याप्त विवेचन कर मम्मटादि आचार्यों के मत का खण्डन किया है और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं -

'तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यंजनेति प्राचां सिद्धान्तः तिष्ठतु स्व । प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोरेकस्मायां तु सा क्वचित्स्वादपीत्यत्रास्माकं प्रतिभाति'[१] ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्दशक्तिमूलक वस्तु व्यंग्य अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ के लिए एक नई उद्भावना की है । उनकी दृष्टि में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यंजना-व्यापार से उन्हीं स्थलों पर होगी जहां पर योगरूढ शब्दों के प्रयोगों में अभिधा के द्वारा रूढ़ अर्थ निकलेगा तथा यौगिक अर्थ के लिए अभिधा के असामर्थ्य के कारण व्यंजनावृत्ति का ही आश्रय लेना पड़ेगा । इसके वे निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहाम्बिकाम् ।
तिष्ठन्ति पवना यत्र स काल: समुपस्थित: ।।

यहां पर पवना, अबला तथा वारिवाह योगरूढ शब्द हैं । इनका अभिधेयार्थ क्रमश: 'विष्णु, स्त्री तथा मेघ' है । प्राकरणिक अर्थ के निष्पन्न होने के अनन्तर एक दूसरा अर्थ भी आकांक्षा रखता है जिस दूसरे अर्थ में उक्त शब्दों का क्रमश: 'पुंश्चली, अक्षमत: तथा कामातुर पुरुष' यह अर्थ निकलता है । अब यदि कोई कहे कि इन दूसरे अर्थों को भी अभिधेय मान लिया जाय तो यह असम्भव है क्योंकि अभिधा तो रूढ़ अर्थ को ही देगी -'योगाद्रूढिर्बलीयसी' - इस न्याय के अनुसार । अत: इन दूसरे यौगिक अर्थों का बोध कराने के लिए 'व्यंजना' के अतिरिक्त अन्य कोई गति ही नहीं है ।

पण्डित राज की इस मौलिक उद्भावना के कारण आनन्दवर्धन तथा मम्मट इन दोनों आचार्यों की मर्यादाओं का कथंचित् निर्वाह हो जाता है । आनन्द-वर्धन ने नानार्थक शब्दों के स्थल में अभिधा के नियन्त्रण की कहीं पर भी चर्चा नहीं की, अत: पण्डितराज ने इस शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य के सम्बन्ध में भी अभिधा के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि इन्हें यह नहीं

१- रसगंगाधर, द्वितीय आनन

कह सकते कि अभिधा तो वपला शब्द का बिजुरी अर्थ देकर निवृत्त हो जायी, इसलिए दूसरा 'पुंश्चली' वाला अर्थ नहीं दे सकती, कारण कि अभिधा के द्वारा तो वपला का इस प्रसंग में बिजुरी अर्थ ही निकलेगा क्योंकि उस अर्थ में शब्द रूढ़ है। यदि 'पुंश्चली' इस यौगिक अर्थ को भी अभिधेय माना जाय तो फिर 'कंस का सेवार' (सेवाल) अर्थ भी अभिधेय ही मानना पड़ेगा। अभिधा के नियमन वाले सिद्धान्त के विरोधी लोग अभिधा का पुनर्जन्म भी मान लेंगे अतः अभिधा नियमन की चर्चा ही न की जाय 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखाः'। योगरूढ़ शब्दों के स्थल में वस्तुव्यंग्यता मान कर मम्मट के मत का समर्थन सा हो गया, यद्यपि इस संबंध में दोनों के सिद्धान्त में मौलिक भेद है।

पण्डितराज का शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य का सिद्धान्त आपातत: ठीक लगता है। किन्तु इसका लोचनकार के सिद्धान्त से आत्यन्तिक विरोध पड़ता है। लोचनकार प्रकरणादि को इतना बलवान् तात्पर्य निर्णायक मानते हैं कि उसके कारण कहीं-कहीं 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' इस न्याय का अपकरण भी हो जाता है। जैसे ग्रीष्मऋतु के वर्णन के प्रकरण में आए हुए 'महाकाल' शब्द का 'महान् चासौ कालश्च' इस व्युत्पत्ति से निकाला यौगिक अर्थ ही अभिधेय मानना पड़ता है और जो इसका योगरूढ अर्थ है 'शंकर', उसे अभिधेय न मानकर व्यंग्य ही मानना पड़ता है।

शाब्दी व्यंजना -

शाब्दी व्यंजना की मम्मट ने यह परिभाषा दी है :-

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥[१]

वक्ता तथा बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभावान् सहृदय जनों को वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाले अर्थव्यापार को व्यंजना कहते हैं।

१- काव्यप्रकाश, २।२२

आचार्य मम्मट ने व्यंजना के दो मुख्य सहकारितत्वों अथवा प्रयोजकों का स्पष्ट निर्देश किया है। वे दो सहकारी हैं - विषय की दृष्टि से वक्ता आदि का वैशिष्ट्य तथा प्रतिपत्ता की दृष्टि से प्रतिभा की अपेक्षा। व्यंग्यार्थ की प्रतीति केवल प्रतिभावान् प्रतिपत्ता को ही होती है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि व्यंग्यार्थ तो केवल काव्यतत्त्व द्वारा ही जाना जा सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में व्यंजनाशक्ति प्रतिपत्तृप्रतिभा सहाया[१] है। वक्ता आदि की विलक्षणता का ज्ञान भी व्यंजना का मुख्य प्रयोजक है। मम्मट ने केवल आर्थी व्यंजना में ही वक्ता आदिवैशिष्ट्य को सहकारी माना है। शाब्दी व्यंजना में उसकी अनपेक्षित हो, यह बात नहीं है, क्योंकि भोजन के प्रकरण में कहे गए 'घृतमिमांसं भवान् भुंक्ते' इस वाक्य से जो 'गोमांसभक्षणात्मक' द्वितीय अर्थ की व्यंजना हो रही है उसमें वक्ता का वैशिष्ट्य भी प्रयोजक है। मम्मट के द्वारा दिए गए शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य के निम्नलिखित उदाहरण में वस्तुवैचित्र्य का वैशिष्ट्य व्यंजना में सहायक है -

पंथिय ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
[२]
उण्णअपओहरं पेच्छिऊण जइ वससि ता वससु॥

अर्थात् पथिक! इस कंकरीले ग्राम (पिछड़ी बस्ती) में बिछौना (शास्त्र) नहीं है, उठे पयोधर को देख कर यदि रहना चाहते हो तो रहो। यहां यदि 'उपमानधर्मोऽपि तथा भास्वर' इस व्यंग्य की प्रतीति तो उसी व्यक्ति को होगी जिसने इस उक्ति की वक्ता स्त्री के पुष्टतत्व और दुःशीलत्व का तथा इसके वैचित्र्य वश के प्रफुल्लदनांकुरत्व वाले भाव का ठीक-ठीक अवधारण कर लिया हो।

शाब्दी व्यंजना के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहां पर वक्ता आदि वैशिष्ट्य का व्यंजना में कोई सहायक नहीं होता जैसे - 'मद्भाग्यम्' इत्यादि श्लोक में।

१-(१) शब्दशक्तिमूलोपस्थितार्थविशेषमूलत्वात्तत्प्रतिभाख्यविशिष्टप्रतिपत्तृप्रतिभा-सहायार्थावगमनशक्तिव्यञ्जनव्यापारः - लो० पृ० ६२-६३

(२) प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं श्रवणाभिधीयमानस्य प्राणत्वेनोक्तम् - लो० पृ०६३

२- काव्यप्रकाश पृ० १५०

वस्तुत: आर्थीव्यंजना में जो रमणीयता है वह विशुद्ध शाब्दी व्यंजना में नहीं मिलती। 'पद्मात्पत्र:' आदि विशुद्ध शाब्दी व्यंजनाओं में प्रत्येक शब्द के व्यंग्य संकेत के लिए अभिधानकोशों का ज्ञान प्रतिपत्ता के लिए परम आवश्यक है। इनके बिना अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति असम्भव है। कवि को भी ऐसे व्यंजक शब्दों की योजना में पृथक् प्रयास करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति उतनी सुलभ नहीं होती जितनी की आर्थी व्यंजनाओं में होती है। और जब तत्त्वावधारिणी बुद्धि में व्यंग्य अर्थ का झटिति अवभासन नहीं हो तो उसका चमत्कार कम हो ही जाता है क्योंकि व्यंग्यार्थ को तो तुरन्त भासित होना चाहिए। जब प्रतिपत्ता को अभिधानकोश का ज्ञान अपेक्षित ही है तो फिर उनके लिए यह व्यंजक शब्द भी संकेतसहाय वाचक शब्द के तुल्य ही तो हुआ। सम्भवत: इसी वस्तुस्थिति का विचार कर पण्डितराज तथा अप्पयदीक्षित आदि कुछ आचार्यों ने ऐसे उदाहरणों का श्लेष-अलंकार में ही अन्तर्भाव किया है क्योंकि यहां विशेष्य अर्थ को देने में भी संकेतसहाया अभिधाशक्ति ही प्रतिपन्न होकर समर्थ होती है। हां, ऐसे स्थलों में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव में रमणीयता अवश्य है। अत: इस अलंकारांश की व्यंग्यता को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।[१]

ध्वनिकाव्य भेद -

इस तथ्य का पहले उल्लेख किया जा चुका है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि-भेदों की निश्चित संख्या नहीं बताई है। किन्तु अभिनवगुप्त ने ध्वनि भेदों की गणना करके इनकी संख्या ५१२० मानी है।[२] अभिनवगुप्त ने ध्वनि-भेद

१- ध्वनि सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएं पृ० ८५-८८

२- अभिनवगुप्त ने ध्वनिभेदों की संख्या ५१२० मानी है उसमें त्रुटि है- लोचनकार जितने ध्वनि के भेद (३५) मानते हैं उतने ही गुणीभूतव्यंग्य के भी (३५)। अलंकारों के अनन्त होने के कारण 'अलंकारत्वावच्छिन्न' ध्वनि का एक ही भेद मानते हैं। इस प्रकार कुल ७९ भेद हुए। अब इनकी त्रिविध संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि के साथ योजना होने के कारण ४ से गुणा करने पर २८४ भेद निकलते हैं। इन २८४ संकीर्ण भेदों की कुल ३५ भेदों के साथ भी योजना होने के कारण गुणनफल २८४ X ३५ = ९९४० आता है (लो०पृ०५०१-५०२) किन्तु इस गुणनफल को लोचनकार त्रुटिवशात् ५१२० मानते हैं -

गणना की जो परम्परा चलाई, उसे परवर्ती सभी आचार्यों ने आत्मसात् कर लिया और अपने-अपने मतानुसार ध्वनि भेदों की संख्या का निर्देश किया ।

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के ५१ कुल भेद माने हैं । इस तरह लोचनकार से मम्मट ने १६ भेद अधिक बताए हैं । अविवक्षितवाच्य के भेदों में तो आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट में समानता है । [illegible] केवल विवक्षितान्यपरवाच्य के भेदों की गणना में ही अन्तर है । मम्मट ने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के ७ भेद माने हैं- पद, वाक्य, पदैकदेश, रचना, वर्ण तथा प्रबन्ध जब कि लोचनकार पदैकदेश को भिन्न न मानने के कारण ५ ही भेद मानते हैं । इस प्रकार मम्मट के अनुसार २ भेद अधिक होता है । पदैकदेश का निर्देश तो ध्वनिकार ने पदादिषु में आए हुए 'आदि' पद के द्वारा ही कर दिया था और लोचनकार ने भी 'आदि' पद के द्वारा पदैकदेश पदद्वितय का ग्रहण करना ही अभीष्ट बताया, किन्तु ध्वनिभेद करते समय पद में ही पदैकदेश पदद्वितयादि का अन्तर्भाव मान लिया । अतः आनन्दवर्धन तथा लोचनकार के अनुसार 'पद' पदैकदेश पदद्वितय आदि का उपलक्षण माना गया । मम्मट ने पद से पदैकदेश को अलग पृथक् करके असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में एक भेद की वृद्धि कर दी । मम्मट ने शब्दशक्तिमूल में वस्तुव्यंग्य को माना और उसके भी पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य होने पर दो भेद माने हैं । इस प्रकार लोचनकार तथा आनन्दवर्धन की अपेक्षा मम्मट के शब्दशक्तिमूल में दो भेद अधिक हुए । अर्थशक्तिमूल में पदप्रकाश्यता तथा वाक्यप्रकाश्यता के अतिरिक्त प्रबन्धप्रकाश्यता को मान कर मम्मट ने १२ भेदों की वृद्धि की है । प्रबन्धप्रकाश्यता मानने के नाते मम्मट आनन्दवर्धन के ही सच्चे अनुयायी हैं, लोचनकार के नहीं, क्योंकि लोचनकार अर्थशक्तिमूल के उपभेदों में प्रबन्धप्रकाश्यता को स्वीकार नहीं करते । किन्तु आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल में भी प्रबन्धप्रकाश्यता स्वीकार करते हैं जब कि मम्मट शब्दशक्तिमूल में केवल वाक्य तथा पदप्रकाश्यता ही मानते हैं । लोचनकार भी यही मानते हैं । मम्मट ने शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अतिरिक्त शब्दार्थोभयशक्तिमूल नाम का एक नया भेद गिना कर १ भेद की वृद्धि की है । इस प्रकार

१-भेदास्तदेकदेशादेः- का०प्र० १८१

२- यत्र्यञ्जकक्रमव्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु-ध्व० पृ० २०२
आदि शब्देन पदैकदेश पदद्वितयादीनां ग्रहणम्- लो० पृ०२०३

३- शब्दार्थोभयशक्तेः - का०प्र० १४६ । आचार्य मम्मट को शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि को मानने की प्रेरणा ध्वन्यालोककार के इस वाक्य से मिली है - शब्दशक्त्या अर्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाभिधीयोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते - ध्व० पृ० २४२ ।

मम्मट ने लोचनकार से कुछ १६ भेद अधिक मानकर ध्वनि के ५१ भेद बताए हैं ।

इन ५१ भेदों के परस्पर मिश्रित होने पर ५१ + ५१= २६०१ भेद होते हैं । तदनन्तर इनकी योजना विविध संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि के साथ होने पर २६०१ × ४ = १०४०४ भेद होते हैं । अब इन संकर तथा संसृष्टिजन्य ध्वनि भेदों के साथ ५१ शुद्ध ध्वनि भेदों को जोड़ने पर १०४०४+५१= १०४५५ ध्वनिभेद हो जाते हैं।[१]

एकावलीकार विद्याधर ने अविवक्षितवाच्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के भेदों की गणना में मम्मट का ही अनुकरण किया है । अन्तर केवल इतना है कि अर्थ-शक्तिमूल के ३६ भेद गिनाने के अनन्तर प्रबन्धगत ११ प्रकार के अन्य भेदों का भी निर्देश किया है ।[२]

असंलक्ष्यक्रम रसादि ध्वनि के ८ प्रकार माने हैं - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, और भावशबलता ।[३] इस प्रकार से रसादिध्वनि के भेदों की गणना मम्मटादि किसी आचार्य ने नहीं की है अपितु पदप्रकाश्यता, वाक्यप्रकाश्यता, रचनाप्रकाश्यता के आधार पर ही की गई है । रसादि ध्वनि की पदप्रकाश्यता आदि के विषय में एकावलीकार मौन हैं । उनके ध्वनि भेदों का संक्षिप्त आकलन इस प्रकार है -

४ अविवक्षितवाच्य + ८ असंलक्ष्यक्रमध्वनि + ३६ अर्थशक्तिमूल + ४ शब्दशक्तिमूल + १ उभयशक्तिमूल = ५३ भेद ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुकरण किया है ।उन्होंने भी शुद्ध ध्वनि के ५१ भेद माने हैं ।[४]

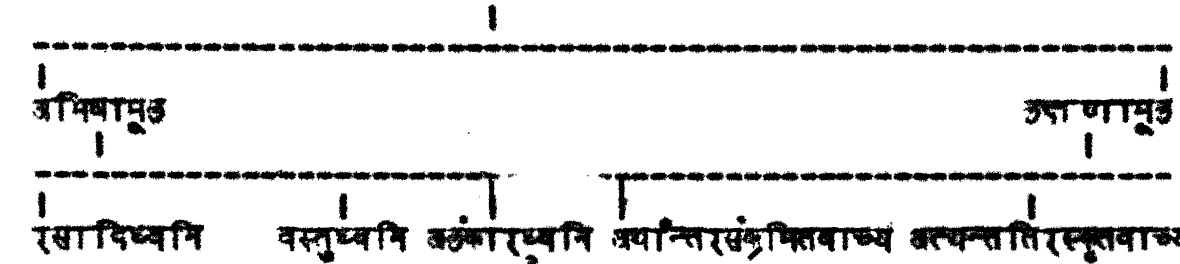
१- तेषां वाच्यान्यत्वभेदे संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया भेदेष्वभिधीयमानेष्वेते (१०४०४) शुद्ध भेदैः सह - शरेष्वृतुरसेन्दवः(१०४५५) - काव्यप्रकाश: - पृ. १८७

२- एवमपरोऽप्यर्थशक्तिमूलस्य ध्वनेरेकादशप्रबन्धप्रकाश्यभेदाः प्रबन्धान्तरेषु दृष्टव्याः- एकावली पृ० १२८

३- अस्य रसभावरसाभासभावाभासभावशान्तिभावोदयभावसन्धिभावशबलत्वरूपयाष्ट प्रकाराः - एकावली पृ० ८६

४- तदेवमेकपंचाशद् भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः - साहित्यदर्पण ४।११

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर के प्रथम आनन में उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य को असंख्य भेदों वाला माना है[१], किन्तु सामान्यतः उनके पांच भेद मानते हैं[२]।



प्रथम आनन में रसादि ध्वनि का ही सांगोपांग विवेचन किया गया है। द्वितीय आनन में रसादि के अतिरिक्त शेष सभी अविवक्षित ध्वनियों का भेदप्रतिपादन संलक्ष्यक्रमध्वनि के अन्तर्गत किया गया है। यहां पर रसादि का केवल वर्ण, पद आदि की व्यंजकता के नाते निर्देश किया गया है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अनन्तर उत्तमोत्तम ध्वनि के भेदों का विचार किया गया है।

ध्वनि भेद के सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ, आनन्दवर्धन तथा मम्मट दोनों से प्रभावित हैं। आनन्दवर्धन के ही अनुकरण पर उन्होंने कविप्रौढोक्ति तथा स्वतःसंभवी इन दो प्रकार के व्यंजक कर्मों को ही स्वीकार किया। कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति का कविप्रौढोक्ति में ही अन्तर्भाव कर[३] लिया है। शब्दशक्तिमूल में वस्तुव्यंग्य को स्वीकार कर मम्मट का ही अनुवर्तन किया है[४]।

१,२- तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते तानेव-ध्वनिसामान्यभेदान् निरूपयति -
द्विविधः ध्वनिः, अविवक्षितो उत्तमोत्तमश्च। तत्राद्यस्त्रिविधः - रसवस्त्व-लंकारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरित्यत्रासंलक्ष्यक्रमोत्तमोत्तमाणात् रस-भाव-तदाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानाम् ग्रहणम्। द्वितीयश्च द्विविधः -अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च। एवं पंचात्मके ध्वनौ परम-रमणीयता रसध्वनेरतवात्मा। रसगंगाधर-पृष्ठ ८५-८६

३- पण्डितराज जगन्नाथ ने वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसध्वनि - इस प्रकार का प्रयोग अभिनवगुप्त से प्रभावित होकर किया है। यदि वस्तुव्यंग्य, अलंकारव्यंग्य एवं रसव्यंग्य इस प्रकार कहते हैं तो अधिक उपयुक्त होता।

४- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय: उनकी मान्यताएं - पृ० १५७-२७४

काव्यभेद-

आनन्दवर्धन ने सभी दृष्टियों से मीमांसा कर व्यंग्य अर्थ की प्रधान तथा गौण दो प्रकार की स्थितियों के अनुसार क्रमशः काव्य के दो प्रकार निरूपित किए - ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य । इन दो के अतिरिक्त चित्रकाव्य को उन्होंने वस्तुतः काव्य माना ही नहीं । उसे काव्यानुकृति अथवा काव्याभास मात्र कह कर छोड़ दिया । इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन का ही अनुकरण किया, कोई नई उद्भावना नहीं की है ।

आचार्य मम्मट ने काव्य की तीन कोटियां मानी हैं । ध्वनिकाव्य को उत्तम, गुणीभूतव्यंग्य को मध्यम तथा चित्र को अवर(अधम) काव्य कहा है । परवर्ती सभी आचार्यों ने काव्यभेद निरूपण काव्य-प्रकाश के ही आधार पर किया है । किन्तु विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ इस विषय में कुछ वैमत्य रखते हैं ।

विश्वनाथ काव्य के दो भेद स्वीकार करते हैं - ध्वनि काव्य और गुणीभूत-व्यंग्यकाव्य । वे चित्रकाव्य की गणना काव्य कोटि में नहीं करते । इस विषय में वे आनन्दवर्धन का ही अनुकरण करते हैं । क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य को व्यंग्य रहित होने के कारण काव्यानुकृति मात्र माना है, काव्य नहीं ।

पण्डितराज जगन्नाथ काव्य के चार भेद करते हैं - उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम । उनके उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण ध्वनि काव्य के उदाहरण से साम्य रखता है । उत्तम काव्य ध्वनिकार सम्मत गुणीभूतव्यंग्य से साम्य रखता हुआ भी उससे कुछ भिन्न है । साम्य भेद इस कारण है कि दोनों (उत्तम काव्य और गुणी-भूतव्यंग्य) में व्यंग्य वाच्य की अपेक्षा अप्रधान रहता हुआ , वाच्य का उत्कर्ष-

---

१- इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः । काव्यप्रकाश १।४

अतादृशी गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम् ।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ।। वही १।५ पृ० ३१-३२

२- काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम् - साहित्यदर्पण ४।१

३- तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा - रसगंगाधर पृ० ३६

४- शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ काव्यस्यैमिव्यंतस्तदाहुः - वही पृ० ३६

५- यत्र व्यंग्यप्रधानमेव शब्दमात्रकारकारणं तदुक्तिरीक्ष् - वही पृ० ६६

उत्कर्षाधायक होने के कारण वाहत्व हेतु बनता है । भिन्नता स्वाभाविक है क्योंकि ध्वनिकार ने वाच्य तथा व्यंग्य के अप्राधान्य होने पर अथवा संदिग्ध-प्राधान्य होने पर भी गुणीभूतव्यंग्यता मानी है । किन्तु रसगंगाधरकार उत्तम काव्य में केवल व्यंग्य का अप्राधान्य मानते हैं, न संदिग्धप्राधान्य और न तुल्यप्राधान्य । इस कारण पण्डितराज का उत्तमकाव्य गुणीभूतव्यंग्य काव्य के समकक्ष नहीं ठहरता ।

काव्य का तृतीय भेद मध्यम काव्य है । जहां पर व्यंग्य का चमत्कार वाच्य-चमत्कार से असामानाधिकरण[१] हो, वह मध्यम काव्य है । असामानाधिकरण का अर्थ है -'अस्फुटतया बोध्य'[२]। अतः सीधा अर्थ यह हुआ कि मध्यम काव्य वह है जहां व्यंग्य का चमत्कार अस्फुट हो और वाच्य का चमत्कार उत्कृष्ट हो । इस प्रकार पण्डितराज के उत्तम तथा मध्यम दोनों काव्य-प्रकार मिलकर गुणीभूतव्यंग्य की बराबरी करते हैं ।

काव्य का चतुर्थ भेद अधम काव्य माना गया है । जहां पर शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार उसका उपस्कारक हो, वह अधम काव्य है ।[३]

पण्डितराज जगन्नाथ को चतुर्विध काव्य-प्रकारों की प्रेरणा सम्भवतः पूर्ववर्ती आचार्य श्रीविष्णुपुर गोस्वामी से मिली हो क्योंकि उन्होंने भी अपने अलंकारकौस्तुभ में इसी प्रकार काव्यभेदों का उल्लेख किया है ।[४]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि व्याकरण, दर्शन साहित्य आदि शास्त्र में परस्पर कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है । अब एक शास्त्र दूसरे शास्त्र से अछूता नहीं रह पाता, कहीं न कहीं अपने से इतर शास्त्र का आश्रय ले ही लेता है, तब एक ही शास्त्र-परम्परा में लिखे गए ग्रन्थों का एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना रह सकना असंभव असम्भव है । जैसे साहित्यशास्त्र में ही व्यक्तिविवेक ,

---

१- यत्र व्यंग्यचमत्काराश्रयानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम् - रसगंगाधर पृ०७१

२- तदसामानाधिकरण्यं चास्फुटतया बोध्यम् - नागेश(मंजूषा) पृ० ७६

३- यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम् - रसगंगाधर,पृ०७८

४- अलंकार कौस्तुभ ।

मम्मट
कविकुलगुरु, विद्याधर, विश्वनाथ आदि आचार्य यह दावा नहीं कर सकते कि जो हमने कहा है वह किसी ने नहीं कहा है । सभी ने एक ही बात कही है अन्तरमात्र इतना है कि सब के प्रतिपादन की शैली भिन्न है । सौभाग्य से किसी आचार्य पर मनकती सरस्वती की ऐसी कृपा हो जाती है कि वह सर्वथा नूतन तथ्य खोज निकालता है, तदनन्तर अनेक आचार्य उसी पथ का अनुसरण करते हुए अपने-अपने ग्रन्थों की रचना करते हैं, अनुवदन मात्र करते हुए भी उन्हें पर्याप्त यश मिल जाता है । यथा- मनकती की कृपा से ही आचार्य आनन्दवर्धन ने अभूतपूर्व ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की । तदनन्तर उसका अनुवदन करने वाले सर्वप्रमुख आचार्य उन्हीं के टीकाकार अभिनवगुप्त हुए । उनके बाद - मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि सभी ने उसी तथ्य को मात्र दुहरा दिया है । एक ही कड़ी में जुड़े होने के कारण इन पर अपने-अपने पूर्ववर्ती आचार्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है ।

उपसंहार -

पूर्व विवेचित तथ्यों के आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि परवर्ती ध्वनि-सम्प्रदाय आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के लोचन से अधिक प्रभावित रहा है । अभिनवगुप्त ने कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा है ।उनकी दो साहित्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं - लोचन और अभिनवभारती - दोनों ही टीकाएं हैं, तथापि अभिनवगुप्त 'आचार्य' पद से अभिषिक्त हैं । यह अभिनवगुप्त की अपनी एक विशेषता है । अभिनवगुप्त ने दार्शनिक होते हुए भी साहित्य-कृतियों पर अपनी लेखनी उठाई और उसमें कुछ इस तरह डूबे भी हुए । किन्तु , उन्होंने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में जो गुप्त ढंग से परिवर्तन किए उससे आनन्दवर्धन का सरल एवं ऋजु सिद्धान्त भी इतना अधिक उलझ गया कि वह अध्येताओं के लिए दुर्गम दुर्ग बन गया। उस पर अभिनवगुप्त ने मुहर भी लगा दी - 'किं लोचनं विनाऽलोकं भाति' इत्यादि । निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यदि अभिनवगुप्त ने लोचन टीका नहीं लिखी होती तो 'ध्वन्यालोक' सहृदय जनों के लिए अधिक सरल, सुगम और ग्राह्य होता ।

---:o:---

परिशिष्ट

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोक-लोचन, अनु० पं० नन्दकिशोर पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५

: अभिनवभारती, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़ बड़ौदा, १९५६ (अभि० भा०) भाग-२, १९३४

: हिन्दी अभिनवभारती, अनु० आ० विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसन्धान, अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १९६०

: तन्त्रालोक, काश्मीर संस्कृत सीरीज़

: ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, काश्मीर संस्कृत सीरीज़ १९३८ (ई० प्र० वि० वि०)

अमरसिंह : अमरकोश, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, अनु० पं० नन्दकिशोर पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१

: ध्वन्यालोक, दीधिति टीका (चौ० सं० सि० द्वि० संस्करण १९५३)

: ध्वन्यालोक (ध्व०), लोचन (लो०) और बालप्रिया टीका सहित, काशी संस्कृत सीरीज़, १९५०

उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज : काव्यालंकारसारसंग्रह, एवं लघुवृत्ति की व्याख्या, व्याख्याकार- डा० रामसूर्ति त्रिपाठी (का० अ० सा० सं०), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९६६

कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मेघदूतम् और कुमारसम्भवम् ।

कविकर्णपुर-गोस्वामी : अलंकार कौस्तुभ, वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी १९२६

कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित, हिन्दी, अनु० आ० विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली १९५५

क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, १९३७

क्षेमराज : स्वच्छन्दतन्त्रम्, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

जगन्नाथ - पण्डितराज : रसगंगाधर, अनु० बदरीनाथ झा और मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५

दण्डी : काव्यादर्श - चौखम्बा संस्कृत सीरीज़

धनंजय, धनिक : दशरूपक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

नरेन्द्रप्रभसूरि : अलंकार महोदधि, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, १९४२

नागेश : मणिप्रकाश (रसगंगाधर की नागेश कृत व्याख्या)- काव्यमाला

भरत : नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, भाग-१, १९५६ भाग-२, १९३४

भर्तृहरि : वाक्यपदीय (वनारस)

भामह : काव्यालंकार , अनु० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा - परिषद्, पटना १९६२

मम्मट : काव्यप्रकाश, अनु० डा० विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, - वाराणसी (का०प्र०) ,१९६०

काव्यप्रकाश - बालबोधिनी सहित षष्ठ संस्करण

महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, अनु० डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन- वाराणसी,१९६४ ।

मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तिमातृका, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१९

रुय्यक : अलंकारसर्वस्व- संजीवनी, अनुवादक एवं संपादक- डा० रामचन्द्र - द्विवेदी- मोतीलाल बनारसीदास

राजशेखर : काव्य मीमांसा : हिन्दी अनु० केदारनाथ शर्मा, सारस्वत - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना,१९५४

रुद्रट : काव्यालंकार- निर्णय सागर प्रेस,बम्बई, १९२८

वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, १९२०

वाचस्पति मिश्र : सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, व्याख्याकार डा० राधाप्रसाद मिश्र प्रेस प्रकाशन , इलाहाबाद, १९६९

विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, विमला टीका, शालग्राम शास्त्री - मोतीलाल - बनारसीदास । (सा० द०)

काव्यप्रकाशदर्पण

विद्याधर : एकावली, श्रीमल्लिनाथसूरितरलत्वाटीव्याख्योता । बम्बई संस्कृत- सीरीज़, १९०३

हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, काव्यमाला १९०९ (का०नु०श०)

श्रीहर्ष : रत्नावली

योगसूत्र (यो०सू०) व्यासभाष्य सहित

हिन्दी

कान्तिचन्द्र-

पाण्डेय : स्वतन्त्रकलाशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी वि० सं० २०२४

कृष्णकुमार-

कृष्णकुमार-
शर्मा : ध्वनि सिद्धान्त का काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय और प्रभाव मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।

डा० कविता-
प्रसाद शुक्ल : वैभव परिशीलन
नगेन्द्र : रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९५४
निर्मला जैन : रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस - दिल्ली, १९६७
पी०वी०काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - मोतीलाल बनारसीदास
प्रेमस्वरूप गुप्त : रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ १९६२
चिन्मयी माहेश्वरी : रसगंगाधर का समीक्षात्मक अध्ययन
बलदेव उपाध्याय : संस्कृत आलोचना, हिन्दी समिति, शिक्षा - विभाग, सचिवालय, लखनऊ १९६१
: भारतीयवाङ्मयशास्त्र, नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, बोक - वाराणसी
मंजुला जायसवाल : कालिदास के काव्य में ध्वनि तत्व
रेवा प्रसाद त्रिवेदी : आनन्दवर्धन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७२
राजवंश सहाय हीरा : भारतीय साहित्य शास्त्र कोश
रामगोपाल -
भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत , भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, १९६७
सुरेशचन्द्र पाण्डेय : ध्वनि-सिद्धान्त और विरोधी-सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएँ
शिवनाथ पाण्डेय : ध्वनि सम्प्रदाय का विकास

English Books.

Oriental and Comparative Aesthetics.

Bhattacharya-Sivaprasad : Studies in Indian Poetics, Indian Studies Calcutta, 1964.

Chatterji J.C. : Kashmir Saivism (1914).

DE, S.K. : Sanskrit Poetics as a study of Aesthetics, Oxford University Press, Bombay, 1963.

: Some problems of Sanskrit Poetics, Calcutta Oriental Press, 1959.

Dwivedi, R.C. : Principles of Literary Criticism in Sanskrit Motilal Banarsidas, 1969.

Gnoli, Raniero : The Aesthetics Experience According to Abhinavagupta, Chowkhamba Publication, 1968. (A.E.A.A.)

Kane, P.V. : History of Sanskrit Poetics, Third revised edition, Motilal Banarsidas, Varanasi 1961.

Krishnamoorthy, K. : Anandavardhana's Dhvanyāloka or Theory of Suggestion In Poetry. Poona Oriental Book Agency, 1955.

: Essays In Sanskrit Criticism. Manohar Printing Press, Neelakanth Kripa Market, Dharwar.

: Dhvanyāloka And Its Critics. Kavyalaya Publishers, Mysore.

Masson, J.L. : Aesthetic rapture Vol.I.II.

and Poona, Deccan College. 1970

Patwardhan, M.V. : Śāntarasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics.

Pandey, K.C. : Indian Aesthetics, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1950.

: Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study. Chowkhamba, Varanasi, 1963.

Raghavan, V. : Bhoja's Sringara-Prakash, Punarvasu, Madras, 1963.

: The Number of Rasas, Adyar, Madras, 1940.

Sharma Mukunda-

Madhava : The Dhvani Theory In Sanskrit Poetics. Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi 1968.

Sankaran, A. : Some Aspects of Literary Criticism In Sanskrit, or The Theories of Rasa and Dhvani. Published by University of Madras, 1926. Second edition January 1973.

JOURNALS.

Allahabad Studies. University of Allahabad.

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Gangā Nāth Jha Research Institute, Allahabad. (J.G.N.J.R.I.)

Journal of The American Oriental Society. Vol.92.

———:0:———